महात्मा श्री निश्चलदास जी विरचित

# विचार सागर

विरल टिप्पण युक्त

प्रकाशक अनुवादक तथा टिप्पणादिकर्ता

**श्रीकबीरसिद्धान्तानुयायी स्वामीहनुमानदास**

} १९६३ {

महात्मा श्री निश्चलदास जी विरचित

# विचार-सागर

## विरल टिप्पण युक्त

प्रकाशक, अनुवादक तथा टिप्पणादिकर्ता

श्रीकबीरसिद्धान्तानुयायी

स्वामी हनुमानदास षट्शास्त्री

प्राप्तिस्थानम्—

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–१

१९६३

मूल्य ३–००

मुद्रक

सहदेव राम

श्री हरि प्रेस

बाग बरियार सिंह, वाराणसी

# संमतिः

पूर्वं खलु क्षीरसागरो भगवता स्वयमेव निवासाय स्वसंकल्पे न विनिर्मितः। क्षारसागरस्तु सगरापत्यानां सहस्रैर्महता श्रमेण विनिर्मित इति पुराणेषु प्रसिद्धम्। विचारसागरस्तु श्री निश्चलदासैकसंकल्पकल्पितो न कस्य सचेतसश्चेतसो गांभीर्यगुणेन विस्मयावहः।

तस्य च श्रीहनुमद्दासस्वामिनिर्मिता टिप्पणी च नौकायते पोतायते च। विचारसागरस्य माहात्म्यं सार्वभौममिति न प्रवेदनापेक्षम्। तत्र प्रागुक्तटिप्पणादिकं स्वामिनिर्मितं नूनं पाठकानामन्तस्तोषं जोषफलं जनयिष्यतीति समाशंसे।

एतस्य ग्रन्थस्य भूमिकाऽपि श्रीस्वामिनिर्मिता पदार्थसार्थसार्थकीकृतकलेवरा नव नवमरसरुचिरा चेतश्चमत्कारिणीत्यत्र विषये न विशयः कस्यापि दोषज्ञस्य भविष्यतीति संमन्ये।

पं० श्रीरघुनाथ शर्मा

वेदान्त विभागाध्यक्षः।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी। १२-६-६३

# ॥ सत्यं विजयतेतराम् ॥

## ॥ भूमिका ॥

अर्थादिकाः पुमर्थास्तु प्राप्यन्ते यत्कृपालवात् ।
विशुद्धा अप्रयत्नेन तं बन्दे परमं गुरुम् ॥ १ ॥
निर्गुणं निर्मलं रामं सच्चिदानन्दमव्ययम् ।
सर्वाधारं निराधारं निराकारं सदा भजे ॥ २ ॥
वेधो विष्णुमहेशाख्या यस्यांशा लोकपालकाः ।
आदिदेवं विशुद्धं तं परमं पावनं भजे ॥ ३ ॥
यस्य वीक्षणमात्रेण जायन्ते सर्वसृष्टयः ।
दृष्टयश्च कृपालेशात्तं वन्दे सर्वसाक्षिणम् ॥ ४ ॥
विविधेन प्रकारेण धर्मज्ञानविशोधनम् ।
विवेचनं सुतर्काद्यै र्विचारः कथ्यते बुधैः ॥ ५ ॥
सागरस्तस्य विस्तारो नानामतसमन्वितः ।
द्रष्टव्यः साधुभिः सम्यक् साध्व्या बुद्धया स्वसिद्धये ॥ ६ ॥

विशुद्ध अर्थादि रूप पुरुषार्थ जिनके कृपा लव से अल्प प्रयत्न द्वारा ही प्राप्त होते हैं, उस परम गुरु की बन्दना करता हूँ ॥ १ ॥ निर्गुण, निर्मल, सर्वाधार, निराधार, निराकार, निर्विकार और सचि-

दानन्द स्वरूप राम को सदा भजता हूँ ॥ २ ॥ ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामक, लोकपालक जिसके अंश हैं, उस पावन परम विशुद्ध सर्वादि देव को भजता हूं ॥ ३ ॥ जिसके वीक्षण ( संकल्प ) मात्र से सब संसार होता है, और जिसके कृपा लेश से सब ज्ञान होते हैं, उस सर्वसाक्षी की वन्दना करता हूँ ॥ ४ ॥ विविध प्रकार से धर्म और ज्ञान के विशेष शोधन को और सुन्दर तर्कादि के द्वारा उनके विवेचन को बुध लोग विचार कहते हैं। नानामत से युक्त जो उस विचार का विस्तार, सोई विचारसागर है। सो साधु पुरुषों से साध्वी ( विवेकवती ) बुद्धि द्वारा सम्यक् स्वसिद्धि के लिए द्रष्टव्य है ॥ ६ ॥

## ॥ विचारसागर का किञ्चिदालोचन ॥

विचारसागर में प्रथम दोहा से निर्गुण शुद्ध वस्तु ब्रह्मात्मा मात्र का मङ्गल के लिये निर्देश ( कथन ) किया गया है, सोई परम मङ्गल स्वरूप है। और सोई नामरूप ( सर्वशब्द और अर्थ ) का आधार है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म ही में शक्तिरूप से माया कल्पित ( आरोपित ) है, और माया से उपहित निर्गुण में ही नाम रूप कल्पित होते हैं, माया विशिष्ट में नहीं। अतः निर्गुण ही नाम रूप का आधार ( अधिष्ठान ) है , अतएव सो मैं शुद्ध अपार, इस प्रकार शुद्धता का सुखादि सबके साथ समन्वय सङ्गत होता है ॥ और इस दोहे में आनुपूर्वी क्रम से दो पद के द्वारा ब्रह्मात्मा के निर्दोष लक्षण होते हैं। परन्तु, जो सुख नित्य प्रकाश विभु, इस चरण में यदि मध्यगत प्रकाश पद को छोड़ कर ( नित्य विभु ) दो पद द्वारा लक्षण किया जाय, तो मातान्तर में 'नित्य विभु' माने गये आकाश काल दिशा आदि से अतिव्याप्ति ( अलक्ष्य में लक्षण की प्राप्ति ) रूप दोष हट नहीं सकता है। अतः आनुपूर्वी से दो दो पद द्वारा स्वरूप लक्षण में तात्पर्य है ॥ और नामरूप के आधार कहने से जैसे वृक्षाग्र

चन्द्रादि का तटस्थ लक्षण होता है, तैसे नाम रूप तटस्थ लक्षण शुद्ध ब्रह्म का सिद्ध होता है, नाम रूप से रहित ब्रह्म नाम रूप द्वारा समझा जाता है ॥ लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि ( बुद्धि-निश्चय ) होती है, अतः प्रथम लक्षण कहे गए हैं। प्रमाण श्रुति आदि हैं ॥

और ब्रह्मज्ञ ब्रह्म स्वरूप होता है, यह औपनिषद सिद्धान्त है। अतः स्वानुभूत ब्रह्मरूपता को ज्ञानी आचार्य ( ग्रन्थकर्ता ) कह सकता है कि ( सो मैं शुद्ध अपार ) इत्यादि। और जिस गुरुद्वारा स्वकीय ब्रह्मरूपता का अनुभव करता है, उस गुरु को भी ब्रह्मस्वरूप कह सकता है, परन्तु दिव्य गुण वाले देव मात्र होने से विष्णु महेशादि को ब्रह्म स्वरूप नहीं कह सकता है, क्योंकि उनकी ब्रह्म रूपता ज्ञानावस्था में उनके लिए प्रत्यक्ष हो सकती है, अन्य के लिए नहीं। किन्तु शास्त्र से उनकी विभूतियों के श्रवण से माया रूप वायु द्वारा सिद्ध तरंश स्वरूप ही सब विशिष्ट देव को कहा जा सकता है। अतः अपार निज स्वरूप में विष्णु आदि देव को तरङ्ग कहा गया है, उपमा दृष्टि से समुद्र तुल्य अपार यह अर्थ दोहा का हो सकता है, क्योंकि विशिष्ट साधन रहित के लिए जैसे किसी समुद्र के पार जाना असम्भव है, तैसे ही विवेकादि साधन सद्गुरु आदि के बिना संसार से परे निजात्म स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करना भी असम्भव है, क्योंकि जैसे तैरना जानता भी हो, तो समुद्र के तरंगों के मारे उसे तैर नहीं सकता है, न साधारण साधन से साधारण समुद्र को भी पार कर सकता है, तैसे ही संसार समुद्र में तथा ब्रह्म में देवादि तथा उनके भोग विलाश तरंग है संसार भी अपार समुद्र है, उससे परे शुद्ध ब्रह्म निजस्वरूप है, तहाँ शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ती को चाहने वाला भी इन ब्रह्मा आदि में ही मोहादि बश फँस जाता है, और स्वार्थपरायण देव भी चाहते हैं कि भोग लोलुप मनुष्य ब्रह्मज्ञ नहीं हों, सोई ठीक है, और मोह निवारण के लिए

देव नहीं सहायता करते हैं, सो श्रुति आदि में प्रसिद्ध है, परन्तु किसी प्रकार निष्काम स्वधर्म परायण होने से सब सहायक होते हैं, सो अन्यत्र प्रसिद्ध है, अतः देव स्मरणादि द्वारा मङ्गल की कामना को त्याग कर परम मङ्गल स्वरूप स्वात्म तत्त्व का अनुसंधान (चिन्तन) विचार सागर के आदि में किया गया है। फिर साधन सहित उत्तम मध्यम अधिकारी के लिए उपदेश के समाप्त होने पर, कनिष्ठ अधिकारी के उपदेश निरूपण प्रकरण में स्वर्ग नरकादि के निरूपण पूर्वक कल्पित संस्कृत ग्रन्थ के भाषा अनुवाद के आदि में निर्गुण तत्त्व के तथा श्री गणेश श्री विष्णु श्री शिव श्री सद्गुरु और वेदान्ताचार्य के क्रम से निर्देशाद्यात्मक मंगल किये गये हैं। क्योंकि वहाँ वैसा ही निर्देशादि होना उचित है, यतः सामान्य पुरुष के लिये वहाँ संस्कृत का अनुवाद है। और यहाँ स्वतन्त्र रचना उपदेश है, अतः यहाँ शुद्ध ब्रह्म १ विष्णु आदि देव २ और ईश्वर ३ इन तीनों को विभिन्न दर्शाया गया है, और एक ब्रह्म में देव तथा ईश्वर को (औपाधिक) मिथ्या भेद युक्त दर्शाया गया है। और राम शब्द तो वस्तुतः शुद्ध सर्वात्मा ब्रह्मात्मा का ही सन्त मत के अनुसार नाम है, अतः कहा गया है कि (काकूं करूं प्रणाम) अर्थात् सर्वात्मा राम चिन्तनीय है, क्योंकि नित्यानन्द स्वरूप होने से चिन्तन द्वारा व्यक्त होने पर वही जीवन्मुक्ति का सुख रूप परमानन्द रूप से भासता है। परन्तु भेद के अभाव से प्रणम्य नहीं है। (विषयानन्द संसार हैं, भजनाऽऽनन्द हरिदास। ब्रह्मानन्द जीवन मुकुत, भयो वासना नाश ॥१॥) कर्मादि द्वारा वह विभु परमानन्द ही संसारी को विषय सम्बन्धी आनन्द रूप से भासता है, हरि आदि देव के भक्तों को (ईश्वर भक्तों को) भजनानन्द रूप से भासता है, और अज्ञान मोह वासना कामादि के ज्ञान द्वारा निवृत्त होने पर वही जीवन्मुक्त को ब्रह्मानन्द रूप से भासता है। "मेरा अपार स्वरूप एक प्रकार का समुद्र है, जहाँ विष्णु महेशादि लहर हैं, दोहा

की इस योजना का भाव है कि—उन देव के मूल भूत जीवन्मुक्त से ज्ञेय आनन्द ही जल है ) श्रुति में आनन्द से ही सब प्राणी की उत्पत्ति कही गयी है। संसार में आनन्द की सत्यता आदि की भावना (वासना) से ही बार बार संसार में आते जाते हैं, तहाँ सात्त्विक कर्मादि से सात्त्विक भावना होती है कि जिससे देव भाव की प्राप्ति होती है, अतः कहा जाता है कि ( ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः ) सात्त्विक कर्मादि में स्थिर मनुष्य ऊर्ध्व ( भुवर्लोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त ) में प्राप्त होते हैं। कोई मनुष्य लोक में भी उत्तम पूज्य देव भाव को प्राप्त करके कुछ काल तक रहते हैं, परन्तु मनुष्य की अपेक्षा इनमें ज्ञानादि की शक्ति अवश्य ही कर्मादि के अनुसार अधिक हो जाती है। अतः स्मृत्ति भी इनकी विशिष्टता की दृष्टि से कहती है कि ( आत्मैव देवताः सर्वाः ) सब देव परमात्मा ( ईश्वर ) स्वरूप ही हैं। यद्यपि इस प्रकार देवताओं को दृष्टि विशेष से ईश्वर कहा गया गया है, तथापि ( अष्ट विकल्पो दैवः ) इत्यादि वचनों से आठ प्रकार ( ब्राह्म-प्राजापत्यादि ) देव सर्ग ( सृष्टि ) कहा गया है। तहाँ ( सृज्यत इति सर्गः ) किया जाय, जिसकी उत्पत्ति हो, सो कार्य सर्ग कहा जाता है। ईश्वर एक है, उसकी सृष्टि नहीं होती है, न उसके तुल्य वा उससे अधिक कोई है, न होता है। तो पाँच वा अनन्त देव स्वरूप ईश्वर को होना नहीं बन सकता है। विशिष्ट देवताओं में अधिकार विशेष की दृष्टि से उन्हें ईश्वर कहा गया है। सो भी उसके लिए कहा गया है कि जो एक सत्य ईश्वर को नहीं समझ सकता है, न उसकी उपासना भक्ति वा निजात्म स्वरूप से अनुभव कर सकता है, और स्वर्गादि में वर्णित देव सम्बन्धी भोगादि के लिए जो उत्सुक हैं। गीता में, देव, द्विज, गुरु, विद्वान् की पूजा और ब्रह्मचर्य अहिंसा को शारीरिक तप रूप कहा गया है, शारीरिक इन सात्त्विक सकाम तप आदि से देवादि भाव की प्राप्ति होती है। सृष्टि के आदि काल में जो ब्रह्मा विष्णु आदि देव भाव को

प्राप्त होते हैं, उनकी मानस (माया की वृत्ति रूप संकल्प से) सृष्टि होती है। सो प्रधान अधिकारी (जगन्नेता) होते हैं। उनके स्थूल देह के अभाव होने पर भी आतिवाहिक शरीर से वर्तमान रहते हैं। सात्त्विक देव होते भी अधिकार में कुछ गुण कृत भेद रहने के कारण इनमें राजसादि भेद माना जाता है। सो योग वासिष्ट में वर्णित है। और (विद्याधरोऽप्सरो यक्ष रक्षोगन्धर्व किन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः) इत्यादि कोशादि के अनुसार, विद्याधर १, अप्सरस २, यक्ष ३, रक्षस् ४, गन्धर्व ५, किन्नर ६, पिशाच ७, गुह्यक ८, सिद्ध ९, और भूत=प्रेत १०। ये दश प्रकार की देव योनि (देव जाति) होती हैं प्रायः इन सब योनियों की प्राप्ति मनुष्य जन्म (योनि) के बाद ही कर्मानुसार होती है। देव भावना पूर्वक जैसे उत्तम मध्यम कनिष्ठ देव को मनुष्य पूजते हैं, वा जिस योनि के अनुसार कर्म करते हैं, तैसी योनि को मनुष्य प्राप्त करते हैं, फिर अन्य अज्ञ मनुष्यों के पूज्य हो जाते हैं। गीता आदि में कहा गया है कि (भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्) भूत=प्रेत पूजक मर कर भूत को प्राप्त होते हैं, मुझे पूजने वाले मुझे प्राप्त करते हैं। भुतवक पुजले भुतवे होई, वस्तुतः (एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा) इत्यादि श्रुति के अनुसार, एक ही व्यापक सब प्राणी के अन्तरात्मा रूप सब प्राणी में छिपा हुवा देव (परम प्रकाश नित्य अखण्ड ज्ञानानन्द) है, जो सदा सबको प्राप्त होते भी अज्ञान मोहादि से ही अप्राप्त सा है, यथा शक्ति अहिंसा दया दान क्षमा सन्तोष सत्य ब्रह्मचर्यादि पूर्वक सर्वात्मा रूप से उसका चिन्तन ध्यान ही उसकी पूजा है, और उस पूजा से अन्तः करण के निर्मल होने पर उसका निजात्म स्वरूप से अनुभव ही उसकी प्राप्ति है, अन्य नहीं। अधिकारी रूप विष्णु महेशादि उत्तम देव वा उनके अवतारों की भी उक्त एक देव रूप से उपासना पूजा करने से निष्काम पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति होती है।

सकाम को उनके कल्पित स्वप्न तुल्य वा व्यावहारिक लोकों की सुख सम्पत्ति आदि की प्राप्ति होती है। भाव यह है कि श्रुति के अनुसार तो ब्रह्मलोक तक ऊपर के सात लोक हैं। उनसे अतिरिक्त वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक, अगमधाम, षड़ाननलोक, गणेशधाम, तप्तशिला, छपलोक दयाललोकादि, हैं। परन्तु तत् तत्सम्प्रदायों से ये सब कल्पित होते हैं, अतः विचार सागर में तो एक ब्रह्मलोक की ही उपासकों की बुद्धि के अनुसार भिन्न रूप से प्रतीति बताई गई है। परन्तु महान् अधिकारियों में तथा उनके अवतारों में अद्भुत् शक्ति होती है। इससे वे अपने भक्तों के लिए कल्पित लोकों को भी सिद्ध करते हैं, विशिष्ट अधिकारी परमात्मा के साथ अनुभूतैकत्व वाले होते हैं, अतएव सब अपने को एकेश्वर दृष्टि से ही अपने व्यष्टि स्वरूप को सबसे परे ईश्वर ब्रह्मादि कहते हैं, परन्तु व्यवहार अवस्था में आयकर शोक चिन्ता सुख दुःखादि का भोग भी करते हैं, क्योंकि सान्तःकरण सेन्द्रिय वे भी रहते हैं। परन्तु उनके उपासक शोकादि को लीलारूप समझते हैं। क्योंकि प्रतीकोपासना का यही स्वभाव है कि अन्य को किसी अन्य रूप समझा जाय इत्यादि ॥

**॥ यह भूमिकोप क्रम है ॥ आगे उपासनादि का विचार ॥**

सगुण को निर्गुण रूप से, परिच्छिन्न किसी व्यक्ति धाम नाम रूपादि का अपरिच्छिन्न विभु नित्य निर्गुणादि रूप से चिन्तन को शालग्राम में चतुर्भुज विष्णु के चिन्तन के समान प्रतीकोपासना कहते हैं। अथवा प्रणव में निर्गुण ब्रह्म के चिन्तन के समान सगुण में निर्गुण चिन्तन को निर्गुण उपासना ही कह सकते हैं, निर्गुण के ज्ञान नहीं कह सकते हैं, क्योंकि कहा है कि ( माया ह्येषा मया सृष्टा सन्मां पश्यसि नारद ! सर्वभूत गुणै र्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि ) जो मुझे साकार सगुण देख रहे हो, सो मुझसे मायात्मक कार्य रचा गया है, हे नारद ! आकाशादि सब भूतों के गुणों से

युक्त मैं जैसा दीख रहा हूँ, इस प्रकार आप विवेकी सन्त मुझे जानने के योग्य नहीं हो, किन्तु आप निर्गुण स्वरूप को जानने के योग्य हो यह भगवदुक्ति है। इस कथन से शाम्बरनटकृत माया तुल्य माया के कार्यत्व देवादि शरीरों में सिद्ध होता है तथा आकाशादि द्वारा ही माया के कार्यत्व सिद्ध होता है, क्योंकि आकाशादि तत्त्वों के बिना शब्द स्पर्शादि उन शरीरों में उपलब्ध नहीं हो सकते हैं। और जिन शरीरों से पुत्र पौत्रादि होते हैं, तथा भोजन पान शयनादि होते हैं, उन्हें साक्षात् माया मात्र रचित होना सम्भव नहीं है, किन्तु अद्भुत मायाशक्ति से अद्भुत भूतों द्वारा अवतारादि शरीरों की रचना कही जा सकती है। समर्थ रामदास जी कृत दासबोध के दशक १०, समास ३ में लिखा है कि ( संसार में असंख्य देव भूत आदि हैं, जो सब वायु स्वरूप कहे जाते हैं, सदा वायु रूप में रहते हैं। प्रसंग पड़ने पर अनेक प्रकार के शरीर धारण करते हैं, और गुप्त तथा प्रगट होते रहते हैं। आकाश से उत्पन्न वायु दो भाग में विभक्त है। एक तो साधारण वायु है, जिसे सब कोई जानते हैं दूसरा वह है। जो जगज्ज्योति रूप में रहता है, और उसी में अनन्त देव मूर्तियाँ हैं। ( समास ४ ) ब्रह्म में वायु के रूप में ( वायु तुल्य ) जो माया है, उसमें की चेतना ईश्वर है। जब उस ईश्वर में गुण आते हैं, तब गुणों के अनुसार ब्रह्मा बिष्णु महेश ये तीन भेद हो जाते हैं। दशक १५ समास ३। बहुत अधिक विवेकी होने ही के कारण लोग अवतारी कहलाते हैं। चक्रवर्ती मनु आदि भी इसी प्रकार अवतारी हुए हुए हैं ) इत्यादि ॥ इस प्रकार के ईश्वरता युक्त अधिकारी देवादि भी अद्वैत निष्ठा के बिना संसार भय से विमुक्त नहीं होते हैं, फिर अपने भक्त आदि को तो भय से विमुक्त कैसे कर सकते हैं। कथासरित्सागर में लिखा है कि ( अक्षीणदोषाद्विषमादिष्टानिष्टभयोज्झितात् । दुर्जनाद् बत देवा अप्यसक्ता इव बिभ्यति ) राग द्वेषादि

दोषयुक्त, इष्ट अनिष्ट के भय से रहित दुर्जन असुरादि से बड़े बड़े देव भी असमर्थ के समान भयभीत होते हैं, उसको उपदेशादि से अनुकूल नहीं कर सकते, परन्तु अद्वैत आत्मदर्शी ईश्वर भक्त असुर से भी भयभीत नहीं होते हैं। इसी तत्व को दर्शाने के लिए आत्मदर्शी परम भक्त श्री नारद जी के देव विरोधी असुरों के साथ गुरुशिष्यादि भाव से निर्भय सम्बन्ध पुराणादि में दर्शाया गया है ॥

दासबोध, दशक २० समास ३, में कहा गया है कि ( जब यह पता चल जाय कि माया मिथ्या है, तब फिर उसका भय क्यों किया जाय, माया के डर के कारण ही तो स्वरूप स्थिति नहीं होती है ) इत्यादि। और श्रुति में भी ( तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ) इत्यादि वचनों से उपासना आदि के लिये सब देव को ब्रह्म ईश्वर स्वरूप से वर्णन करके व्यावहारिक रूप में भिन्न भयादि का आश्रय कहा गया है कि ( भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ) इस ईश्वर के भय से ही अग्नि और सूर्य तपते प्रकाशते हैं, और इन्द्र तथा वायु भय से ही अपने अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं, तथा मृत्यु ( यमराज ) भय से सर्वत्र धावा करते हैं। इससे योग वासिष्ठ का कहना परम सत्य है कि

न देवः पुण्डरीकाक्षो न च देवस्त्रिलोचनः।
न देवः कमलोद्भूतो न देवस्त्रिदशेश्वरः ॥ १ ॥
न देवः पवनो नार्को नानलो न निशाकरः।
न ब्राह्मणो नावनिपो नाहं न त्वं द्विजोत्तम ! ॥ २ ॥
अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं देव उच्यते।
आकारादि परिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत्कुतः ॥ ३ ॥

विष्णु, शिव, ब्रह्मा, वा इन्द्र श्रुति कथित एक देव ( ईश्वर ) नहीं हैं ॥ १ ॥ न वायु, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, ब्राह्मण, राजा, मैं वा

तुम वह देव हैं, परन्तु हम सब देव कहाते हैं। उपास्य रूप से विष्णु पुरुषोत्तम (महापुरुष) अवश्य है, तथा शिव योगीश्वर हैं, ब्रह्मा-विधाता हैं, वायु प्राणेश्वर, सूर्यादि ज्योतिरीश्वरादि अवश्य है, परन्तु ये सब एक सत्य देव (ईश्वर) के अंश तदधीन है ॥ २ ॥ क्योंकि कार्यता से रहित, आदि अन्त रहित एक ही देवन (प्रकाश-सर्वज्ञ) सत्यदेव कहा जाता है। आकार, शक्ति, देश कालादि से परिच्छिन्न परिमित वस्तु में वह देवत्व कैसे हो सकता है। यह ईश्वरोक्ति है ॥ इसी से इनके अवतारों में भी एक देवत्व का अभाव सिद्ध होता है, तथापि अवतार सहित विष्णु आदि प्रमुख देव ईश्वर के सत्त्व में प्रमाण होते हैं इनकी उपासना भक्ति आदि से कल्पित ध्यात इनके स्वरूपों से ईश्वर अभिव्यक्त होता है, यही ईश्वर के सत्त्व में प्रमाण होता है यद्यपि बहुत विद्वान कहते हैं कि ईश्वर के सत्त्व में शास्त्रही प्रमाण है, तथापि शास्त्र तो ईश्वर के परोक्ष रूप से सत्त्व में ही प्रमाण हो सकता है, उपासना विचारादि जन्य निजानुभव ही वस्तुतः सर्वज्ञ और सर्वात्मा ईश्वर के लिए प्रमाण होता है। साक्षात् ईश्वर की सद् गुरु रूप से तथा किसी प्रमुख देव रूप से उपासना करने पर सर्वज्ञ ईश्वर प्रसन्न की नाई होकर अपने अनुभव की तथा ब्रह्माभिन्न निजात्मानुभव की योग्यता को तथा अनुभव को प्रदान करता है, अतः भगवान् व्यास ने उपासनाओं के ही लिए भिन्न भिन्न देवताओं का ईश्वर रूप से वर्णन पुराणों में किया हैं, वैदिक समय में भी ईश्वर स्वरूप एक देव का ही तत्तत् देव आदि रूप से यज्ञों द्वारा पूजन तथा उपासना किया जाता था। वैदिक उपासनाओं के छूटने पर पौराणिक उपासना चली, उसमें भी कलि के प्रभाव से अज्ञान मूलक राग द्वेषादि हो गये हैं। परन्तु उपासना में राग द्वेष नहीं कर्तव्य है, शुद्धाचरण, आर्यमर्यादा, स्वधर्म पूर्वक किसी देव की उपासना मनुष्य कर सकता है, परन्तु उपासना काल में भी कारण ब्रह्म, तथा निर्गुण ब्रह्म एक है, उपाधिकृत भेद है, सत्य ईश्वर

देव ब्रह्म अनेक नहीं हैं, जो इस शास्त्र सद्गुरु के उपदेश में श्रद्धा विश्वास ( निश्चय ) पूर्वक उपासना करता है, वह सत्यानुभव को प्राप्त करता है, अन्यथा कल्पित लोक विभूति आदि को उपासना के अनुसार प्राप्त करके फिर संसार में भ्रमता है, अतः उपासना के लिए भी अद्वैतात्म ज्ञानी गुरु से वेदादि सत् शास्त्र को पढ़ना चाहिए इत्यादि सदुपदेश में विचार सागर कर्ता का तात्पर्य है ॥

बहुत सन्त निर्गुण उपासना का अवलम्ब लेते हैं, गीता के अनुसार उसमें कठिनाई तो होती है। परन्तु जाति वर्ण गुणादि के अभिमानों को जो त्याग सके उस पूर्ण विवेकी सत्सङ्गी के लिए निर्गुण उपासना कठिन नहीं होती है। पूर्ण विवेक रहित कामी के लिए सर्वत्र कठिनाई होती है। और भेद भाव कभी नहीं छूटता है। परम भक्त महाकवि श्री तुलसी दासजी महाराज रहे, परन्तु काक भूसुण्ड के समान सगुण उपासना में विशेष आग्रह रहा, इससे लोक संग्रह के लिए श्री गणेश सरस्वती शिव पार्वती की वन्दना करते हुए, तथा ( सियाराम मय सब जग जानी ) इत्यादि कहते हुए भी श्री रामचन्द्र जी के वनवास काल में श्री जानकी जी के हरण होने पर, सती सहित श्री शिवजी जङ्गल में जाते हैं, तहाँ श्री शिवजी तो बट वृक्ष तर बैठ जाते हैं, और सती श्री राम जी की परीक्षा के लिए श्री सीता जी के रूप धरती है, तहाँ श्री रामचन्द्र जी तो सर्वज्ञ युक्त योगी ईश्वर होने के कारण ध्यानादि के बिना ही सती के कपट को जान जाते हैं, परन्तु भोलेनाथ श्री शिव जी उत्तम वैष्णव होते हुए भी आखिर हैं तो साधारण जीव ही, अतः प्रश्न ध्यानादि करने पर कठिनाई से सती के कपट को समझ पाते हैं, क्योंकि शिव जी महाराज युञ्जान योगी हैं। और ( युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ) युक्त योगी को सदा सब वस्तु यथार्थ रूप से भासती है, अपर ( युञ्जान ) योगी चिन्ता ( ध्यानादि युक्त ) हो कर सत्य समझता है। ऐसा होते भी लोक संग्रह

के लिए श्री राम जी से मान्य श्री शिव जी को मुक्ति दाता भी श्री राम जी की भक्ति की महिमा से कहते हैं। स्वतः नहीं। ऐसा हो भी सकता है, क्यों कि त्रिदेव परस्पर सहकृत होकर अपने अपने कार्यों में समर्थ होते हैं तीनों गुणों का स्वभाव है कि परस्पर न्यूनाधिक भाव से सम्बद्ध हो करके ही अपने अपने कार्यों के लिए समर्थ होते हैं, सो प्रक्रिया सांख्य में स्पष्ट है, त्रिवेद भी त्रिगुणोपाधिक स्वरूप वाले होते हैं, अतः त्रिपुरासुर के नाश के लिए सब देव शिव के शरण लेते हैं, तो रावण के नाश के लिए विष्णु के शरण लेते हैं, इत्यादि। और जंगल बास तक शिव जी की भार्या सती है, परन्तु श्री गोस्वामी जी जानकी जी से गिरजा पार्वती की पूजा कराते हैं। कि जो पार्वती न मालुम कि कितने हजार पर्ष के बाद हिमाचल के यहाँ पैदा होने वाली है, तहाँ सर्वत्र उनका इस तरफ ध्यान रहा कि सुर, देव, को अनादि समझ कर ऐसी शंका ही नहीं कर्तव्य है इत्यादि। परन्तु यहाँ सती ही दूसरे जन्म में तप करके फिर शिव को प्राप्त करने वाली है, वह अनादि पार्वती रूप में कहाँ है, तथापि लोक संग्रह ( विवाहादि में शिव पार्वती पूजनादि ) के लिए ऐसी रचना की गई है, तथापि शिव पार्वती में देव देवी भाव और राम जानकी में परब्रह्म अनादि ईश शक्ति भाव पूज्य गोस्वामी जी को सदा रहा। यही अन्य सगुण देवोपासकों की भावना अपने अपने इष्ट और अन्य विषयक अवश्य होती है, क्योंकि एसी उपासना एक प्रकार के पातिव्रत्य धर्म के समान होती है। पतिव्रता अपने पति से भिन्न में पुरुष दृष्टि नहीं करती है, तैसे उपासक अपने उपास्य से भिन्न ईश को भी अनीश समझता है। परन्तु यह भी अविवेक का प्रभाव है। अतः विवेक के लिए सप्तम तरंग में देवोपासकों के कलह का वर्णन करके एक सर्व कारण सगुण ईश्वर वा निर्गुण ब्रह्म की उपासना को विचारसागर में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। और देखा जा रहा है कि चाहे चाल व्यवहार में जैसे हों, परन्तु एकेश्वरोपासक महा यज्ञ भी

परस्पर प्रीति पूर्वक बढ़ रहे हैं। भेदवादी नष्ट हो रहे हैं। अतः ईश्वर में भेद मन्तव्य नहीं है।

## ( कर्मविचार )

अब बात यह रही कि विचार सागर में अन्तःकरण की शुद्धि के लिए निष्काम शुभ ( विहित ) कर्म की कर्तव्यता कही गई है। श्रुति के अनुसार यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, ब्रह्मचर्यादि कर्म कहे जाते हैं। कर्मफलासक्ति रहित से किए गए यज्ञार्थक सब कर्म भी पूर्वार्जित बन्धप्रद सब कर्मों के नाशक होते हैं, तथा द्रव्य यज्ञ योगयज्ञादि भी गीता वर्णित यज्ञ सब सम्मत हैं और द्वितीय तृतीय तरंग में वर्णित वृद्ध गुरु सेवा सत्कार आदि भी विचार सागर को अति सम्मत है। क्योंकि ( वेदाऽभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः। अहिंसा गुरु सेवा च निःश्रेयसकरं परम् ) इत्यादि शास्त्र के अनुसार गुरु सेवा परम कल्याण कारक हैं, और गुरु मूलक ही वेदाऽभ्यास तप इन्द्रिय संयम ज्ञान अहिंसादि निःश्रेयस साधन प्रायः सिद्ध होते हैं। और दान तो कलि में अति प्रधान कर्म कहा गया है, यद्यपि सन्त कहते हैं कि ( देने को अन्न दान है, लेने को हरि नाम। तरवे को आधीनता, डूबन को अभिमान ॥ १ ॥ ) भूखे को कछु दीजिये, यथा शक्ति जो होय। ता ऊपर शीतल वचन, लखो आतमा सोय ॥२॥ अतिथि दरिद्र अनाथादि भूखों के प्रति शक्ति के अनुसार अन्न फलादि कुछ भी देना और उसके बाद मधुर हित वचन बोलना इस प्रकार का अन्न दान कर्तव्य है, तथा श्रद्धा भक्ति ध्यान पूर्वक हरि ( ईश्वर ब्रह्म ) के नाम लेने जपने की वस्तु है, और संसार से तरने मुक्त होने के लिये आधीनता ( निरभिमानिता=गुरुशास्त्रआज्ञा वश वर्त्तिता ) साधन है। और संसार में डूबने के लिये अभिमान ( गीता आदि में वर्णित आसुरी सम्पत् ) ही साधन हैं, क्योंकि अभिमान से हिंसा सत् पुरुषादि के तिरस्कारादि बहुत ही पाप होते हैं, तथापि दान में सब

से बड़ा दान अहिंसात्मक=अभय दान है, अन्न के बिना जिसको कष्ट का भय हो, उसे अन्न दान देना भी अभय दान ही देना कहा जाता है, और सर्वथा अभय की प्राप्ति ब्रह्म ज्ञान से होती है, उस अभयार्थक ज्ञान का प्रदान ही विचार सागर द्वारा ग्रन्थकार ने दया करके किया है, सो ग्रन्थ के अन्त में लिखा भी है कि ( दया धर्म सिरताज ) इत्यादि । इस प्रकार कलि के प्रधान दान धर्म सब मनुष्य के लिये यथा शक्ति कर्तव्य है, क्योंकि ( अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोध-लोभता । भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्वर्णिकः । ) इत्यादि शास्त्र के अनुसार, अभय प्रदान रूप अहिंसा, सत्य, अविहित काम क्रोध लोभ द्रोह ईर्ष्यादि का त्याग, सब प्राणी के प्रिय तथा हित के लिये यथा शक्ति चेष्टा करना, यह सब वर्णाश्रम के लिये धर्म है । सच्चे तप तथा सत्य ब्रह्मचर्यादि से तथा शौच सन्तोषादि से भी अहिंसा अभयदा-नहीं सिद्ध होता है, और तामस राजस तप आदि से भिन्न तप आदि स्वयं अहिसा स्वरूप होते हैं, इन के विना आत्महिंसा तथा परहिंसा भी होती है, सो अन्यत्र विस्तार से वर्णित हैं, और ये सब अहिंसा विचार सागर के लक्ष्य हैं ।

## ( उपासना भेदादि विचार )

पञ्चम तरंग में संसार के मिथ्यात्व का प्रदर्शन पूर्वक जीवेश्वर के स्वरूप का प्रदर्शन मत भेद से आत्म प्रदर्शन पूर्वक कोश प्रदर्शन पूर्वक ॐकार की अहंग्रह उपासना का वर्णन किया गया है, और उस अहंग्रह उपासना को उत्तम उपासक के लिये कहा गया है, क्योंकि विश्व-विराडादि के चिन्तन पूर्वक अमात्र ( अवाच्य ) सर्वात्मा ब्रह्म का चिन्तन, स्थूल सूक्ष्मादि सब शब्द और अर्थ के चिन्तन पूर्वक सर्वाऽभेद का चिन्तन सब के साथ आत्माभेद का चिन्तन रूप अहंग्रह उपासना होने से प्रणव की अहंग्रह निर्गुण उपासना कठिन भी है ।

इससे अन्त में कहा गया है कि जो यह निर्गुण ध्यान न ह्वै तो, सगुण ईश कर मन को धाम। सगुण उपासन हू नहिं ह्वै तो, करनिष्काम कर्म भज राम ॥ १ ॥ यह निर्गुण उपासना नहीं हो सके तो उस से सुगम सगुण उपासना कर्तव्य है जिस में सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ईश्वर को सद्गुरु द्वारा समझकर उस ईश्वर में मन की स्थिति करना होता है। इससे सगुण ईश्वर मन का धाम ( स्थान ) होता है। आगे पीछे सर्वत्र सदा अखण्ड ईश्वर का मन से चिन्तन होता है। और सर्व व्यवहार उस ईश्वराधीन निश्चित हो जाने से धीरे-धीरे अभिमान की निवृत्ति पूर्वक राग द्वेषादि भी निवृत्त हो जाते हैं, अतः ऐसे भक्त के लिये कर्म विशेष की आवश्यकता नहीं रहती है। इसी आशय से गीता में कहा गया है कि ( सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ) शरणागति में अनुपयोगी सब धर्मों ( कर्मों ) को त्याग कर तुम एक मेरे ( ईश्वर ) के शरण में प्राप्त होवो। इस प्रकार की ईश्वर शरणागति से ही सब पाप की निवृत्ति और सब कर्मफलों की प्राप्ति होगी इत्यादि। परन्तु वह ईश्वर भी ( ईशावास्यमिदं सर्वम् ) इत्यादि श्रुति के अनुसार सब को आच्छादन करने वाला ( त्रिविध भेद रहित सर्वात्मा ) वस्तुतः है। और ( अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मात् ) धर्माधर्मादि गुणों से रहित है। फिर भी ( मायिनं तु महेश्वरम् ) अनिर्वाच्य माया शक्ति वाला को महेश्वर ( ईश्वर ) समझना है, और ओंकारादि द्वारा ही वह ज्ञेय है। तथा ईश्वर भक्त को ( अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ) हेगुडाकेश ! ( अर्जुन ! ) अहम् ( ईश्वर रूप से मैं सब प्राणियों के अन्तःकरण में रहता हूँ। ईश्वर सबके हृदय में रहता है। इत्यादि वचनों के अनुसार प्रायः सब कर्मो के त्याग पूर्वक तथा संसार विभूति आदि के चिन्तन पूर्वक सगुण ईश्वर की भक्ति कर्तव्य सिद्ध होती है, तहाँ अनादि से कर्म प्रवाह में पतित सर्वथा अज्ञ जीव के लिये सब कर्मों का त्याग और

सब संसार विभूति आदि का चिन्तन कठिन ही है, अतः कहा गया है कि निष्काम ( फलेच्छा रहित ) होकर सर्व स्वकर्तव्य कर्म करो, और जिसमें योगी रमते हैं, जो स्वयं सच्चिदानन्द स्वरूप से सब में रमता ( वर्तमान ) है, तथा जो सब को रमण कराता है, उस अभिन्न निर्गुण सगुण स्वरूप राम को भजो, इस उपासना में विहित कर्तव्य कोई कर्म को हठ से त्यागना नहीं होता है, कर्म फल त्याग से स्वयं कर्म त्यक्त हो जाते हैं, तथा उपासना बल से भेद में मायिकत्व निज स्वरूप में सच्चिदानन्दरूपत्वादि के अनुभव से स्वयं सत्याऽभेद का अनुभव होता है अतः इसमें अहंग्रह उपासना सम्बन्धी कठिनाई नहीं होती है। अत एव कहा गया है कि ( बोध-चाहि जाको सुकृति, भजत राम निष्काम। सो मेरो है आतमा काकूं करूं प्रणाम, ॥ ४ ॥ शीघ्र अनायास बोध की इच्छा से पुण्यात्मा जिस को राम रमणाधार, रमता, रमयिता ) समझ कर, निष्काम हो कर भजते हैं, सो स्वभाव सिद्ध मेरा आत्मा है। इत्यादि ॥ परोक्ष वा अपरोक्ष ज्ञानात्मक सच्ची भक्ति और उपासना ये पूर्वोक्त ही हैं। परन्तु अति सुगमता के लिये प्रमुख अधिकारी त्रिदेव वा अन्य देव गणेशादि की तथा उनके अवतारो की ब्रह्म ईश्वर स्वरूप से भक्ति उपासना की विधि लोक धामादि की कल्पना की गई है। और प्रायः सर्व देश काल में अधिक लोक उन अधिकारियों के ही भक्त होते हैं, फिर अवतार के भक्त, त्रिदेव के अवतारों को त्रिदेव से भी श्रेष्ठ त्रिदेव से सेव्यादि समझते और कहते हैं, क्योंकि ज्ञान रहित उपासना का ऐसा स्वरूप और स्वभाव ही होता है, उसी से उपासक को सिद्धि आदि फल मिलते हैं। राजा दृष्टि से राजकुमार या मन्त्री की सेवा से सेवक अधिक फल का भागी होता है, अन्यथा नहीं, अधिकारी लोग भी उपासना आदि के लिए अपनी ईश्वरता का वर्णन करते हैं, अथवा उनके सेवक उनकी ईश्वरता और स्वतन्त्रता का वर्णन करते हैं, परन्तु उनकी परतन्त्रता आदि के वर्णन

भी देखने से स्वतन्त्रता आदि कल्पित सिद्ध होते हैं, तथा प्रतर्दन के प्रति इन्द्र की अपनी ईश्वरता के वर्णन के समान शास्त्रीय (ज्ञान) दृष्टि से ईश्वरता आदि के वर्णन सिद्ध होते हैं, इन्द्र प्रतर्दन की कथा कौषीतकि उपनिषद में है, और उसका विचार ब्रह्मसूत्र में है, सो वहाँ ही द्रष्टव्य है ॥

ॐ ॥ आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्री रामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ १ ॥
भर्जनं भवबीजानामर्जनंसुखसम्पदाम् ।
तर्जनं यमदूतानां राम रामेति गर्जनम् ॥ २ ॥

चाहे किसी स्वरूप वाला राम हो, निर्गुण सगुण सब अवस्था में सब लोकों के अभिरमण कराने वाला राम, भजन से आपत्तियों को हरने वाला, सब सम्पत्तियों को देने वाला है। उस राम को मैं बार बार नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥ रामनाम का श्रद्धा ध्यानादि पूर्वक उच्चारण भी भव (जन्म) बीज (अविद्या) को जलाने वाला, सुखसम्पत्ति को अर्जन (उपार्जन=प्राप्त) कराने वाला और यम दूतों के तर्जन (फटकार–निवारण) करने वाला है ॥ २ ॥

अधिकारियों की ईश्वरता तो सर्वत्र अतिस्पष्ट वर्णित है ही ॥ अनीश्वरता आदि का वर्णन द्रष्टव्य है। तथाहि—

सबसे प्रथम तो यह बात है कि विचारसागर में यह बात आई है कि भाष्यकार श्री शंकराचार्य जी ने श्रीकृष्ण मूर्ति के विषय में कहा है कि (जीवों पर अनुग्रह करके माया के बल से शरीरधारी के समान परमात्मा कृष्ण रूप प्रतीत होता है, सो जन्मादि रहित है, वसुदेव द्वारा देवकी से उसका जन्म भी माया से प्रतीत होता है। और भागवत, स्कन्ध. १ । ३ । २८ । का श्लोक है कि (एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्) ये अन्य अवतार सब पुरुष के अंशों के कला (अंश) हैं। और कृष्ण स्वयं भगवान् हैं। और सुदर्शन संहिता का श्लोक है कि

( कृष्णः शृङ्गाररूपश्च वृन्दावनविभूषणः । एते चांशकलाः सर्वे रामो ब्रह्म सनातनः ) हनुमत संहिता कहती है कि ( एतेषामवताराणामवतारी रघूत्तमः ) वृन्दावन के विभूषण श्री कृष्ण जी तो श्री रामचन्द्र जी के शृङ्गार रूप हैं, और अन्य अवतार सब राम जी के अंशों के कला स्वरूप हैं, परन्तु राम स्वयं सनातन ब्रह्म हैं । अतः इन सब अवतारों के श्री राम जी अवतारी हैं, अवतार नहीं, ( आदि रामायण-पूर्व खंड ८ । १८ ) का भी कथन है कि ( कृष्णोंऽशांश एवास्य वृन्दावन विभूषणः । एते चांशकलांश्चैव रामस्तु भगवान् स्वयम् ) इत्यादि । यहाँ विचारणीय विषय यह है कि कहीं भगवान् कृष्ण स्वयं हैं, कहीं भगवान् रामचन्द्र स्वयं हैं, तहाँ प्रथम तो प्रत्यक्ष विरोध सा दीखता है, यदि कल्प भेदादि से व्यवस्था भी की जाय कि कभी कृष्ण जी स्वयं होते हैं कभी राम जी स्वयं होते हैं, तो भी नित्य स्वतन्त्रता कि सिद्धि दोनों में से किसी में नहीं होगी, और भगवान् विष्णु के दो अवतार का अभाव प्राप्त होगा । अतः भागवत् की दृष्टि से भाष्यकार ने श्री कृष्ण शरीर को साक्षात् परमात्मा का मायामय शरीर कहा है । और वस्तुतः जैसे छान्दोग्य में, ईश्वर से तेज, जल, पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद की कथा है कि ( वह ईश्वर रूप एक देव ने विचार किया कि इस जीवात्मा रूप से इन तेज आदि रूप देवताओं में प्रवेश करके नाम रूप का विस्तार करूं ) इसी प्रकार विष्णु रूप देवात्म रूप से ही अवतार शरीर में प्रवेश का सम्भव है । अतः विशेष अवतार देवादि के शरीर तो मायामय हैं ही, परन्तु चेतना शक्ति देव मय ही हो सकती है । साक्षात् परमात्ममय नहीं । सामान्य रूप से साक्षात् परमात्मा तो पशु पक्षी आदि में भी तुल्य ही प्रविष्ट रहता है, और सबके आत्मा के जन्मादि माया बल से ही प्रतीत होते हैं । सर्वत्र आत्मा जन्मादि रहित ही है, अवतारों में जीवत्व का सूचक व्यवहार, उसमें माया भाव से प्रतीत होता है । अतः ध्यानादि से आरोपित अनीश्वर गुण की निवृत्ति और ऐश्वर्य की प्राप्ति

योगवासिष्ठादि में वर्णित है। और ( ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ) ध्यान से अनीश्वर गुणों को नष्ट करके अनीश्वर भी ईश्वर गुण को प्राप्त करे, यह शास्त्र का कथन है ॥

भगवान् कृष्ण की परिवेदना का वर्णन है कि—

नासुहृत् परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदितुम् ।
अपण्डितो वाऽपि सुहृत् पण्डितो वाऽप्यनात्मवान् ॥ १ ॥

स ते सौहृदमास्थाय किञ्चिद् वक्ष्यामि नारद ! ।
कृत्स्नं बुद्धिबलं प्रेक्ष्य संपृच्छे त्रिदिवंगम ! ॥ २ ॥

दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां न करोम्यहम् ।
अर्द्धं भोक्तास्मि भोगानां वाग् दुरुक्तानि च क्षमे ॥ ३ ॥

अग्निमरणिकामो वा[1] मथ्नाति हृदयं मम ।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे ! तन्मे दहति नित्यदा ॥ ४ ॥

बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे ।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ! ॥ ५ ॥

ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदोभयतः सदा ।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा ॥ ६ ॥

( महापुरुष की इस प्रकार की चिन्ताओं को विद्वान् और भक्त उपदेशार्थक लीला मानते है कि--परिवार यदि प्रधान पुरुष की आज्ञा के अनुकूल नहीं हो, तो प्रधान सहित अपने को पीड़ित करके, अन्त में नष्ट होता है , और प्रधान पुरुष का अवतार तो धर्म रक्षा आदि के लिए हुआ ही करता है, तथा देह धारी होने पर किसी को सर्वथा सुख दुःखादि द्वन्द्वों का अभाव नहीं होता है, अतः जीवन्मुक्ति पूर्वक निदेह

---

१ वा—इवार्थे वर्तते ।

मुक्ति के लिए सङ्गादि का त्याग कर्तव्य है, और प्राप्त प्रारब्ध हर्ष विषाद रहित होकर भोक्तव्य है इत्यादि ॥

अतः नारद जी कहते हैं कि—

आपदो हि द्विधा कृष्ण ! बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ह ।
प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय ! स्वकृता यदिवाऽन्यतः ॥ ७ ॥
सेयमभ्यन्तरा तुभ्यमापत् कृच्छ्रा स्वकर्मजा ।
अक्रूरभोजप्रभवा सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥ ८ ॥
अर्थहेतोर्हि कामाद्वा वाचा बीभत्सयापि वा ।
आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादितम् ॥ ९ ॥
नाऽमहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान् ।
महतीं धुरमाधत्ते तामुद्यम्योरसा वह ॥ १० ॥
महाभारत-शान्तिपर्व, अ० ८१ ॥

हे नारद ! अमित्र उत्तम मन्त्र को नहीं जान सकता है, अपण्डित मित्र वा अनात्मवान् ( अजितेन्द्रिय मनवाला ) पण्डित भी नहीं जान सकता हैं ॥ १ ॥ अतः मैं आप के मित्र भाव को समझ कर कुछ कहूँगा, हे त्रिलोकगामी आप के सब बुद्धि बल को देखकर पूछताहूँ कि ॥ २ ॥ मैं ऐश्वर्यवाद से जातियों की सेवा नहीं करता हूँ। परन्तु भोगों के आधे ही भाग को भोगने वाला हूँ, स्वभोग्य में से आधे भोग जातियों को देता हूं, तथापि उनके वाक द्वारा दुरुक्तियों को सहता हूँ ॥ ३ ॥ जैसे अग्नि की इच्छा वाले अरणि ( काष्ठ विशेष) को मथते हैं। तैसे मेरे सम्बन्धी वचन से मेरे हृदय को मथते हैं। और मैं उनके दुर्वचनों को सहता हूँ। परन्तु वे दुर्वचन मेरे हृदय को सदा दग्ध करते ( जलाते ) हैं ॥ ४ ॥ संकर्षण में सदा बल का अभिमान रहता है। और गद में सुकुमारता=सौन्दर्य का अभिमान रहता है। रूप से प्रद्युम्न मतवाले रहते हैं, अतः इन सम्बन्धियों वाला मैं सदा असहाय हूँ ॥५॥ हे नारद ! इस प्रकार सदा बाहर भीतर

दोनों तरफ से क्लेशयुक्त मुझको जाति और मेरे लिए भी जो श्रेय हो ( हित हो ) सो कहने के योग्य आप हो ॥ ६ ॥ इस प्रकार के श्री कृष्ण जी के वचन के बाद श्री नारद जी बोले कि—बाहर वा भीतर की कठिन आपत्तियाँ, स्वकृत वा अन्य से कृत प्रगट होती हैं ॥ ७ ॥ परन्तु आपको यह भीतर की कठिन आपत्ति, अक्रूर भोज द्वारा उत्पन्न होने वाली भी निज कर्मजन्य हुई हैं ॥ ८ ॥ आपने अर्थ के लिए वा काम से अथवा बीभत्स ( निन्दित ) बानी से अपने से प्राप्त ( उपार्जित ) ऐश्वर्य अन्य को दे दिया, यही विपत्ति का कारण है ॥ ९ ॥ परन्तु कोई भी महापुरुष से अन्य, अवश्यात्मा और सहाय रहित पुरुष महतीधुर का धारण नहीं करता है। आप महापुरुष हो, हृदय से उठाकर उसका धारण करो ॥ १० ॥ इति।

अप्येकवारं यो भक्त्या पूजयेत्पद्मसम्भवम्।
पद्मस्थमूर्तिमन्तं वा ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ १ ॥

भविष्य पु० अ० १७ ॥

कमल से उत्पन्न होने वाले, वा कमलस्थ मूर्तिवाले ब्रह्मा को जो एक बार भी प्रेम से पूजता है सो ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

परतन्त्रोऽस्म्यहं नूनं पद्मयोने ! निशामय।
तथा त्वमपि रुद्रश्च सर्वे चान्ये सुरोत्तमाः ॥ १ ॥
देवी भा० स्क० ४। १८। ६०। श्री विष्णोरुक्ति।

हे ब्रह्मन् देव ! सुनो मैं परतन्त्र हूँ, तथा तुम रुद्र और सब देवोत्तम भी परतन्त्र हैं ॥ १ ॥ परन्तु—

वयं मायावृताः कामं न स्मरामो जगद्गुरुम्।
परमं पुरुषं शान्तं सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥ २ ॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शिवोऽहमिति मोहिताः।
न जानीमो वयं धातः ! परं वस्तु सनातनम् ॥ ३ ॥

## ( अध्याय १६ )

हम सब भी माया से अत्यन्त आवृत हैं अतः शान्त सच्चिदानन्द अव्यय पुरुष रूप परम जगद् गुरु का स्मरण नहीं करते हैं ॥ १ ॥ किन्तु मैं विष्णु, मैं ब्रह्मा, मैं शिव हूँ, इस प्रकार मोहित ( अहंकारी ) होकर सनातन पर ब्रह्मस्वरूप वस्तु को हम सब नहीं जानते हैं ॥ २ ॥

महेश्वरो ब्रह्महत्या भयाद्यत्र यतस्ततः ।
सस्नौ तीर्थेषु कस्माच्च इतरो मुच्यते कथम् ॥ १ ॥
अम्बरीषसुतां हृत्वा पर्वतान्नारदात्तथा ।
सीताहरणमापेदे रामोऽन्यो मुच्यते कथम् ॥ २ ॥
ब्रह्मापि शिरसश्छेदं कामयित्वा सुतामगात् ।
इन्द्र चन्द्र रविविष्णुप्रमुखाः प्राप्नुयुः कृतम् ॥ ३ ॥

**स्कन्द पु० माहेश्वर खं० २ कौमारिक खं० अ० ४५ । ८५ । ८७ ॥**

महादेव जी ने ब्रह्महत्या के भय से जिस व्यवहारावस्था में जहाँ तहाँ तीर्थों में स्नान किया, तहाँ अन्य कोई पाप करके कर्मोंपासना ज्ञान के बिना कैसे मुक्त हो सकता है ॥ १ ॥ जिस अम्बरीष की कन्या को पर्वत और नारद नामक मुनि प्राप्त करना चाहते थे, विष्णु देव ने उस कन्या का हरण किया, अतः उनके शाप से रामावतार में सीता के हरण जन्य कष्ट पाये, तो अन्य कोई कर्म भोगादि के बिना कैसे मुक्त हो सकता है ॥ २ ॥ ब्रह्मा भी निज सुता की इच्छा करके मस्तक छेदन रूप कष्ट पाये, तथा इन्द्र चन्द्र विष्णु आदि सब देव स्वकृत कर्मफल पाये ॥ ३ ॥ परन्तु ( शिव और विष्णु भगवान् की यह लोकवत् लीला उपर्युक्त वाक्यों में दिखायी गयी है, वस्तुतः उनको स्वरूपसाक्षात्कार तो सदा अव्याहत रहता ही है । अतः व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र में ईश्वर के लिए सृष्टि को, लोकवत्तुलीला कैवल्यम् । यह कहा है इति विद्वांसः ॥

तैसे ही ये सब देव लीलायें वर्णित हैं, ये अज्ञ नहीं थे ।।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रोयेन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ।। १ ।।
गरुड़पु० पूर्वखं० आचारकां० अ० ११३ । १५ ।।

ब्रह्मा ( हिरण्य गर्भ आदि जीव ) जिस निज कर्म तप आदि से ब्रह्माण्ड रूप भाण्ड के अन्दर कुलाल तुल्य नियमित ( बद्ध ) हुए, विष्णु महाकष्ट स्वरूप दशावतार रूप गहन में क्षिप्त हुए, रुद्र कपाल युक्त अञ्जलि में भिक्षाटन कराये गये, और सूर्य सदा गगन में भ्रमते हैं, तिस कर्म के ही प्रति प्रणाम है ।। १ ।। इत्यादि वचनों से अधिकारियों को कर्म से अधिकार मिलता है, और अधिकार काल में स्वकर्म से देहादि मिलते हैं, इत्यादि सिद्ध होता हैं । परन्तु विचार सागर में उपासक दृष्टि से देवासुर के कर्म जन्य शरीर कहे गये हैं । पुराणों में इन अधिकारी देवों की ही प्रायः उपासना ईश्वर रूप से विहित हैं, तहाँ एक की उपासना के प्रसंग में अन्य की निन्दा एक की उपासना की दृढ़ता के लिए व्यास जी ने की है, जो भगवान् व्यास स्वयं कहते हैं कि यदि शास्त्र एक होता तो ज्ञान सुनिश्चित होता, शास्त्रों के अधिकारी भेद और रुचिभेद से बहुत होने से तत्व ज्ञान दुर्लभ हो गया है । सो व्यास निन्दा युक्त बहुत पुराण क्यों रचेगें, और उनका निन्दा भेद में तात्पर्य कैसे हो सकता है ।। अधिकारी देव बहुत हैं और उनके उपासक भी भिन्य भिन्न स्वभाव वाले होते हैं । अतः स्वभावानुकूल की प्रशंसा ( स्तुति ) और अन्य की निन्दा भी देवविषयक ही पुराणो में समझना चाहिये, कार्य ब्रह्म विषयक नहीं, सूक्ष्मोपाधिवाला काय ब्रह्म भी सबके लिए एक है, तथा कारणोपाधि वाला ईश्वर एक है, निर्गुण ब्रह्म एक है,

इन में सत्य भेद नहीं है, और इन के ब्रह्म, विष्णु आदि नाम हैं अतः इनकी निन्दा, भगवान् व्यास कभी नहीं कर सकते हैं, अधिकारी देव की निन्दा अन्यदेव की स्तुति के लिये कथञ्चित् कर सकते हैं, और पुराणों में कहीं शिव जी को कहीं ब्रह्मा जी को भी सात्त्विक देव कहा गया है, परन्तु प्रायः बहुत पुराण और श्लोक में भगवान् विष्णु सात्त्विक देव प्रसिद्ध हैं ( भागवत स्क० १।२।१३ ) में कहा है कि एक ही परमात्मा प्रकृति के गुण भेद से संसार की स्थिति आदि के लिये हरि आदि नामों का धारण करता है, तहाँ सत्त्व गुण रूप तनु वाले से मनुष्य का शुभ होता है, सो अति मान्य है, क्योंकि सात्त्विक कर्म बुद्धि धैर्य ज्ञान विना शुभ नहीं होता है। और उनके उपासक भी प्रायः खान-पानादि व्यवहार में अन्य से सात्त्विक दीख पड़ते हैं, और वे सब वैष्णव उपासना अपस्था को ही ज्ञानावस्था मानते हैं, अतः शुद्धाऽद्वैत विशिष्टाद्वैतादि नाम रखने पर भी वस्तुतः सत्यद्वैतवादी सब होते हैं, उनका ( चार यार ) शब्द से विचार सागर में निर्देश किया गया हैं, अतः उनके कतिपय भेद द्रष्टव्य है।

### केवल भेदमत ॥ १ ॥

( भेदपञ्च की बुद्धि नशावै ) गुरु पांच प्रकार की भेद बुद्धि को नष्ट करे, यह विचार सागर में कहा गया। तहाँ श्रीमध्वाचार्य का पञ्च भेद की सत्यता सिद्धान्त है कि

ईशजीवौ सदा भिन्नौ जडो भिन्नस्तथेश्वरात्।
जीवाः परस्परं भिन्ना जीवभिन्ना जडास्तथा ॥ १ ॥
परस्परं जडा भिन्ना वर्तन्ते सर्वदा समे।
भेदः सत्यस्ततो नान्यो ह्यविवेकाच्च भाति सः ॥ २ ॥

ईश्वर, जीव, और जड़ ये भिन्न है। और जीव जड़ भी परस्पर भिन्न हैं, तहाँ भेद सत्य हैं। और उससे अन्य श्रुति वर्णित अभेद अविवेक से प्रतीत होता है। क्योंकि ( स्वतन्त्रो भगवान् विष्णु

निर्दोषोऽशेषसद्गुणः । अस्वतन्त्रमनेकं स्याद्रात्मानात्मादिभेदभाक् ॥३॥ सब सद्गुण वाले निर्दोष भगवान् विष्णु हैं । और आत्म अनात्मादि भेद वाले, अस्वतन्त्र और अनेक हैं ॥ ३ ॥ किञ्च ( सत्यो भेदोप्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात् । न च नाशं प्रयात्येष न चासौ भ्रान्तिकल्पितः ॥ ४ ॥ इत्यादि , भेद सब सत्य और अनादि है, यदि सादि वा भ्रम से कल्पित होता तो नाश को पाता, परन्तु यह नष्ट नहीं होता है । ब्रह्मज्ञ की ब्रह्मरूपता का वर्णन श्रेष्ठता के अभिप्राय से वा ज्ञानादि गुण साम्य आदि के अभिप्राय से श्रुति में है, सत्य स्वरूप की एकता के अभिप्राय से नहीं । जीवों में स्त्री पुंस्त्वादि भेद भी सत्य ही है । इत्यादि विष्णु भक्ति से ही आनन्द के तारतम्य ( न्यूनाधिक्यभावयुक्त ) मुक्ति मिलती है, तुल्य नहीं, अतः मोक्ष में भी भेद रहता है, यह भेद वाद का सिद्धान्त है ॥ १ ॥

श्रीभास्कराचार्य, तथा श्रीनिम्बाकाचार्य, भेदाभेदमत के प्रवर्तक हैं ॥ २ ॥

त्रिधा ब्रह्मैव संजातं कार्यकारणरूपतः ।
जीवरूपत्वतश्चापि स्वर्णतत्कार्य भेदवत् ॥ १ ॥
ईशस्य भोग्यशक्त्या स्यादाकाशादि समुद्भवः ।
भोक्तृशक्त्या च जीवात्मस्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥ २॥
कार्यात्मनैव नानात्वमभेदः कारणात्मना ।
इत्येवं भास्करः प्राह सुवर्णकुण्डलादिवत् ॥ ३ ॥
ईश्वरजीवजगतां भेदो वै वर्तते सदा ।
ईश्वराऽऽयत्तता जीवे जगत्यपि सदा स्थिता ॥ ४ ॥
व्यापकः परमात्मैव व्याप्यो जीवो जगत्तथा ।
ईश्वराभिन्नता तेन कथ्यते न स्वरूपतः ॥ ५ ॥
सत्यैव भावरूपा च जीवेऽविद्या हि वर्तते ।
भिन्ना चिदणुजीवस्य बन्धहेतुः प्रकीर्तिता ॥ ६ ॥

सच्चिदानन्दरूपोऽपि बध्यतेऽविद्यया स्वयम् ।
बद्धमुक्तादिभेदेन नानाभेदयुतो ह्ययम् ॥ ७ ॥
अणुरूपस्य जीवस्य ज्ञानं तु प्रभया समम् ।
ततोऽनुभवति स्वीये देहे दुःखं सुखादिकम् ॥ ८ ॥

कार्य, कारण और जीव रूप से ब्रह्म ही तीन रूप से हुवा है, जैसे सुवर्ण अपने कार्यरूप से भेद वाला होता है ॥ १ ॥ क्योंकि ईश्वर की भोग्यशक्ति से आकाशादि उत्पन्न होते हैं । और भोक्तृशक्ति से जीवात्मा स्वरूप से ब्रह्म की स्थिति होती है ॥ २ ॥ अतः कार्य रूप से ही ब्रह्म में सत्य ही भेद है, और कारणरूप से विकारी ब्रह्म में अभेद है । तथा मोक्ष में जीव का अभेद होता है, इस प्रकार भास्कराचार्य सुवर्ण और कुण्डलादि के समान भेदाभेद को सत्य कहते हैं ॥ ३ ॥ निम्बादित्य मुनि, ईश्वर, जीव, जगत् में सदा भेद रहता है, ऐसा मानते हैं, परन्तु जीव और जगत् सदा ईश्वर के अधीन रहते हैं । इससे ईश्वराऽभिन्न श्रुति में कहे जाते हैं ॥ ४ ॥ और परमात्मा ( भगवान् कृष्ण ) व्यापक हैं, जीव तथा जगत् व्याप्य हैं, इससे भी जीव जगत की ईश्वर से अभिन्नता कही जाती है । सत्य स्वरूप से नहीं ॥ ५ ॥ सत्य और जीव से भिन्न ही भाव रूप अविद्या जीव में रहती है, सो चेतन स्वरूप जीवों के बन्धन के हेतु कही गई है ॥ ६ ॥ यह जीव सच्चिदानन्द स्वरूप होते भी अविद्या से स्वयं बद्ध होता है, और नित्य मुक्त, मुक्त, बद्धादि भेद से नानाप्रकार के हैं ॥ ७ ॥ अणुरूप जीव के प्रसरण स्वभाव वाला ज्ञान दीपादि के प्रभा तुल्य होता है, उससे अपने देह में सुख दुःखादि को जानता है ॥ ८ ॥ इत्यादि ॥ और । ब्रह्मसूत्र अ० १ । २ । २०-२१ में वर्णित रीति से आचार्य आश्मरथ्य और औडुलोमि ये दोनों प्राचीन भेदाभेदवादी हुए हैं, जो संसारावस्था में जीव ब्रह्म के भेद को तथा मोक्षदशा में अभेदको स्वीकार करते हैं । क्योंकि संसारावस्था में नाम-रूपोपाधि वाला रहने से जीव परमात्मा से भिन्न रहता है, मोक्षदशा

में नाम रूप से रहित होने से परमात्मा से अभिन्न हो जाता है, ऐसे आचार्य औडुलोमि कहते हैं। और एक के ज्ञान से सबके ज्ञान की सिद्धि का श्रुति में वर्णन है। अतः अभेद और व्यावहारिक भेद होने से भेदाभेद आचार्य आश्मरथ्य कहते हैं।

## शुद्धा द्वैतमत ॥ ३ ॥

शुद्धाद्वैतवादी श्री वल्लभाचार्य हुए हैं।
यही विष्णु स्वामी का मत है ॥

विशेषैः प्राकृतैः शून्यमप्राकृतविशेषवत् ।
आत्मसृष्टे न वैषम्यं नैर्घृण्यं चापि विद्यते ॥ १ ॥
साकारस्यापि चाकारः सत्यानन्दा न चापरः ।
कुरुते स स्वरूपं स्वं विविध दैवमानुषम् ॥ २ ॥
उत्तमाधमभावेन स स्वयं वर्तते यतः ।
तस्माद्विषमता नास्ति बाध्यबाधकता न च ॥ ३ ॥
अभिव्यक्ति हिं जीवानामीश्वरात् कस्यचिन्मते ।
तदुत्पत्तिं च मन्यन्ते केचित्तु जगदीश्वरात् ॥ ४ ॥
शुद्धः श्रीकृष्ण एवास्ते मायादि विद्यते नहिं ।
तस्मान्न विद्यते भेदः शुद्धाद्वैतं हि वर्तते ॥ ५ ॥
ईश्वरान्न पृथक् सिद्धं भवतीशकलेवरम् ।
अचिन्त्यशक्तियोगेन भाति तच्चेश्वरात्मकम् ॥ ६ ॥
महानन्दं स्वमाच्छाद्य बहुरूपं विधाय च ।
रमणार्थं स रमते हरिरित्याह वल्लभः ॥ ७ ॥
भास्करो वल्लभो विश्वं निम्बादित्यमुनिस्तथा ।
ईशस्य परिणामं वै भिन्नाभिन्नं तथाऽऽह च ॥ ८ ॥
परिणाम्येव नित्यत्वमीश्वरे न कूटस्थता ।
तथापि स्वस्वभावं न विमुञ्चति सदीश्वरः ॥ ९ ॥

एवं चैतन्यदेवोऽपि परिणामं परेशितुः ।
जगच्चाह तथा सोऽपि भेदाभेदं हि मन्यते ॥१०॥
द्वैताद्वैतं प्रमन्वाते निम्बार्को भास्करस्तथा ।
श्रीवल्लभमते सर्वं शुद्धाद्वैतं सदाऽस्ति हि ॥११॥

शुद्धाद्वैतवादी विष्णु स्वामी कहते हैं कि ब्रह्म प्रकृति कार्य रूप विशेषों=धर्मों से रहित है, परन्तु अप्राकृत ( अकार्य ) विशेष वाला है, और अपने आत्मा को ही सुखी दुःखी आदि रूप से करता है, इससे उसमें आत्मस्वरूप सृष्टि के होने से किसी अन्य के प्रति विषमता निर्दयता रूप दोष नहीं है ॥ १ ॥ साकार ईश्वर ( कृष्ण ) का आकार भी सत्य आनन्द स्वरूप है, अपर:=भिन्न मायिकादि नहीं है, और वह दैव मानुषादि विविध स्वरूप अपना ही करता है ॥२॥ और जिससे उत्तम अधमादि रूप से आप ही होता है, अतः विषमता या बाध्यबाधक भाव नहीं है ॥ ३ ॥ किसी के मत में नित्य जीव की अभिव्यक्ति ईश्वर से होती है, किसी के मत में उत्पत्ति मानी जाती है ॥ ४ ॥ वस्तुतः सब शुद्धाद्वैती के मत में शुद्ध स्वरूप कृष्ण ही हैं, माया आदि रूप मल उनमें नहीं है । अतः भेद भी नहीं है, किन्तु शुद्धाद्वैत ही है ॥ ५ ॥ ईश्वर ( कृष्ण ) का शरीर भी ईश्वर से पृथक् नहीं सिद्ध होता है, किन्तु अचिन्त्य शक्ति के सम्बन्ध से ईश्वरात्मक ईश्वर की देह प्रतीत होती है ॥ ६ ॥ ईश्वर अपने महा आनन्द, बल, ऐश्वर्य, ज्ञानादि को स्वयं आच्छादन-तिरोहित करके और रमण के लिये बहुत रूप करके रमण करता है, ऐसे वल्लभाचार्य कहते हैं ॥ ७ ॥ भास्कर, वल्लभ, और निम्बार्क मुनि, ईश्वर के परिणाम और ईश्वर से भिन्नाभिन्न विश्वको कहते हैं ॥ ८ ॥ अतः ईश्वर में परिणामि नित्यत्व ही है, कूटस्थ नित्यता नहीं है । तथापि ईश्वर परिणामी दूध के समान अपने स्वभाव को नहीं त्यागता है किन्तु सुवर्ण के समान निज स्वभाव युक्त रहता है ॥ ९ ॥ इसी प्रकार चैतन्य देव भी ईश्वर के परिणाम और भिन्ना-

भिन्न जगत् को कहते और मानते हैं ।। १० ।। निम्बार्क और भास्कर द्वैताद्वैत मानते हैं । और श्रीवल्लभमत में सदा शुद्ध अद्वैत ही है ।। ११ ।। इन मतों की कल्पना उपासना के लिये हुई है, परन्तु जन्मादि संसार सत्य हो, तो उसकी किसी प्रकार भी निवृत्ति नहीं हो सकती है, नष्ट होने वाले को सत्य समझना भ्रान्ति ही कही जा सकती है । गीता में कहा गया है कि ( सत्य का अभाव नहीं होता है ) इत्यादि । और भेदाभेद वाद तो जैन सप्तभङ्गीवादादि के समान विरुद्ध है, इसीसे विचार सागर में जैन वचन के समान इन के वचनों को त्यागने के लिये कहा गया है यदि भेद और अभेद में से एक सत्य एक असत्य हो, तो दोनों की प्रतीति एक काल में साथ रह सकती है, जैसे ( यह सर्प है ) ऐसी भ्रान्ति काल में यह शब्द से भासित, व्यावहारिक सत्ता युक्त रज्जु में प्रातिभासिक सर्पका अभेद भासता है, परन्तु अभेद रहता नहीं है । अतः जीवेश्वरादि समसत्ताक भिन्न हों तो अभिन्न नहीं हो सकते, अभिन्न हों तो भिन्न नहीं हो सकते हैं, और व्यापक ईश्वर से व्याप्यता के कारण वा ईश्वराधीनता आदि के कारण अभेद कहना तो श्रुति तथा लोक से विरुद्ध होने से सिद्ध नहीं हो सकता । स्वभाव से बद्ध भिन्न जीव का मोक्ष दशा में अभेद नहीं हो सकता है, क्योंकि सत्य स्वभाव मिट नहीं सकता है । और सुवर्ण तो कुण्डलादि रूप होने पर सुवर्णत्वादि को नहीं त्यागता है, और यहाँ अनर्थ रूप महामल-मय संसार को सच्चिदानन्द शुद्ध ईश्वर का परिणाम सुवर्ण तुल्य कहाँ जाय तो दृष्टान्त से प्रत्यक्ष ही विरोध दीखता है । और शुद्ध कृष्ण ही अपनी क्रीड़ा के लिये अपने आनन्दादि को तिरोहित करके सर्व संसार रूप हुए हैं, यह कहना तब बनता यदि कृष्ण रूपता दशा से अधिक आनन्द जगद्रूपता में होता । और—यदि कृष्णावतार से प्रथम संसार नहीं होता, हो सकता है कि प्रथम भगवान् रामचन्द्र जगत रूप हुए हों, परन्तु भगवान् रामचन्द्र के भक्त ऐसा नहीं मानते हैं, अतः

३

ऐसी कल्पना सर्व शास्त्र संमत अनादि संसार स्वीकृति के विरुद्ध है। कृष्ण शब्द का ईश्वर अनादि वस्तु अर्थ हो, तो भी ईश्वर की अनादि आनन्दादि स्वभावता ईश्वर के लिये तिरोहित नहीं हो सकती है, यदि तिरोहित हो तो वह सर्वज्ञ ईश्वर नहीं रह सकता है, माया ( अविद्या ) से आवृत स्वरूप वाला जीव ही कहा जा सकता है, अतः माया अविद्यादि को नहीं मान कर शुद्धाद्वैत मत तो एक बाल विनोद सा है। विशेष विचार अन्यत्र द्रष्टव्य है।

॥ विशिष्टाद्वैतमत ४ ॥

विशिष्टाद्वैतवाद के विशेष प्रचारक ( रामानुजाचार्य ) हुए हैं, उनसे प्रथम यामुनाचार्यादि हुए हैं। इनका सिद्धान्त है कि—

चिदचिद्भ्यां विशिष्टं यदेकं शुभगुणाश्रयः।
हीनं हेयगुणैस्तद्धि निर्गुणं ब्रह्म कथ्यते ॥ १ ॥
सत्तत्त्वं त्रिविधं तस्माज्जडजीवेशभेदतः।
द्रव्यगुणप्रभेदेन द्विविधं वा निगद्यते ॥ २ ॥
ईशो जीवोऽथ नित्या च विभूति र्ज्ञानमेव च।
प्रकृतिश्चैव कालश्च सन्ति द्रव्याणि षट् खलु ॥ ३ ॥
जीवो नित्यविभूतिश्च प्रकृतिः कालएवच।
शरीरमीश्वरस्यैते ज्ञानादीशस्य वै विभु ॥ ४ ॥
परोऽथ व्यूहविभवाऽन्तर्याम्यर्चावतारकाः।
ईश्वरास्तत्र वैकुण्ठे परस्तिष्ठति सर्वदा ॥ ५ ॥
मुक्तैः प्राप्यः सनित्यं स्याच्चानन्तगरुडादिभिः।
क्रीडति व्यूहरूपाश्च वासुदेवादिनामकाः ॥ ६ ॥
परोऽत्र भवति व्यूहो भक्त्युपासनसिद्धये।
मत्स्यादयो हि विभवा अन्तर्यामी हृदि स्थितः ॥ ७ ॥

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांसि षडगुणाः ।
विद्यन्ते वासुदेवे वै मूर्तिरर्चाऽवतारकः ॥ ८ ॥
स्वरूपेण विभुश्चेशः परो वैकुण्ठसंस्थितः ।
व्यूहादिषु स एवास्ते शक्त्या स्वेनाऽथवाऽऽविशन् ॥ ९ ॥
प्रतिदेहं विभिन्नाश्च जीवाः स्युरणुमात्रकाः ।
स्वयंप्रकाशनित्याश्च कर्तारश्चेश्वराश्रिताः ॥१०॥
स्वयंप्रकाशदेशात्मा विभूतिःपरमात्मनः ।
नित्या साधःपरिच्छिन्ना परिच्छिन्ना नचोर्ध्वतः ॥११॥

इत्यादि । विस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः ॥

चिद् अचिद्=जीव जगत् रूप विशेषण वाला, शुभगुणों का आश्रय, हेय=अशुभगुणों से हीन=रहित जो एक ब्रह्म सोई निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है। निर्विशेष=सब गुण रहित नहीं ॥ १ ॥ अतः सत्य वस्तु जड़, जीव और ईश्वर=ब्रह्म ये तीन प्रकार के हैं। या द्रव्यगुण के भेद से दो प्रकार की वस्तु कही जाती है ॥ २ ॥ तहाँ ईश्वर, जीव, ईश्वर की नित्य विभूति, ज्ञान, प्रकृति और काल ये ये छःद्रव्य हैं ॥ ३ ॥ जीव, नित्यविभूति, प्रकृति, और काल, ये चेतन ईश्वर के व्यापक शरीर हैं। और ज्ञान इच्छा आदि ईश्वर के गुण ( धर्म ) सब भी विभु हैं ॥ ४ ॥ पर, व्यूह, विभव और अर्चावतार, ये चार ईश्वर के स्वरूप हैं, उनमें पर सदा बैकुण्ठ ही में रहता है ॥ ५ ॥ और वह पर ही मुक्तों से सदा प्राप्त करने योग्य है, सो सदा अनन्त गरुडादि के साथ क्रीडा करते रहता है। और वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि नाम वाले व्यूह कहे जाते हैं ॥ ६ ॥ भक्ति उपासना की सिद्धि के लिये पर ही व्यूह होता है, मत्स्यादि अवतार विभव हैं, अन्तर्यामी सब के हृदय में स्थिर रहता है ॥ ७ ॥ ज्ञानादि नामवाले छः गुण वासुदेव में रहते हैं, मूर्ति

अर्चावतार है ॥ ८ ॥ स्वरूप से ईश्वर व्यापक है। पर वैकुण्ठवासी है। सोई शक्ति द्वारा वा स्वरूप से प्रवेश करता हुआ व्यूहादि में रहता है ॥ ९ ॥ सब देहों में अणु रूप जीव भिन्न भिन्न हैं, सो स्वयं प्रकाश नित्य होते भी ईश्वराधीन कर्मादि के कर्ता हैं ॥ १० ॥ स्वयं प्रकाश देश स्वरूप भी ईश्वर की विभूति है, सो नित्य हैं, नीचे परिच्छिन्न= परिमित है। ऊपर अपरिच्छिन्न है ॥ ११ ॥ जीवेश्वराश्रित प्रकाश स्वरूप ज्ञान ( बुद्धि ) द्रव्य होते भी गुण रूप दीप प्रभा तुल्य है। स्वरूपात्मक ज्ञान द्रव्य स्वरूप ही है। सांख्य कथित प्रकृति ही ज्ञान निरोधक होने से अविद्या, और विचित्र कार्यकारित्व से माया कही जाती है। विभुकाल है, सो अखण्ड तथा सखण्ड भी है, अन्यत्र-स्वतन्त्र के समान है, परन्तु बैकुण्ठ में नहीं, व्याप्य शरीर और व्यापक शरीरी होता है, तथा व्याप्य का व्यापक आत्मा कहा जाता है अतः व्यापक ईश्वर शरीरी है, तथा सजातीय भेदादि त्रिविधभेद वाला है। जीव जड और स्वगतगुणादि के साथ ईश्वर को सजातीय भेद विजातिय भेद और स्वगत भेद रहता है। स्वरूप से ईश्वर कूटस्थ निर्विकार है, और माया ( प्रकृति ) आदि विशिष्ट रूप से विकारी है। देहि भाव से सब के साथ ईश्वर की एकता है, साजात्य से जीवों के साथ एकता है, अतः भेद युक्त जगत् सत्य है, और बन्ध मोक्षादि की व्यवस्था बनती है। सत्य शास्त्रादि से जीव के देहात्मभावादि रूप भ्रम की निवृत्ति द्वारा ईश्वरादि के ज्ञानादि से मुक्ति होती है, मुक्ति दशा में प्रकृति के कार्य शरीर के निवृत्त होने पर दिव्य देह से सहित परमात्मा के तुल्य होकर बैकुण्ठ में रमता है॥ इत्यादि बहुविस्तार स्वरूप इस मत का है। सो अन्य वैष्णव सम्प्रदाय से श्रेष्ठ है ॥ सत्य के अंश, भेद आदि और मोक्ष में लोकादि की कल्पना अद्वैतवाद से विरुद्ध है। और यह मत उपासना प्रधान पञ्चरात्र मूलक है, अद्वैत सिद्धान्त साक्षात् श्रुति मूलक है। और संसार की व्यावहारिक सत्ता

को मान कर, मिथ्यात्त्व अंश में स्वप्न तुल्य संसार में भी व्यवस्थित रूप से कर्म और उपासना को अद्वैत के मुख्य आचार्यों ने माना है। अत एव बाह्य पदार्थ के अभाव कहने वाले विज्ञानवादी के मत खण्डन के प्रसंग में ( ब्रह्मसूत्र अ० २।२।२६ ) सूत्र भाष्यादि में संसार के वस्तु में सर्वथा स्वप्न शाम्बरादि रूपता क्षणभङ्गुरता का निषेधकरके स्थायिता का प्रतिपादन किया गया है ( वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ) इत्यादि, अतः योगवासिष्ठादि में तथा विचारसागर में जो दृष्टि सृष्टिवाद का तथा सर्वथा स्वप्नतुल्यता का प्रतिपादन किया गया है, सो संसार को मिथ्या निश्चय कराने मात्र की दृष्टि से तथा पदार्थाभाविनी ज्ञान की भूमिका में पहुँचे हुए ज्ञानी की दृष्टि से किया गया है॥ वस्तुतः सर्वथा तुल्यता नहीं हो सकती, अन्यथा घर से निकला हुआ मनुष्य ज्ञानी गृहस्थ अदृश्यमान गृह के नाश समझ कर गृह में लौट कर नहीं जायगा, क्योंकि स्वप्न में प्रायः ऐसा होता है कि कल्पित गृह वा द्वार से निकलने पर, तुरन्त उसके अभाव के ज्ञानादि से वहाँ आश्चर्यादि होते हैं, कभी ऐसा भी स्वप्न ही में ज्ञान हो जाता है कि ( अरे यह मिथ्या स्वप्न देख रहे हैं ) इत्यादि। जाग्रत में ऐसा ज्ञान व्यवहारावस्था में किसी को नहीं होता है। अतः स्वप्न तुल्य बहुत अंश में होते भी संसार स्वप्न रूप या दृष्टि सृष्टिरूप साधारण प्राणी की दृष्टि से नहीं है, सर्वशक्तिवाला ईश्वर के संकल्प वीक्षणात्मक दृष्टिसृष्टि मात्र हो सकता है। अद्वैत सिद्धान्त में जैसे सर्व साधारण की दृष्टिसृष्टिता लोकादि से विरुद्ध है, तैसे विशिष्टा द्वैतादि सिद्धान्त में, ( मायां तुप्रकृतिं विद्यात्॥ निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्॥ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ) इत्यादि अनेको श्रुति आदि से सिद्ध मायिक संसार में सर्वथा सत्यत्व, तथा सकलत्व ( सावयवत्व ) सक्रियत्व, सगुणत्वादि धर्म योग मानना तथा तद् युक्त परमेश्वर परतत्त्व को मानना विरुद्ध है, और इनके श्रवणादि

एकात्मतत्त्व के ज्ञान का प्रतिबन्धक है। अतः विचार सागर में द्वैतवाद के श्रवण का निषेध एकात्म जिज्ञासु के लिये किया गया है। और एक महात्मा ने ( निशि गृहमध्य दीप की बातें तम निवृत्त नहीं होई ) इत्यादि के समान कहा कि ( राम कहे जो जगत गति पावै, (तो) खांड कहे मुख मीठा ) फिर सैकड़ो बार कहा कि ( एक राम भजे बिनु बाँधे यमपुर जासी ॥ राम नाम भजु, राम नाम भजु ॥ राम ही आगे राम ही पीछे ॥ राम नाम की आश ॥ राम जपत कोढी भला ) इत्यादि, परन्तु उस महात्मा के शिष्य संप्रदाय वालों ने एक बात को पकड़ कर सब ही राम विषयक उपदेशों को त्याग दिया, कथन और भजन के भेदों को नहीं विचारा, न समझा, किन्तु ( राम भजो ) इत्यादि का राम से भागना आदि अर्थ करने लगे ॥ तैसे ही एक स्थान में श्रुति में कहा गया कि ( पृथिव्यस्य शरीरम् ) पृथिवी परमात्मा का शरीर है, फिर हजारो स्थान में कहा गया कि ( अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ॥ न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ॥ अकाय-मव्रणम् ) इत्यादि, परन्तु एक वचन को पकड़ कर सब वचन को गौणादि बताय कर परमात्मा को पक्का शरीरी पक्षपाती विशेष कारण रूप बनाय दिया गया, इसी प्रकार जीव के परामार्थिक, एक, देश कालादि से अन्त रहित, विभु स्वरूप रहते, वर्णित होते भी, दुर्लक्ष्यता के अभिप्राय से वर्णित परम सूक्ष्म को अणु रूप मान कर अनुभव से विरुद्ध ज्ञान गुणादि को विभु आदि माना गया है इत्यादि ॥

और विचारणीय यह है कि प्रथम नीचे ईश्वर की विभूति परिच्छिन्न कही गई है। और ऊपर अपरिच्छिन्न कहीं गई है, तहाँ नीचे ऊपर कहाँ सत्य है, जो हमारे लिये नीचे है सो अमेरिकन के लिये ऊपर है। और यह कल्पना तो जैनों के कल्पित तप्तशिलाऽऽरोह रूप मुक्ति से मिलती हुई प्रतीत होती है कि जिस में ऊर्ध्व-ऊर्ध्व में

श्रेष्ठता की दृष्टि से सदा ऊपर के तरफ ऊड़ना होता है, तहाँ स्थिरता और मुक्ति कैसी कही जा सकती है, अतः यह तो सातिशय सुख स्थान रूप स्वर्ग को ही मोक्ष स्थान कहा गया है कि जहाँ से पुण्य क्षय होने पर जय विजय ऐसा भक्त भी गिराया गया, और महानीच राक्षसादि भाव को प्राप्त हुवा। और उपचय अपचय शील विनश्वर वस्तु को देह तथा शरीर, शब्दार्थ अनुभवादि के अनुसार कहा जाता है। वैसा देह शरीर वाला यदि परमात्मा है, तो उसको जीव से भेद ही क्या है, और वस्तुतः ( बृ० अ० ३ ब्रा० ७ ) इस श्रुति में ईश्वराधीनता की दृष्टि से पृथिवी आदि का ईश्वर के शरीर कहा गया है, और सत्य स्वरूप से उस अन्तर्यामी को ईश्वर स्वरूप कहा गया है और ईश्वर जीव के अभेद होने से जोव स्वरूप भो कहा गया है। ( एष त आत्मा ) इत्यादि, तहाँ जीव को ईश्वर के शरीर कहना सर्वथा विरुद्ध है, और वस्तुतः ईश्वर के सत्य स्वरूप को शरीरी मानना भी विरुद्ध है। क्योंकि श्रुति कहती है कि—( न ह वै स शरीरस्य सतः प्रियाप्रियोरपहतिरस्ति ) अतः शरीरी को महापुरुषादि मानकर उनकी भी अशरीरी रामस्वरूप से उपासना को जाय तो सर्वमत की सुन्दर एकता हो। इति शान्तिः ॥

उक्त चारो सम्प्रदाय को भो वेदान्त के प्रस्थान रूपशास्त्र से सम्बन्ध के कारण इनका विचार सागर में नाम लिया गया है, यहाँ संक्षिप्त सिद्धान्त का प्रदर्शन कराया गया है, विस्तार करने पर ता स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना की प्राप्ति होगो ? इति शम शान्तिः ॥

निर्गुणं निर्मलं रामं सच्चिदानन्दमव्ययम् ।
सर्वाधारं निराधारं निराकारमहं भजे ॥ १ ॥
भेदानामत्र सत्यत्वे जन्मादे र्न कदाचन ।
दुःखस्य विनिवृत्तिः स्यात्तेषां सत्यत्वतः खलु ॥ २ ॥

भेदाऽभेदौ विरुद्धौ तौ समौ नैव प्रसिद्ध्यतः।
एकस्य कल्पितत्वे तु भेदः कल्पित इष्यताम् ॥ ३ ॥
परिणामी भवेदीशस्तदाऽसौ सर्वदोषभाक्।
भवेत्तस्माद्विवर्तोऽस्य वर्तते सर्वविस्तरः ॥ ४ ॥
सुवर्णोहि सुवर्णत्वं परिणामे न मुञ्चति।
न शुद्धत्वं न तेजस्त्वं जगच्चैवं न वर्तते ॥ ५ ॥
शुद्धं ब्रह्म चिदानन्दं जगत्तस्माद्विलक्षणम्।
अशुद्धं जड़तायुक्तं निरानन्दं च सर्वदा ॥ ६ ॥
अतएव न देहत्वं प्रभो र्जगति वर्तते।
वृद्ध्यपचयशीलत्वा च्छीर्णत्वाच्च स्वभावतः ॥ ७ ॥
अतो मायामयं सर्वं मायैव परिणामिनी।
जगद्रूपेण चित्साक्षिप्रकाशबलतोऽनृता ॥ ८ ॥
मिथ्यामायाविकारत्वाज् जगन्मिथ्यैव जायते।
जन्मादीनां च मिथ्यात्वा ज्ज्ञानान्नाशं श्रुति र्जगौ ॥९॥
उपासनस्य सिद्ध्यर्थं कल्प्यते येन यद्यथा।
सिद्धिप्रदं तथैव स्यात् तन्नास्त्यत्र विचारणा ॥ १० ॥
गणेशं शिवमादित्यमर्हन्तं बुद्धमद्भुतम्।
अल्लाहं गार्डनामानं भजन् सिद्धिं समश्नुते ॥ ११ ॥
उपासनात्मके ज्ञाने भक्तौ कर्मणि वा क्वचित्।
सत्यस्य न प्रतिष्ठा स्यात्तत्रपञ्चाग्निदृष्टिवत् ॥ १२ ॥
अतश्चोपासनं कृत्वा सत्यज्ञानाय यत्यताम्।
इत्याहात्र विचारादिसागरस्य विधायकः ॥ १३ ॥

हिंसा मांस मद्य वच चोरी। सेवै सो जन निपट अघोरी ॥
इनका सङ्ग कबहूं नहीं कीजै। करि सुसङ्ग नित राम भजीजै ॥
सब के आतम राम हि जानी। राग द्वेष तजि त्यागै ग्लानी ॥
उत्तम वैष्णव सो जग होई। सत्य भेद जग लखै न कोई ॥

मायामय सब लखि व्यवहारा। सत्य राम लखि ह्वै भव पारा॥
ताके संग परम पद होई। सकल द्वन्द्व दुख जाय बिगोई॥
व्यापक विष्णु ज्ञान तहँ पावै। भेद भाव तजि मोह नशावै॥
हर्ष शोक तजि सो सुख राशी। पावै राम सर्व उरवासी॥
अस्ति भाति प्रिय जो जग माही। राम सोइ सर्वातम आही॥
देश काल का लेश न जामें। देश काल कल्पित है तामें॥
सोइ राम सब जगत अधारा। तहाँ होत सब सृष्टि पसारा॥

माया करत पसार सब, तामे बन्धत जीव।
राम रूप निज जानि के, होत अमल सुख शीव॥ १॥
शुद्धाहार विचार से, होत शुद्ध मन वृद्धि।
लहि विवेक वैराग्य तब, पाइय अछय समृद्धि॥ २॥
विष्णु विधाता शिव गणप, आदि ब्रह्म के नाम।
यह विचार सागर मता, लखि तिहि लहिय अनाम॥३॥

ॐ शम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

# विचार सागर के संक्षिप्त विषय विवरण

## प्रथम तरङ्ग ॥ १ ॥

मङ्गलाचरण और तद्विषयक शंका समाधान पूर्वक ग्रन्थ प्रयोजन प्रदर्शन । ( १ पृष्ठ से ८ पृष्ठ ) पर्यन्त है ॥

अधिकारी आदि अनुबन्ध और विवेकादि ज्ञान साधन का प्रदर्शन ( पृष्ठ १२ ) पर्यन्त है ॥

श्रवणादि का प्रदर्शन और अन्तरंग बहिरंग साधनों का विचार, सम्बन्ध विषय प्रयोजन प्रदर्शन और प्रयोजन विषयक शंका समाधान, मोक्ष में भावरूपता का प्रदर्शन पूर्वक गुरु प्रार्थनादि ( २१ पृष्ठ ) पर्यन्त है ॥ १ ॥

## द्वितीय तरङ्ग ॥ २ ॥

प्रथम तरङ्ग में प्रदर्शित अनुबन्ध के विशेष विचार की प्रतिज्ञा पूर्वक, पूर्वपक्ष रूप से मोक्षार्थक ज्ञान साधन मुमुक्षुता का खण्डन, तथा विषय प्रयोजन अधिकारी का खण्डन किया गया है । और अध्यास मूलक ( मिथ्या ) संसार हो तो ज्ञान से मोक्ष हो, परन्तु अध्यास के सामग्री आदि के असम्भव से संसार अध्यास मूलक ( मिथ्या ) नहीं है, अतः कर्मादि जन्य सत्य संसार की निवृत्ति के लिये कर्मादिक ही कर्तव्य हैं, ज्ञान से मोक्ष की आशा को त्यागना ही उचित है, ( २२ पृष्ठ से ३० पृष्ठ ) पर्यन्त कहा गया है । इसी में एक भविक वादादि का वर्णन है ॥

तहाँ यद्यपि भूत भौतिक रूप संसार में अन्तःकरण प्रमाता प्रमेयादि में सामान्य जीव के अध्यास मूलकता का असम्भव पूर्वपक्षी

कहता है। और सिद्धान्ती सब संसार को अध्यास मूलक सिद्ध करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु स्वयं सिद्धान्त में माया अविद्या जीवेश्वरादि को अनादि माना जाता है, ईश्वर से भूतों की सृष्टि मानी जाती है, महाप्रलय में भी सब वस्तु की सूक्ष्म कारण रूप से स्थिति मानी जाती है, मोक्ष पर्यन्त अन्तः करणादि उपाधि वाले जीवों की अनादि काल से स्थिति मानी जाती है, तो इस अवस्था में ये स्वरूप से अध्यस्त नहीं सिद्ध हो सकते हैं। तथापि तात्पर्य है कि ( सदेव सोम्येद मग्न आसीत् ) इत्यादि।

श्रुति के अनुसार सत् वस्तु रूप एक अद्वैत आत्मा ही सत्य है, षडनादि में भी पांच वस्तु परम सत्य निर्विकार कूटस्थ एक रस रहने वाले नहीं हैं, किन्तु अवस्थान्तर विकारादि युक्त होने से मिथ्या हैं। अर्थात् ( साक्षिणः पुरतो भाति लिङ्गं देहेन संयुतम्। चितिच्छाया समावेशाज्जीवः स्याद् व्यावहारिकः। वाक्य सुधा १६ ) साक्षी के आगे देह युक्त लिङ्ग ( सूक्ष्म शरीर ) अहं वृत्ति द्वारा भासता ( प्रकाशता ) है। सोई लिङ्ग देह ( आभास एव च। ब्रह्म सूत्र अ० २।३।५० ) इत्यादि शास्त्र के अनुसार चेतन के आभास ( दमक ) के समावेश ( प्रवेश ) से व्यावहारिक जीव होता है, उसके पारमार्थिक ब्रह्म स्वरूप के सत्य होते भी व्यावहारिक स्वरूप मिथ्या ही रहता है। अतः मोक्ष दशा में उसके अभाव से अध्यास मूलक उसके अनादि संसार का भी ज्ञान से ही अभाव होता है, कर्मादि से नहीं, क्योंकि कारण कार्य रूपता के भेद से अविद्या के दो स्वरूप होते हैं, तहाँ भाव स्वरूप मूलाविद्या ( माया ) के अंश ( अवस्था ) रूप व्यष्टि जीव की उपाधि रूप कारण रूप अविद्या कही जाती है, सो जीव का कारण शरीर है। और ( अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ) इत्यादि में वर्णित विपरीत बुद्धि भ्रान्ति ज्ञान रूप कार्याविद्या होती है, और यही अविद्या अध्यास स्वरूप स्वविषय सहित कही जाती है, और

इस अध्यास का नाशक ज्ञान ही कारण रूप अविद्या का नाशक भी होता है, अतः आत्म ज्ञान से मूल सहित व्यष्टि रूप जन्मादि संसार का नाश होता है, और ईश्वर रचित संसार में भी मिथ्यात्व का निश्चय पूर्वक सत्याद्वैतात्मज्ञान से प्रबल रागद्वेषादि के अभाव द्वारा जीवन्मुक्ति पूर्वक विदेह मुक्ति की सिद्धि होती है, अतः इस विचारादि से अधिकारी आदि के सम्भव होने से ज्ञानार्थक ग्रन्थ का आरम्भ युक्त है। कारण है कि अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही है, कर्मादि ज्ञान के हेतु हैं, यह बात दूसरी है, परन्तु साक्षात् कर्म से जन्मादि संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती है, इत्यादि ॥

यहाँ तात्पर्य यह है कि अविद्या ( अज्ञान ) शब्द का अर्थ ज्ञान के प्रागभावादि नहीं है, किन्तु ब्रह्मात्मा के असत्त्वापादक, अभाना-पादकादि अंश सहित तम तुल्य भावस्वरूप और विपर्यय ज्ञान स्वरूप अज्ञान है। अत एव श्रुति कहती है कि ( नासदासीन्नोसदासीत् आसी-दिदं तमोभूतम् ) महाप्रलय में ( सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ) इत्यादि श्रुति के अनुसार, सत् ब्रह्म तो था ही परन्तु ब्रह्म से अन्य कार्य कारण रूप सदसत् नहीं थे, किन्तु तम ( अज्ञान ) में लीन सब था, इसीसे अज्ञान में अनिर्वचनीयता भी सिद्ध हो जाती है, और ज्ञानाभाव के अभाव रूप ज्ञान स्वयम् उत्पन्न होता है। सो ज्ञान ( अज्ञानेनावृतं ज्ञानम् ) इत्यादि वचन के अनुसार ज्ञान स्वरूप को आवृत्त करने वाले अज्ञान को ( ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितम् ) इत्यादि वचन के अनुसार उत्पन्न होने पर नष्ट करता है जिससे अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष की सिद्धि होती है, क्योंकि नित्य प्राप्त मोक्ष भी अज्ञान ही से अप्राप्त सा है। कर्म से यह मोक्ष साक्षात् नहीं हो सकता है, क्योंकि कर्म स्वयं अविद्यामय होता है, सो अन्यत्र विस्तार से वर्णित है। संचित् परस्पर विरुद्ध कर्मों का एक जन्म में भोग

नहीं हो सकता, इससे एक भविकवाद असङ्गत है। अतः किसी प्रकार भी ज्ञान के बिना भोग वा कर्मादि से संसार बन्धन की निवृत्ति= मुक्ति नहीं हो सकती है ॥

यदि यहाँ कहा जाय कि कर्मादि से बन्ध हेतु कर्म की निवृत्ति नहीं हो सकती, तो नित्यादि कर्मों से निष्काम के भी अन्तः करण की शुद्धि नहीं होगी, क्योंकि प्राक्तन पापकर्म जन्य अधर्म की निवृत्ति ही तो शुद्धि कही जाती है। तो यह कहना अविवेक मूलक है, क्योंकि, किसी फल साधनादि की उत्पत्ति १ प्राप्ति २ विक्लिति ( विकार ) ३ मल निवारण रूप संस्कृति ( संस्कार ) ४ और गुणाधान रूप संस्कार ५ ये पाँच प्रकार के कर्म फल होते हैं। सो शारीरक शांकर भाष्य में प्रदर्शित हैं, और विचार सागर में भी उदाहरण सहित वर्णित हैं। उन पाँचों प्रकार के कर्म फलों के लिये कर्म भी पाँच प्रकार के होते हैं, सब कर्म से सब फल नहीं होते हैं, तहाँ निष्काम नित्य नैमित्तिक और प्रायश्चित्त कर्म भक्ति आदि से कुवासना पापादि मल की निवृत्ति रूप निर्मलता अन्तः करण में अवश्य होती है, कि जो मल उद्बुद्ध होकर ज्ञान साधन विवेक वैराग्य शमादि के विरोधी रहते हैं, अतः ज्ञान के प्रतिबन्धक कहे जाते हैं ॥ परन्तु जन्मान्तर, लोकान्तर के हेतु, तथा अन्तः करण के कामादि विकारादि के हेतु कर्मों की निवृत्ति किसी कर्मादि से नहीं हो सकती है, उनकी निवृत्ति भोग से वा ज्ञान से ही हो सकती है, तहाँ अनन्त परस्पर विरुद्ध फल के हेतु संचित उन कर्मों की निवृत्ति कर्म से वा एक शरीर के द्वारा भोग से नहीं हो सकती है, क्योंकि कर्म और भोग काल में अन्य भी बन्धप्रद कर्म सिद्ध हो जाते हैं। और निष्काम कर्मादि जन्य शुद्धान्तःकरण में विवेकादि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होने पर तो, कर्म मूल अविद्यादि सहित कर्म निवृत्त हो जाते हैं, अतः भावी कर्म की सिद्धि नहीं होती है, प्रारब्ध की भोग से निवृत्ति होती है, संचित कर्म भूने बीज के समान रहते भी हैं, तो विदेह मोक्ष काल

में शरीरादि सहित ब्रह्म में लीन होते हैं। अथवा ज्ञानी के भक्त और अभक्तों से उनके फल उपभुक्त होते हैं। अतः कहा गया है कि ( जैसे भूने अन्न में, उद्भवता भइ लीन। तैसे ज्ञानवान की; भई जगत मति लीन ॥ १ ॥ )।

और कहा गया है कि काष्ठ गत अग्नि तुल्य विभु सर्वात्म चेतन तो अज्ञान कर्मादि का विरोधी नहीं है, अतः अध्यासादि की सिद्धि अज्ञान दशा में होती है, और उसकी निवृत्ति के लिये विवेकादि युक्त जिज्ञासु तथा अनुबन्ध की भी सिद्धि होती है, और ज्ञान से बन्ध की निवृत्ति रूप ग्रन्थ का प्रयोजन सिद्ध होता है, अतः ग्रन्थ का आरम्भ युक्त है, इत्यादि अर्थ का (३१ से ४३) पृष्ठ तक प्रतिपादन है ॥ २ ॥

## तृतीय तरंग ॥ ३ ॥

द्वितीय तरङ्ग के अन्त में गुरु को सत् सुख परम प्रकाश स्वरूप कहा गया है, उस गुरु के लक्षणादि को ही प्रधान रूप से तृतीय तरंग में दर्शाया गया गया है। तहाँ भाव है कि प्राणी के लिये प्रेय ( सांसारिक सुख और सुखसाधन ) और श्रेय ( मोक्ष मौर मोक्ष साधन ) ये दो वस्तु प्राप्त करने के योग्य होती हैं, तहाँ मनुष्य से अन्य पशु आदि को तो केवल प्रेय ही प्राप्तव्य रहते हैं, उसमें गुरु शास्त्रादि की भी आवश्यकता नहीं होती है, तत्तद् योनियों के अनुसार स्वाभाविक प्रवृत्ति से उन्हें प्रेय की प्राप्ति होती है, अन्तर्यामी, सत्ता प्रकाशादि रूप से ईश्वर उनकी प्रेय की प्राप्ति में सहायक अवश्य रहते हैं। अतः पशु को तैरने को कोई उपदेश नहीं देता है, परन्तु सब पशु पानी में तैरना स्वभाव से ही जानते हैं। तथा अपने भक्ष्यादि को विना उपदेशादि के ही पहचानते हैं। परन्तु मनुष्य में ऐसी बात नहीं है, मनुष्य प्रेय श्रेय दोनों के अधिकारी हैं, परन्तु गुरु शास्त्रादि से ही अपने प्रेय और श्रेय को पूर्ण रीति से समझ पाते हैं, अन्यथा नहीं,

तहाँ भी प्रेय का ज्ञान तो साधारण माता पिता आदि रूप गुरु से भी होता है, परन्तु श्रेय का ज्ञान परम उत्तम गुरु परम सत शास्त्र से विवेकादि युक्त ज्ञानाधिकारी को ही होता है। अतः इस तरंग में शिष्य का लक्षण भी कहा गया है, और प्रथम तरंग में गुरु को ( सत् सुख परम प्रकाश ) स्वरूप कहा गया है और ज्ञानी गुरु से वेदाध्ययन गुरु भक्ति तनु मन धनादि के अर्पणादि का विधान किया गया है ( ४४ ) से ५३ पृष्ठ ) पर्यन्त ) इन अर्थों का विधान हैं। क्योंकि श्रुति कहती है कि ( आचार्यवान् पुरुषो वेद। छा. ६ । १५ । २ ॥ सगुरुमेवाभि गच्छेत्। मु. १ । २ । १२ । श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः। कठ. १।२।२ इत्यादि। आचार्य ( श्रेष्ठगुरु ) वाला मनुष्य ही परम तत्व को समझता है। वह जिज्ञासु अन्य संगादि को त्याग कर भेट सहित गुरु शरण में ही प्राप्त हो, क्योंकि मनुष्य को ही श्रेय और प्रेय दोनों प्राप्त होते हैं, सो गुरु आदि से प्राप्त होते हैं। इत्यादि ॥ ३ ॥

## चतुर्थ तरंग ॥ ४ ॥

चतुर्थ तरङ्ग में कल्पित कथा के आरम्भ की प्रतिज्ञा करके कथा का आरम्भ है, तहाँ पूर्ण विवेकादि युक्त उत्तम अधिकारी को तत्त्वदृष्टि कहा गया है। और अनुदरा ( अल्पोदरा ) कन्या, इत्यादि के समान अल्पविवेकादि दृष्टि वाले को अदृष्टि कहा गया है, और कुतर्कादियुक्त दृष्टि वाले को तर्कदृष्टि कहा गया है। इसी से क्रम से उत्तम मध्यम और कनिष्ठ ज्ञान के तीन अधिकारी रूप उपदेश के पात्र स्थापित हुये हैं। फिर शुभ सन्तति के विचार का और उन पात्रों के विचार का तथा गुरु के अन्वेषणादि का वर्णन ( ५४ पृष्ठ से ५६ ) पृष्ठ तक है। फिर आनन्द स्वरूप आत्मा का उपदेश प्रश्न पूर्वक ( ६४ ) पृष्ठ तक है। क्योंकि सच्चिदानन्द से सृष्टि होती है, सो कारण स्वरूप आत्मा

स्वरूप से सब में अनुगत है, विषयादि इष्ट वस्तु की प्राप्ति से उसी आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। आगे सत्यानन्द स्वरूप में अज्ञान (माया) सिद्ध जगत् को मिथ्या समझाने के लिये, असत् ख्याति आदि का वर्णन पूर्वक अनिवर्चनीय ख्याति का वर्णन ७१ पृष्ठ तक है। फिर मिथ्या जगत् का आधार अधिष्ठान और द्रष्टा स्वरूप निजात्मा को हीं दर्शाया गया है। और जन्मादि रूप से आत्मा में मिथ्या प्रतीयमान जगत् की निवृत्ति का साधन आत्म ज्ञान ही है, क्योंकि आत्मा के जन्मादि नहीं होते हैं। किन्तु अज्ञान से प्रतीत होते हैं। अतः इनकी ज्ञान से निवृत्ति होती है। और वह आत्मा सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप है, ऐसा निश्चय (अनुभव) का नाम ज्ञान है। तहाँ जीव ब्रह्म की एकता विषयक संशय होने पर चतुर्विध आकाश के दृष्टान्त पूर्वक चतुर्विध औपाधिक भेद को आत्मा में दर्शाय कर, सत्य अद्वैत ब्रह्मात्मा का (६५) पृष्ठ तक उपदेश दिया गया है। और कर्मफल भोक्ता तथा कर्म फलदाता के स्वरूपादि का वर्णन, और चिदाभास रूप जीव के अज्ञानादि रूप सात अवस्थाओं को दर्शाया गया है॥ फिर अहं ब्रह्मास्मि, इस प्रकार के ज्ञान के मर्म दर्शाय कर, प्रमाणों के भेद प्रदर्शन, अवच्छेद आभासादिवाद के भेद प्रदर्शन पूर्वक शब्द जन्य ब्रह्मात्म ज्ञान की अपरोक्षता की रीति को दर्शाय कर उत्तम अधिकारी के उपदेश को समाप्त किया गया है॥ ४॥

## पञ्चम तरंग॥ ५॥

चतुर्थ तरंग के अन्त में निरावरण ब्रह्म स्वरूप गुरु को कहा गया है, परन्तु मध्यम अधिकारिता के कारण उसके आशय को नहीं समझ कर शिष्य ने शंका किया कि मिथ्या गुरु से भव दुःख की निवृत्ति नहीं होनी चाहिये, इत्यादि। और अद्वैत वाद में अप्रमाणता दर्शाता हुवा द्वैत वाद को प्रामाणिक शिष्य ने कहा, तब गुरु ने अद्वैत वाद को

प्रामाणिक बतायकर, एक सौ १२४ चौवीस पृष्ठ तक द्वैत प्रतीति को दुःखद दर्शाया है ॥ और उसी पृष्ठ में द्वैत वाद के स्मरण चिन्तन को भी दुःखद दर्शाने के लिये भर्छू की कथा का आरम्भ हुआ है। भर्छू की चर्चा संक्षेप शारीरक में है, उसका यहां विशद वर्णन किया गया है। तहां संसार की असारता और वैराग्यादि ब्रह्मलोक पर्यन्त सुख की प्राप्ति का वर्णन १२४ एक सौ चौबीस पृष्ठ से आगे किया है, सो विवेकादि के उपयोगी है। फिर विरागादि के लिये ही १३० एक सौ तीस पृष्ठ से, स्त्री सङ्ग दुःख का वर्णन, पुत्र दुःख का वर्णन, धन सङ्ग दुःख का वर्णनादि किया गया है। और १३९ पृष्ठ में भेद वादी के वचन के श्रवणादि के निषेध का उपदेश है। और १४० पृष्ठ से मिथ्या ( व्यावहारिक ) गुरु वेद से मिथ्या दुख की निवृत्ति को समझाने के लिये एक राजा की स्वप्न कथा का आरम्भ हुवा है। १४४ पृष्ठ से त्रिविध सत्ता, जगदुत्पति, भूतेन्द्रियादि की उत्पत्ति, पञ्चीकरणादि का वर्णन है। १६१ पृष्ठ से पञ्च कोशवर्णन कोशरूप देहेन्द्रियादि में ही आत्मवाद का वर्णन है। १६९ पृष्ठ से आत्म विवेक का वर्णन है। १७५ से लयचिन्तन का प्रकार है। १७९ से प्रणव द्वारा अहंग्रह ध्यान का वर्णन है। १८३ में त्रिपुटी वर्णन है। १८४ में विराट् विश्वादि के अभेद का वर्णन है। १८७ में लयचिन्तन का वर्णन है। १८९ में लयचिन्तन का फल प्रदर्शन, तथा ब्रह्मलोक के मार्ग क्रमादि दर्शाये गए हैं फिर अन्त में अधिकारी भेद से उपासना कर्म भेद के प्रदर्शन पूर्वक तरंग समाप्त हुवा है ॥ ५ ॥

## षष्ठम तरंग ॥ ६ ॥

प्रथम वेद और गुरु को मिथ्या कहा गया था, परन्तु पञ्चम तरंग के अन्त में ओंकार की अहंग्रह उपासना के विधान से ओंकार का सर्वात्मा सत्य स्वरूप से उपदेश द्वारा सर्व वेद को परमार्थ रूप से

सत्य समझाया गया है, क्योंकि ओंकारमूलक ओंकार स्वरूप ही सब वेद हैं। और गुरु को सुदृष्टि ( सुप्रकाश ) विधायक कहा गया है। तहाँ असत ( मिथ्या ) वस्तु जड़ होती है। उससे सुदृष्टि हो नहीं सकती, अतः गुरु का भी परमार्थ स्वरूप सत्य हो सिद्ध होता है। तथापि सब अनात्म पदार्थ के प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक त्रिविध स्वरूप होते हैं। तहाँ एक पारमार्थिक स्वरूप में अन्य दो स्वरूप कल्पित रहते हैं और स्वप्न भ्रम काल के पदार्थ प्रातिभासिक कहाते हैं, जाग्रत व्यवहार काल के व्यावहारिक कहाते हैं, परन्तु कल्पितत्व, दृश्यत्व, जन्यत्व, विनाशित्व, परिच्छिन्नत्व हेतु से दोनों मिथ्या होते हैं, तहाँ प्रायः मनुष्य स्वप्न भ्रम काल में भासित ( ज्ञात ) वस्तु को मिथ्या समझते हैं। परन्तु जाग्रत के पदार्थ को मिथ्या नहीं समझते हैं, उस मिथ्यात्व को समझाने के लिये प्रथम चेतन भिन्न अनात्म वस्तु को स्वप्न तुल्य मिथ्या कहा गया है, सो सुनकर अदृष्टि नामक मध्यम शिष्य भी विचार ध्यानादि से संसार को मिथ्या और अद्वैत सत्यात्मा को समझकर मौन धारण कर लिया, परन्तु तर्क दृष्टि ने स्वप्न को भी मिथ्या नहीं समझने के कारण शंका किया कि जाग्रत की वस्तु की ही स्वप्न में स्मृति होती है। अथवा स्थूल को छोड़कर लिङ्ग सहित जीवात्मा बाहर जाकर सत्य वस्तु का ही अनुभव करता है। अतः स्वप्न की वस्तु मिथ्या नहीं हैं, तो उनके दृष्टान्त से जाग्रत की वस्तु कैसे मिथ्या हो सकती है, इत्यादि ॥

इस शंका का समाधान किया गया है, कि स्वप्न में साक्षात् वस्तु के दर्शन श्रवणादि प्रतीत होते हैं, और स्वप्न काल में शरीर जीवित रहता है। अतः स्मृति रूप वा बाह्य दर्शनादि रूप स्वप्न नहीं हो सकता है, किन्तु मिथ्या त्रिपुटी की अविद्या से उत्पत्ति होती है, तैसे ही संसार की माया से उत्पत्ति होती है, अतः यह मिथ्या ही है, इत्यादि उपदेश १६८ से २१० पृष्ठ तक है। फिर वहाँ से दृष्टि

सृष्टिवाद का प्रदर्शन शुरू हुवा है। २२३ पृष्ठ में संसार की अनादिता का प्रश्न है, २२५ में उत्तर है कि अगृध देव के स्वप्न की अनादिता के तुल्य संसार की अनादिता भी मिथ्या ही है। अर्थात् वस्तु के मिथ्या रहते उसके धर्म सत्य नहीं हो सकते हैं। अगृधदेव को स्वप्न में स्वर्ग नरकादि संसार दीख पड़े, फिर संसार से मोक्ष की इच्छा हुई, फिर गुरु मिले गुरु ने देव वानी में उन्हें उपदेश दिया, तैसा ही यह जाग्रत का व्यवहार है। और उस देववाणी के अनुवाद रूप भाषा ग्रन्थ के आदि में त्रिविध मङ्गलाचरणादि २२९ पृष्ठ से किया गया है। २३२ पृष्ठ में अगृध देव का आत्म विषयक प्रश्न पूर्वक, सतचित् आनन्दादि स्वरूप आत्मा का उपदेश है, और उस आत्मा के सदादि स्वरूप की सिद्धि के लिये सांख्यादि मत से आत्म स्वरूप का प्रदर्शन पूर्वक उसका खण्डन किया गया है। २५५ पृष्ठ में जगत् कर्ता ईश्वर का वर्णन है, २५९ पृष्ठ में मोक्ष के हेतु ज्ञान को कहा गया है, और कर्म फल के प्रदर्शन पूर्वक मोक्ष में कर्मोपासना जन्यता का निषेध किया गया है। तथा समुच्चयवाद का खण्डन किया गया है, और दृढ़ ज्ञान के कर्मादि विरोधी नहीं हैं, परन्तु अदृढ़ ज्ञान के कर्मोपासना ( भेदबुद्धि ) विरोधी हैं। अतः उत्तम जिज्ञासु तथा मन्दबोध वाला दृढ़-बोध चित्त की एकाग्रता आदि के लिये भी वेदान्तार्थ के चिन्तन अभ्यास ही करे, इत्यादि अर्थ का वर्णन २७६ पृष्ठ पर्यन्त है। फिर भाषा के सम्प्रदाय और उक्त अर्थ वैराग्यादि का पुनः प्रदर्शन पूर्वक २८३ पृष्ठ में लक्षणा की चर्चा करके २८४ पृष्ठ से शक्ति और लक्षणा का वर्णन है, तहाँ भाग त्याग लक्षणा से ही अद्वैत ब्रह्मात्मा के ज्ञान का निश्चय कराया गया है ॥ ६ ॥

## सप्तम तरंग ॥ ७ ॥

षष्ठतरंग के अन्तिम वर्णनादि से यह निश्चय कराया गया है कि उत्तम अधिकारी में पूर्ण विवेकादि की वर्तमानता से ( तुमसच्चिदानन्द

ब्रह्म स्वरूप हो ) ऐसा उपदेश सुनने पर वह शीघ्र ही उस वाक्य मात्र से अपरोक्ष विविक्त निजात्म स्वरूप को ब्रह्म स्वरूप समझ जाता है, क्योंकि वह विवेक द्वारा प्रथम से ही जानता है कि ( क्षुधापिपासा प्राणस्य मनसः शोकमोहकौ। जन्ममृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः ) प्राण निरोध काल में भूख प्यास नहीं लगती है, अतः अनिरुद्ध प्राण के भूख प्यासादि धर्म हैं। मन के विलय अवस्था में शोक मोह काम क्रोधादि नहीं होते हैं, अतः ये अविलीन मन के धर्म हैं। और शरीर रहित जीवात्मा में जन्म जरा मरणादि विकार नहीं भासते हैं। अतः जन्मादि सब विकार स्थूल देह के धर्म हैं, जीवात्मा के नहीं, अतः आत्मा वस्तुतः शिव स्वरूप है, परन्तु वह ब्रह्मभिन्न है, वा अभिन्न है, एक है, वा अनेक इत्यादि संशय रहता है। सो पूर्ण श्रद्धा पूर्वक परम प्रमाणरूप वेदादि के वाक्यों को सुनते ही सब संशय नष्ट हो जाते हैं, और ब्रह्माभिन्न अपरोक्षात्मा का निश्चय हो जाता है, और वह उत्तम अधिकारी समझता है कि जहाँ तक अपना मन जाता है, तहाँ तक अपने मन को सत्ता प्रकाश देनेवाली निज सत्य स्वरूप ज्योति अवश्य रहती है, क्योंकि अन्य स्वरूप ज्योति से अपने को दूर के पदार्थों का अनुभव नहीं हो सकता है, और सूर्यादि दूर देश पर्यन्त निज स्वरूप ज्योति के उक्तरीति से सिद्ध होने पर आगे विच्छेद में प्रमाण के अभाव से, और उसी के अपरिच्छिन्न ब्रह्म स्वरूपता में वेद गुरु वचन के प्रमाण होने से निजात्मा विभु ब्रह्म स्वरूप है, ऐसा अनुभव उत्तम अधिकारी को गुरु वाक्य श्रवण विचार मात्र से होता है ॥

और मध्यम अधिकारी को श्रवण के वाद मनन निदिध्यासन ( ध्यान ) उपासना आदि करने पर अपरोक्ष अनुभव होता है ॥ और कनिष्ठ अधिकारी को पद की शक्ति आदि का विचार, अनेक दृष्टान्तादि का श्रवण, सत्सङ्गादि करने पर अपरोक्षानुभव होता है।

तहाँ उत्तम अधिकारी आत्म अनुभव करके शीघ्र ही जीवन्मुक्ति दशा को प्राप्त करके सांसारिक व्यवहारादि के नियमात्मक बन्धनों से भी विमुक्त हो जाता है, इत्यादि आशय से ( सप्तम तरङ्ग में प्रथम सब संशयादि रहित जीवन्मुक्त तत्त्व दृष्टि के नियम रहित व्यवहार का वर्णन किया गया है ) ।। और ज्ञानी के व्यवहार में भी नियमवादी के मत का प्रदर्शन कराय कर, उसका खण्डन पूर्वक, ३१८ पृष्ठ से ३३४ पृष्ठ तक अनियमवाद का वर्णन है ।। इसी मध्य में, समाधि के अङ्ग का वर्णन, समाधि के भेद का वर्णन, समाधि के विक्षेपादि विघ्न का वर्णन सुषुप्ति से समाधि का भेद वर्णनादि भी आय गये हैं ।।

पृष्ठ ३३४-३३५ मे मध्यमोत्तमाधिकारी के देह पात की रीती कही गई है ।।

फिर उससे आगे तर्क दृष्टि के निश्चय का, विद्या के अष्टादश-प्रस्थानों का और सर्वशास्त्र की ज्ञान हेतुता का वर्णन है ।। पृष्ठ ३४० में न्याय वैशेषिक सूत्र का फल प्रदर्शन है । ३४१ में स्मृति शास्त्र के कर्ता आदि का वर्णन है । फिर सांख्य, योग, नारदपाञ्चरात्र, शैव, वाममार्गादि का वर्णन है । पृष्ठ ३४७ से शुभसन्तति के चिन्तादि का वर्णन, देवोपासक की कथा, और पिता के प्रति तर्कदृष्टि के उपदेशादि का वर्णन तरङ्ग की समाप्ति पर्यन्त है ।।

सप्तम तरङ्ग के अन्तिम कथा का तात्पर्य प्रतीत होता है कि यद्यपि, शुभ सन्तति, राजा को प्रथम विचारादि से ( त्यागि लखूं निज रूप सुखारा ) इस कथन के अनुसार आनन्द स्वरूप आत्मा को, राज्यादि के त्याग पूर्वक जानने की इच्छा हुई, और ( शुभ सन्तति पितु सो बड़ भागा ! भयो प्रथम जिहि मन्द विरागा ) इस कथन के अनुसार उसको प्रथम मन्द विराग भी हुआ, परन्तु पुत्रों के घर से निकल जाने से चिन्ता हुई कि जिससे मन्द विराग भी मन्दतर हो

गया, आनन्द स्वरूप आत्मा को जानने की इच्छा तो चली ही गई, क्योंकि राज्य कार्य के भार के शिर पर रहते, नित्यानन्द स्वरूप आत्मा के अनुभव की सम्भावना नहीं रही, और ( चिन्ता साँपिनि काहि न खाया । को अस जाहि न व्यापै माया ) चिन्ता रूप सर्पिनी डाकिनी किसके सुख शान्ति सुमति को नहीं खाती है, अर्थात् सब के सुखादि को नष्ट करती है, और सुमति के नष्ट होने पर, ऐसा कौन है कि जिस को माया नहीं व्यापती है, अर्थात् सुमति के बिना सबको माया ( अविद्या ) जन्य मोह ( आसक्ति ) ममता, रागादि व्यापते हैं, अतः शुभसन्तति को भी मोहादि घेर लिये, परन्तु बड़भागी ( पुण्यात्मा ) होने के कारण, आत्मज्ञान की इच्छा के मिटने पर भी उपास्य ध्येय देव की जिज्ञासा हुई कि कौन ऐसा देव है कि जिसके ध्यानादि गृह में रहते ही करूं, और उसके द्वारा सब शुभ पुरुषार्थ को प्राप्त करूं इत्यादि ।। फिर उसने सभा की, पण्डितो को बोलाया, और वह प्रथम भी पुराण दर्शनादि का श्रवणादि किया था, परन्तु उपास्य देव का निर्णय नहीं कर पाया था, अतः पंणितों से निर्णय के लिये प्रश्न किया तो अनेक सम्प्रदाय के अभिमानी पण्डित, पक्षपात ग्रस्त होने के कारण स्वयं अविवेक से झगरने लगे, इससे राजा को निर्णीत उपास्य का उपदेश नहीं दे सके, फिर पक्षपात रहित विज्ञ निज पुत्र तर्क दृष्टि के भाग्यवश मिलने पर, सब देवों के एक देव को उपास्य समझकर, राजा ने अपने पुत्र को ही गुरु माना, और भेटरूप में राज्य का समर्पण किया, क्योंकि ( अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ) अज्ञ बालक होता है, और मन्त्र सदुपदेश देनेवाला पिता होता है, वह पुनर्जन्मादि रहित जीवन्मुक्तिमय जन्म का कर्ता होता हैं, इत्यादि शास्त्र का निर्घोष है ।।

**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।**
**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।**

ऋग्वे० अष्ट० २ अ० ३ । व० २२ ) ॥

इस सूर्य रूप से प्रकट सत्य ब्रह्म को इन्द्र, मित्र, वरुण, और अग्नि कहते हैं। तथा इस अग्नि देव को इन्द्रादि कहते हैं। और सूर्य तथा अग्नि देव दिव्य ( दिव् आकाश में होनेवाला ) सुपर्ण ( सुपतन-सुगतिमान् ) और गरुत्मान् ( गरणवान्=गुरुआत्मा पत्नवान् ) हैं। इस प्रकार एक सद् ( ब्रह्म ) सत्य महानात्मा अग्नि ( ईश्वर ) को विप्र बहुत प्रकार से कहते हैं, अग्नि, यम और मातरिश्वा भी कहते हैं ॥

इत्यादि शास्त्र के अनुसार अनेक नामवाले देव वस्तुतः एक देव-देव स्वरूप हैं, अतः उस एक देव देवकी ही उपासना किसी नामादि विशेष द्वारा कर्तव्य है, और की जाती है, यदि ऐसा ज्ञान हो तो किसी की निन्दा की आवश्यकता नहीं है, अपने इष्ट की स्तुति उपासना रूप में भले ही कर्तव्य है, परन्तु निन्दा नहीं, अतः निन्दा अज्ञान से ही की जाती है, ऐसी प्रतीति होती है। और देव की पूर्ण उपासना से सब उपासक को एक ब्रह्म लोक की प्राप्ति प्रथम कही गई है, तथा कहा गया है कि एक ही लोक और वहाँ के निवासी, सब उपासकों को वहाँ प्राप्त होने पर अपने-अपने उपास्य के लोक रूप से और अपने इष्ट चतुर्भुज त्रिनेत्रादि रूप से दीख पड़ते है, परन्तु ऐसा भ्रम वा स्वप्न काल में ही हो सकता है, ऐसा किसी श्रेष्ठ लोक का श्रेष्ठ माहात्म्य नहीं हो सकता है, क्योंकि एक रज्जु में भ्रम काल में किसी को सर्प किसी को दण्ड किसी को माला आदि दीख पड़ते हैं, परन्तु भ्रम के निवृत्त होने पर सबको रज्जु ही दीखती है, अतः स्वप्न भ्रम स्वरूप ब्रह्म लोक को दर्शाने के लिये उक्त कथन हो सकता है कि जिससे ( ब्रह्म लोक लो भोग जो, चहै सबन को त्याग ) इत्यादि वैराग्यार्थक उपदेश की दृढ़ता हो ॥ शारीरक में भी ब्रह्म लोक वासी के व्यावहारिक शरीर इन्द्रियादि के अभाव काल में ( तन्वभावे

सन्ध्यवदुपपत्तेः ।४।४।१३ ) इस सूत्र से स्वप्न के समान, ब्रह्म लोक के सब व्यवहार और भोगादि को कहा गया है। और ( भावे जाग्रद्वत् । १४ ) देहेन्द्रियादि की व्यावहारिक सत्ता काल में यहाँ के जाग्रत कालिक व्यवहार भोगादि के समान ब्रह्मलोक में भी भोगादि होते हैं, सो प्रायः संकल्प वासनादि के अनुसार होते हैं। अतः ( शैवस्य योगो नो योगो वैष्णवस्य पदस्य यः । न योगो भूप ! सूर्यत्वं चन्द्रत्त्वं न कुवेरता । गणेशगीता० अ० १।१० ) शैव वा वैष्णव पद का योग ( प्राप्ति ) वस्तुतः योग नहीं है, और कर्म फल भूपत्व के समान सूर्यत्व, चन्द्रत्व, कुवेरता आदि भी योग ( सत्तत्व की प्राप्ति ) नहीं है ॥ इसी श्लोक के नीलकण्ठी व्याख्या में ब्रह्मलोक से अन्य लोकों को अवैदिक कहा गया है, तथा शैव वैष्णव भाव को भावना कार्यत्व कहा गया है, अतः ईश्वर सृष्टि गत ब्रह्मलोक से अन्य ही तत्तद् देव के कल्पित लोकादि प्रतीत होते हैं। तथा तत्तद्देवेपासक प्रायः प्रतीकोपासक होते हैं, और शारीरक में प्रतीकोपासक की ब्रह्मलोक में प्राप्ति का अभाव कहा गया है, और अहंग्रहोपासना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही गई है। परन्तु सरल चिन्तवाले अहंग्रहोपासना रहित भक्त सन्त की भी ब्रह्मनाड़ी से प्रायः उत्क्रान्ति सुनी जाती है। अतः महात्मा निश्चल-दासजी महाराज की उक्ति यहाँ उक्त लोक श्रुति और पुराणादि की आदर दृष्टि से है, ऐसा विचार कर तत्त्वार्थ को गुरु से समझना चाहिये ॥ अत एव विदेह मोक्ष में प्राप्य सर्व में अनुगत ब्रह्म स्वरूप गुरु का निर्देश पूर्वक ग्रन्थ को समाप्ति की गई है, कि जो किसी परिच्छिन्न लोकादि निवासी नहीं हैं, और सर्वत्रोपलब्ध होनेवाले, तथा निज सत्यानन्दस्वरूप शिष्य को बनाने वाले हैं ॥

ॐ शम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

# विचार सागर के शुद्धि पत्र

| अशुद्ध | शुद्ध | पृष्ठ | पंक्ति |
|---|---|---|---|
| मङ्गाचरण | मङ्गलाचरण | १ | ३ |
| लक्षणार्थ | लक्ष्यार्थ | ३ | २२ |
| कूढ़स्थ | कूटस्थ | ऽऽ | ऽऽ |
| पारलालौ | पारलौ | १० | ९ |
| निन्न | भिन्न | ,, | १७ |
| प्रकाप | प्रकार | १२ | ११ |
| कमं | कर्म | १३ | १६ |
| अयरोक्ष | अपरोक्ष | १५ | ५ |
| हाता है | होता है | १९ | १८ |
| निवृत्ति | निवृत्त | ,, | ,, |
| निवृत्त | निवृत्ति | ,, | १९ |
| दोनों का | दोनो को | २७ | ७ |
| ( ररसी ) | ( रस्सी ) | २८ | २ |
| समान्य | सामान्य | ,, | १९ |
| सन्ततः | सन्तत | २९ | २ |
| श्राद्धदि | श्राद्धादि | ,, | १२ |
| ( कारीरा ) | (कारीरी) | ,, | १७ |
| हाने | होने | ,, | २० |
| कर्गों | कर्मों | ,, | २५ |
| सबंकर्म | सर्वकर्म | ३१ | १ |
| भोगा | भोग | ,, | ९ |
| उत्तार | उत्तर | ,, | २६ |
| हाती है | होती है | ३३ | १३ |
| ज्ञात ग्रन्थ | ज्ञान ग्रन्थ | ३४ | ९ |
| हाता | होता | ३७ | १९ |
| संसकारादि | संस्कारादि | ३८ | ६ |
| लाग भी | लोग भी | ३९ | २ |
| सुपुप्ति | सुषुप्ति | ,, | १४ |
| पुरुषार्स | पुरुषार्थ | ४१ | २० |
| वासता | वासना | ,, | ,, |
| ता भोगे | तो भोगे | ४२ | ५ |
| रहिन | रहित | ,, | ११ |
| भागसात्रहाता, | भोगमात्रहोता | ,, | १२ |
| प्रकासित | प्रकाशित | ४३ | १३ |

| अशुद्ध | शुद्ध | पृ० | पं० | अशुद्ध | शुद्ध | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ग्रन्थ का | ग्रन्थ को | ४४ | ४ | पुष्य | पुष्प | ,, | २१ |
| हैं, इस कारण, | इस कारण | ४७ | १३ | अभास | आभास | ८५ | १९ |
| पठा गया | पढ़ा गया | ,, | १८ | वाच्चार्थ | वाच्यार्थ | ८८ | १९ |
| इत्यदि | इत्यादि | ,, | २१ | चित्त | चित | ,, | २३ |
| तुल्प | तुल्य | ५० | ३ | ईश्वर को | ईश्वर का | ८९ | १४ |
| अनजान | अजान | ५६ | १२ | अइ ब्रह्म | अहं ब्रह्म | ९३ | २२ |
| निकस्या | निकस्यो | ५७ | ६ | पह वेष | यह वेष | ९४ | १४ |
| सशय | संशय | ५८ | १५ | भगवान् | भगवन् | ९५ | १७ |
| कमं | कर्म | ,, | २२ | आर | और | १०१ | २५ |
| कहा | कहो | ,, | २३ | अनुस्मृति | मनुस्मृति | १०२ | १४ |
| उसा को | उसी को | ५९ | १७ | कारण को | करण को | १०३ | २३ |
| दाषों | दोषों | ६७ | ३ | अवछिन्न | अवच्छिन्न | १०६ | ४ |
| मूतं | मूर्त | ६८ | ९ | सवत्र | सर्वत्र | १०९ | १६ |
| भाष्य | भास्य | ६९ | १३ | वशिष्ट | विशिष्ट | ,, | २२ |
| किसी का | किसी को | ,, | २२ | कहा | कहो | ११० | २० |
| साङ्ग्प्य | साङ्गाप्य | ७० | २३ | मूतों | भूतों | ११२ | २० |
| हौवै | होवै | ७३ | २० | शिद्ध | सिद्ध | ११३ | ३ |
| का सप | को सर्प | ७४ | ५ | हाती | होती | ,, | १८ |
| अज्ञा | अज्ञान | ७६ | १७ | परमार्थिक | पारमार्थिक | ११७ | २३ |
| चेतम | चेतन | ७९ | १९ | अर्थ का | अर्थ को | १२१ | १५ |
| अभास | आभास | ८१ | १६ | अन्याऽसा | अन्योऽसा | १२३ | १५ |
| नारूप | नीरूप | , | ५ | वरती | करती | ,, | २६ |
| हाता | होता | ,, | १९ | वथन | कथन | १२५ | १९ |
| अभास | आभास | ८३ | १४ | नारि | नारी | १२८ | ४ |

| अशुद्ध | शुद्ध | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| कलाकन्द | कलाकन्द ३ | ,, | १४ |
| कन्दो | कन्दा | १२६ | २ |
| घम | घर्म | १३० | १६ |
| सातिय | सोतिय | १३१ | २१ |
| नेह | नेहा | १३५ | ७ |
| विवारै | विगारै | ,, | १० |
| लोखि | लखि | ,, | ११ |
| पुत्रा होय | पुत्री होय | ,, | १६ |
| दिव | दिन | १३८ | ७ |
| मलाह | सलाह | ,, | १८ |
| न्यार्जित | न्यायार्जित | ,, | २१ |
| हथियार | हथियारन | १४० | ७ |
| कैरी | कौरी | १४१ | ८ |
| होता | होता है | १४६ | १६ |
| उत्पादान | उपादान | १५० | १२ |
| असत | असत | ,, | २३ |
| और और | और | १५३ | २४ |
| पिन्न | भिन्न | १५४ | ८ |
| अधार | आधार | ,, | १० |
| अश | अंश | १५५ | २१ |
| शुल्क | शुक्ल | १५६ | २१ |
| गुम | गुण | १५७ | ६ |
| श्रोत | श्रोत्र | १५८ | २३ |
| मूद्धम | सूक्ष्म | १५६ | १३ |
| पुरुषषार्थ | पुरुषार्थ | १६२ | १८ १६ |
| भूक | मूक | १६२ | १२ |
| काय | कार्य | १६६ | १२ |
| अनुभाव | अभाव | ,, | २४ |
| वणन | वर्णन | १६६ | १ |
| दृष्टान्तर-दृष्टान्त | | १७० | १ |
| जाना | जानो | ,, | १७ |
| कलिपित | कल्पित | १७१ | ७ |
| जाक कर | जानकर | १७२ | १२ |
| आर | और | १७६ | २ |
| भतों | भूतों | ,, | ११ |
| अञ्चीकृत | अपञ्चीकृत | ,, | १४ |
| मन्दत | मन्दता | १७७ | २२ |
| प्रेमय | प्रमेय | ,, | २५ |
| शअं मे | अंश में | १७८ | २१ |
| वेद क्री | वेद की | १७६ | १६ |
| नामत्मक | नामात्मक | १८१ | ७ |
| अकारात्मक | आकारात्मक | १८२ | ४ |
| कार्मेन्द्रिय | कर्मेन्द्रिय | १८३ | १ |
| सा त्रिपुटी | सो त्रिपुटी | ,, | १४ |
| सूक्ष्भता | सूक्ष्मता | १८५ | ३ |
| प्राज्ञानघन | प्रज्ञानघन | १८६ | ६ |
| उपधि | उपाधि | १६३ | ११ |
| जा वस्तु | जो वस्तु | ,, | १२ |
| सा उसका | सो उसका | ,, | १४ |
| यहि | याहि | १६६ | ३ |

| अशुद्ध | शुद्ध | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| हीने | होने | ,, | १४ |
| यिथ्या | मिथ्या | १६८ | १७ |
| स्पप्न | स्वप्न | १६६ | ५ |
| स्वप्न की | स्वप्न को | २०२ | २ |
| हाता | होता | ,, | १३ |
| अभंगल | अमङ्गल | ,, | २४ |
| कर्मेन्दिय | कर्मेन्द्रिय | २०३ | ३ |
| त्रिपुटा | त्रिपुटी | २०५ | १५ |
| उपदान | उपादान | २०६ | ३-१० |
| विद्याररएय | विद्यारएय | २११ | १४ |
| भगवन् | भगवान् | २१२ | १३ |
| तात्पय | तात्पर्य | ,, | १५ |
| त्वप्न | स्वप्न | २१८ | ५-१३ |
| यथार्थ | पदार्थ | २२० | ५ |
| विवत | विवर्त | २२२ | ६ |
| स्मान | स्नान | २२६ | २४ |
| करन स | करने से | २२७ | २३ |
| स्तात | स्तुति | २३० | २२ |
| पुरुष हा | पुरुष हो | २३१ | २४ |
| अङ्गत हैं | असङ्गत है | २३५ | १६ |
| व्यपक | व्यापक | २३८ | २४ |
| अकश | आकाश | २३६ | ८ |
| आत्सा | आत्मा | २४२ | १५ |
| घमाघम | धर्माधर्म | २४३ | २३ |
| अध्यच्त | अध्यस्त | २४४ | २ |
| पदार्द | पदार्थ | ,, | ४ |
| वत्तु | वस्तु | २४५ | १३ |
| सपिनी | सर्पिनी | २४८ | ८ |
| कठाकाश | मठाकाश | २५२ | १७ |
| पदादि | पटादि | २५४ | ७ |
| अद्वितीय | द्वितीय | २५५ | १२ |
| शक्तिमान् | सर्वशक्तिमान् | २५६ | १२ |
| हागा | होगा | २५७ | १३-२२ |
| कम | कर्म | २५६ | २०-२३ |
| उत्वत्ति | उत्पत्ति | २६३ | ५ |
| याग्य | योग्य | ,, | १४ |
| ब्राघ | बोध | २७५ | १६ |
| ज्ञाना का | ज्ञानी को | २८२ | ५ |
| मृष्टि | सृष्टि | २८८ | १६ |
| मेदाभेद | भेदाभेद | २६५ | ४ |
| होता है | होती है | २६७ | ८-६ |
| पद | पदहि | ३०० | १४ |
| लच्च्ण | लच्चणा | ३०२ | ४ |
| का ही | को ही | ,, | ७ |
| शक्तिमाम् | शक्तिमान् | ३०४ | १ |
| लच्चण | लच्चणा | ,, | १८ |
| सलाधि | समाधि | ३१६ | ६ |
| शर्वज्ञ | सर्वज्ञ | ३१० | २० |

| अशुद्ध | शुद्ध | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| का ही | कोही | ३१३ | ९ |
| घटकाश | घटाकाश | ३१५ | १० |
| एकत | एकता | ,, | १२ |
| मध्य मेढ़ | मध्य में | ३२३ | २४ |
| एकग्रता | एकाग्रता | ३२७ | २७ |
| वर्तमान हा, | वर्तमान हो, | ३३१ | २३ |
| मिद्धासन | सिद्धासन | ३३४ | १४ |
| संवत | संवर्त | ३४१ | १६ |
| अतःकरण | अन्तःकरण | ३४६ | १६-२० |
| तोते भये | ताते भये | ३५४ | ९ |
| से अगे | से आगे | ३५५ | १२ |
| कहा गई | कही गई | ३५६ | ३ |
| उपासना | उपासन | ,, | ५ |
| अनक न | अनेकन | ३५८ | २ |
| बताओ | बतायो | ३५९ | १३ |
| दा प्रकार | दो प्रकार | ,, | १९ |
| अनदेव | अन्यदेव | ३६० | १० |
| विष्ण | विष्णु | ३६३ | ४ |
| ष्तुति | स्तुति | ,, | १४ |
| होने में | होने से | ३६७ | ६ |
| शत्रु की | शत्रु की | ,, | १९ |

# भूमिका के शुद्धि पत्र

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गण आते | गुण आते | ज | १८ | निम्बाका | निम्बार्का | म | १३ |
| स्तुदु | स्तदु | झ | १० | भिर्न्न | भिन्नं | र | २३ |
| न त्व | न त्वं | ,, | २० | द्वैर्त | द्वैतं | ल | ४ |
| काय | कार्य | ब | २५ | षड | षड् | ष | १ |
| तिरोनन्दं | निरानन्दं, | ञ | ८ | तमाभूतम् | तमोभूतम्, | ३ | १३ |

एकार अकार उकारादि अनेक मात्रायें अनुत्थित हैं, स्थूल अशुद्धियों का शोधन हुवा है। सूक्ष्म को सज्जन शोधेगें ।।

श्रीजयन्ती लाल, मेहता मणिभाई। बड़ोदा गुजरात।
श्रीचन्द्रकान्त प्र० मे० मणिभाई। ब० गु०।
श्रीरमणभाई, भक्त छगन भाई। सेवली गुजरात।
महन्त श्रीरामजीवदासजी, डुमरी स्थान, जि० दरभंगा॥
श्रीजयन्तीलाल गांधी नागजी भाई, बड़ोदा गुजरात॥
सन्त वेष में दो माई राम, जि० पटना, विहार, दरगाह पर॥

इन सज्जनों के तथा अन्य भक्त सन्त के रुपयों से यह पुस्तक छपा है, इन उक्तनामवालो का अधिक द्रव्य लगा है। और कबीर कीर्तिमन्दिर के अध्यक्ष श्रीशान्तिदास जी साहब एवं सन्तों से सब प्रकार की सुविधा छपवाने में मिली है।

ॐ शान्ति शान्ति शान्तिः॥

श्रीगणेशाय नमः

# ॥ ग्रन्थ विचारसागर ॥

॥ दोहा ॥

जो सुख नित्य प्रकाश विभु, नाम रूप आधार।
मति न लखै जिहि मति लखै, सो मैं शुद्ध अपार ॥ १ ॥

टिप्पणी :—ग्रन्थ के आदि में मङ्गाचरण करने की पुरानी रीति है, और वह मङ्गलाचरण, नमस्कार, आशीर्वाद, और वस्तुनिर्देश=कथन रूप भेद से तीन प्रकार का होता है। यह निर्गुणात्म स्वरूप वस्तु का निर्देश रूप मंगल है। अर्थ है कि जो ब्रह्म सुख स्वरूप, प्रकाश स्वरूप और विभु है, अतएव नित्य और नाम रूप का आधार आश्रय है। और मलिन बुद्धि जिसको नहीं समझ सकती है, किन्तु शुद्ध बुद्धि जिसको समझती है, अर्थात् [1] व्यावहारिक जीव शुद्ध बुद्धि द्वारा जिसको जानता है तहाँ भी बुद्धि वृत्तिगत चिदाभास से जो प्रकाशित नहीं होता है, किन्तु वृत्ति से जिसके

१ जाग्रत् लोक व्यवहार काल में प्रतीत होने वाला।
समाधि स्वप्न में नहीं प्रतीत (ज्ञात) होने वाला॥

अज्ञान मात्र का नाश होने से जो ब्रह्म स्वयं प्रकाशता है, अतएव जिसको बुद्धि नहीं प्रकाशती है, किन्तु जो स्वयं बुद्धि को प्रकाशता है, नाम और रूप ( शब्द और अर्थ ) का आधार स्वरूप वह ब्रह्म मैं हूं, अर्थात् ब्रह्म सर्वात्मा है। इस कथन से ( अहं ब्रह्मात्मास्मि। वृ. १। ४। १०॥ इस श्रुति का अर्थ कहा गया है। इस दोहा द्वारा जिस वेदार्थ की प्रतिज्ञा की गई है, उसी अर्थ का प्रधान रूप से विचार रूप विचार सागर ग्रन्थ है। इस दोहे से ग्रन्थ का विषय स्पष्ट रूप से कहा गया है। तथा ब्रह्मात्मा के लक्षणों को कहा गया है। क्योंकि ( भूमैव सुखम्। छा० ७। ७। २३। ) ब्रह्म ही सुख है, इत्यादि श्रुति के अनुसार ब्रह्मही सुख स्वरूप है, अनुकूल विषयाकार वृत्ति से ब्रह्म सुख ही व्यक्त होता है, तहाँ वृत्ति की अनित्यता सुख में ( ब्रह्म स्वरूप में ) भ्रम से भासती है, और एक अद्वैत ब्रह्म ही नित्य है, और ब्रह्म के अधीन सूर्यादि के प्रकाशनेसे वस्तुतः ब्रह्म ही प्रकाश स्वरूप है, और त्रिविधभेदराहित्य=सर्वात्मत्व रूप विभुता ब्रह्म से अन्य में नहीं हो सकती है, अतएव मायिक नाम रूप की आधारता ब्रह्म में ही है, अन्य में नहीं, इसीसे बुद्धि का अविषयत्व रूप स्वयं प्रकाशत्व, शुद्धत्व, अपारत्वादि रूप प्रत्येक ब्रह्म के लक्षण हैं॥ ऐसा होते भी स्थूल दृष्टि से तथा मतान्तर से स्वीकृत अनित्य सुख में सुखरूपता लक्षण की अति व्याप्ति होती है, तो सुख का विशेषण रूप से नित्य के कथन से उस दोष की निवृत्ति होती है, अर्थात् नित्य सुख स्वरूपत्व ब्रह्म का लक्षण होता है, मतान्तर में आकाशादि को नित्य मानने से केवल नित्यत्व ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता है, तब नित्य प्रकाशत्व लक्षण हो सकता है, क्योंकि नित्य आकाशादि प्रकाश स्वरूप नहीं माने गए हैं, मतान्तर में सूर्यादि को स्वतः प्रकाश स्वरूप मानने से प्रकाशत्व ब्रह्म का लक्षण नही बन सकने पर विभुप्रकाशत्व लक्षण बन सकता है। क्योंकि सूर्यादि विभुप्रकाश

नहीं हैं। और आकाश कालादि को विभुमानने पर विभुत्वब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता हो तो ( नामरूपाधारत्वे सति विभुत्व ) लक्षण हो सकता है। क्योंकि आकाशादि को नित्य मानने वाले उन्हें नामरूप का आधार ( अधिष्ठान ) नहीं मानते हैं। और भ्रम से भासित सर्प रजतादि के नाम रूप के आधार रूप से स्थूल दृष्टि द्वारा भासित रज्जुसीपादि में नामरूप की आधारता के होने से केवल नामरूपाधारत्व ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकने पर स्वयं प्रकाश होते नाम रूपाधारत्व ब्रह्म का लक्षण हो सकता है, क्योंकि रज्जु आदि स्वयं प्रकाश नहीं हैं। केवल स्वयं प्रकाश भी कोई परिच्छिन्न जीवात्मा को मानते हैं, परन्तु शुद्ध नहीं मानते हैं, इससे स्वयं प्रकाश होते शुद्ध स्वरूपत्व ब्रह्म का लक्षण हो सकता है, सांख्य में आत्मा को भेद सहित शुद्ध माना गया है, तहाँ अतिव्याप्ति से केवल शुद्धता ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता है, इससे सब भेदादि रहित अपारता-युक्त शुद्धत्व ब्रह्म का लक्षण हो सकता है इत्यादि इस दोहा का आशय है ॥ १ ॥

उक्त वस्तु निर्देश रूप मंगल में शंका होती है कि ( सो मैं शुद्ध अपार ) इस दोहे के चतुर्थ चरण के स्थान में ( सो शुचि विष्णु अपार, या, सो शुचि शम्भु अपार, अथवा, सो हरि शुद्ध अपार ) इत्यादि पाठ होना उचित है, क्योंकि मनुष्य की अपेक्षा देव श्रेष्ठ माने जाते हैं, अतः निर्गुण ब्रह्म रूप से किसी महान् देव का निर्देश= कथन करना ठीक है, अपने को ब्रह्म कहना ठीक नहीं है। ऐसी शंका होने पर, मैं ( अहं ) शब्द के लक्षणार्थ सर्वान्तरात्मा कूटस्थ= निर्विकार साक्षी दृष्टि से (सो मैं शुद्ध अपार) इस प्रकार कहा गया है मनुष्यादि दृष्टि से नहीं, और अन्तरात्मा=प्रत्यक् साक्षी दृष्टि से विष्णु देवादि सब प्राणी ब्रह्म हैं ही, किन्तु देवादि रूप प्राणी दृष्टि से ब्रह्म नहीं है, त्रिगुण माया से कल्पित=सिद्ध हैं, इत्यादि आशय से कहा गया है कि—

**अब्धि अपार स्वरूप मम, लहरी विष्णु महेश ।**
**विधि रवि चन्दा वरुण यम, शक्ति धनेश गणेश ॥२॥**

**टिप्पणी**—अपार समुद्र तुल्य मेरा=सब प्राणी का स्वरूप= एक अन्तरात्मा है, और वायु आदि तुल्य माया शक्ति से सिद्ध लहर=तरङ्ग तुल्य उसमें विष्णु आदि देव हैं इससे उन सबकी एकान्तरात्मा रूप से निर्गुण ब्रह्म का निर्देश समुचित है अन्यथा नहीं ॥२॥ फिर शंका होती है कि देवताओं का निर्गुण ब्रह्म रूप से निर्देश नहीं हो सकने पर भी ईश्वर का निर्गुण ब्रह्म रूप से निर्देश हो सकता है, क्योंकि सर्वज्ञता आदि कल्याण=शुभ गुण युक्त होने के कारण जैसे ईश्वर को सगुण कहा जाता है, तैसे ही अल्पज्ञता आदि अशुभ गुणरहित होने के कारण ईश्वर को ही निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है, ऐसा शंका होने पर (अशब्दमस्पर्शम् । विरजं ब्रह्म निष्कलम्) इत्यादि श्रुति के अनुसार शुभाऽशुभ सब गुणों से रहित ही निर्गुण ब्रह्म के होने के कारण निर्गुण ब्रह्म स्वरूप से त्रिगुण मायोपाधिक ईश्वर का भी निर्देश नहीं हो सकता है । अतः (सो शुचि ईश अपार) इत्यादि नहीं कहा जा सकता है, इत्यादि आशय से कहा गया है कि—

**जा कृपालु सर्वज्ञ को, हिय धारत मुनि ध्यान ।**
**ताको होत उपाधि ते, मोमें मिथ्या भान ॥३॥**

**टिप्पणी**—जिस कृपालुता, सर्वज्ञता आदि शुभ गुण युक्त ईश्वर को मुनि लोग हृदय में ध्यान धारण=चिन्तन करते हैं । ताको उस मुनि को मोमें=ममता के विषय अन्तरात्मा में ही माया रूप उपाधि से मिथ्या ही ईश्वर का भिन्न रूप से भान=ज्ञान होता है । अर्थात् ईश्वर की प्रतीतिसिद्धि सर्वान्तरात्मा में माया से होती है, श्वेताश्वतर श्रुति में, मायी को महेश्वर कहा गया है, अतः सर्वथा निर्गुण ब्रह्म

रूप से सगुण ईश्वर का निर्देश नहीं हो सकता है, सगुण वस्तु निर्गुण वस्तु की अपेक्षा मिथ्या=असत्य है। अपने कार्यों की अपेक्षा भले ही सत्य भी कहा जाता है, इसी से श्रुति में निर्गुण को सत्यों का सत्य कहा गया है सो सब का अन्तरात्मा है ॥३॥ ब्रह्म स्वरूप उस शुद्ध सर्वान्तरात्मा के अपरोक्ष ज्ञान बिना ही व्यावहारिक जीव के जन्म-मरणादि रूप संसार होते हैं, और उसके ज्ञान से अज्ञान मोह कामादि की निवृत्ति पूर्वक भावी संसार की निवृत्ति मुक्ति होती है, अतः उस सर्वान्तरात्मा निर्गुण ब्रह्म के विचारादि पूर्वक अपरोक्ष ज्ञान के लिए विचार सागर कर्तव्य है, इत्यादि आशय से कहा गया है कि—

> ह्वै जिहि जाने बिनु जगत, मनहु जेवरी साँप।
> नशै भुजंग जग जिहि लहै, सोऽहं आपे आप ॥४॥

टिप्पणी—रस्सी को विशेष रूप से जाने बिना जैसे वह जेवरी=रस्सी ही मनहु=मानो सांप हो जाती है, तैसे ही जिस ब्रह्म स्वरूप अन्तरात्मा को जाने बिना आत्मा में मानो जन्मादि संसार होता है, और जैसे रस्सी को विशेष रूप से प्रत्यक्ष समझने पर मानो सांप नष्ट होता है। तैसे जिसके ज्ञान से जगत नष्ट होता है। सो ब्रह्म स्वरूप आत्मा मैं=श्रुतिगत अहं शब्द का आपे आप=लक्ष्यार्थ स्वरूप हूँ। अर्थात् व्यावहारिक अपने स्वरूप में अन्तरात्मा स्वरूप से और सब भेद से रहित हूं, सर्वथा स्वतन्त्र हूं। अर्थात् ब्रह्माऽभिन्न सर्वात्मा एक अद्वैत होने से सब भेदों से रहित है, और व्यावहारिक स्वरूप में मंगल ग्रन्थादि की कर्तृता भी है, इससे यह कहना नहीं बन सकता कि ब्रह्म स्वरूप तुम में मंगलादि कर्तृत्व नहीं बन सकता इत्यादि ॥४॥ यदि कहा जाय कि कर्म और उपासना तथा भक्ति योगादि के प्रतिपादक ग्रन्थों में प्रायः स्तुति नमस्कारादि रूप मंगल किये जाते हैं। जिनसे ग्रन्थ के विघ्न नाश और उससे

भिन्न देवादि की प्रसन्नता रूप फल का सम्भव प्रतीत होता है, इससे नमस्कारादि रूप मंगल करना ही उचित है, तो सो कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उपास्योपासक भाव, सेव्य सेवक भाव अंशांशिभावादि भेद दृष्टि पूर्वक और फल विशेष की इच्छा से जहाँ ग्रन्थ की रचनादि होते हैं। तहाँ स्तुति नमस्कारादि उचित होते हैं। शुद्ध अद्वैत तत्त्व के बोधार्थक ग्रन्थ में अद्वैत ब्रह्मात्मा का निर्देश अत्यन्त उचित हो सकता है, क्योंकि इससे ग्रन्थ की नीव (मूल) मजबूत हो जाती है। इत्यादि आशय से कहा गया है कि—

**बोध चाहि जाको सुकृति, भजत राम निष्काम।**
**सो मेरा है आतमा, काकूं करूं प्रणाम ॥५॥**

**टिप्पणी**—( चतुर्विधा भजन्ते मांजनाःसुकृतिनोऽर्जुन ! । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! भ०गी० ७।१६ ) इस गीता के अनुसार दुःखी, अर्थेच्छुक, जिज्ञासु, और ज्ञानी चार प्रकार के सुकृति=पुण्यात्मा ही ईश्वर का भजन करते हैं, तहाँ स्तुति नमस्कार गुरुपूजा स्मरणादि रूप भजन, दुःखी और अर्थेच्छुक करते हैं, और ( स्वात्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ) अपने स्वरूप के अनुसंधान=चिन्तनादि रूप भक्ति ज्ञानी करते हैं। और निष्काम= लौकिक वस्तु की इच्छा से रहित जिज्ञासु बोध ( ज्ञान ) की चाह= इच्छा से जिस निर्गुण सर्वात्मा राम को=ब्रह्म को भजते हैं, सो सर्वात्मा राम मेरा आत्मा है, ऐसा निश्चय होने पर प्रणाम=स्तुति नमस्कारादि किस के किए जायँ, अर्थात् जो जिज्ञासु परोक्षरूप से राम को सर्वात्मा समझता है, सो भी अपरोक्षाऽनुभव के लिए श्रवण, मनन, ध्यानादिरूप ही भजन करता है, स्तुति नमस्कारादि आभास मात्र करता है, और उपदेशक गुरु ज्ञानी प्रबन्ध कर्ता तो सर्वात्मा राम का स्मरण मात्र करता है, अन्य क्रिया उसकी आभास मात्र

होती है, इससे यहाँ वस्तु निर्देशात्मक मंगल अतिसमुचित है, अन्य नहीं ॥५॥

भरयो वेद सिद्धान्त जल, जामें अतिगम्भीर।
अस विचार सागर कहूँ, पेखि मुदित ह्वै धीर ॥६॥
सूत्रभाष्य वार्तिक प्रभृति, ग्रन्थ बहुत सुरवानि।
तथापि मैं भाषा करूं, लखि मतिमन्द अजानि ॥७॥

ब्रह्म सूत्र, शांकरभाष्य, सुरेश्वर वार्तिक प्रभृति=आदि ( वेदान्त के ) ग्रन्थ यद्यपि सुरवानि=देवभाषा=संस्कृत में बहुत हैं, जिनमें वेद सिद्धान्त का पूर्ण रीति से प्रतिपादन है, इससे विचार सागर का कथन ( रचना ) व्यर्थ प्रतीत होता है। तथापि जिनको बुद्धिमन्द है, ऐसे अज्ञानियों को देखकर उनके लिए भाषाग्रन्थ की रचना करता हूँ, क्योंकि संस्कृत ग्रन्थों के बिचारने में असमर्थ उन लोगों को संस्कृत ग्रन्थों से बोध=ज्ञान नहीं हो सकता है। और भाषा ग्रन्थ से उन्हें भी ज्ञान हो सकता है, अतः भाषा ग्रन्थ का आरम्भ सफल है, निष्फल नहीं ॥६।७॥

कविजनकृत भाषा बहुत, ग्रन्थ जगत विख्यात।
बिनु विचार सागर लखे, नहि संदेह नसात ॥ ८ ॥

यद्यपि कवियों से रचित बहुत भाषा ग्रन्थ भी जगत में प्रसिद्ध हैं। तथापि विचारसागर को देखे बिना आत्मवस्तु विषयक संशय नष्ट नहीं होता है, उसमें यह कारण है कि पञ्चभाषा, आदि ग्रन्थ शास्त्र के अध्ययन बिना श्रवणमात्र से रचे गये हैं, तहाँ कहीं शास्त्र के अनुसार उनकी प्रक्रिया=रचना है, और कहीं श्रुत अर्थ के यथार्थ ग्रहण नहीं होने के कारण शास्त्र से विरुद्ध प्रक्रिया है, अतः श्रोता कृत ग्रन्थ से संदेह रहित बोध नहीं होता है। इसी प्रकार अल्प

अध्ययन कर्ता से रचित 'आत्मबोध' आदि ग्रन्थों से भी संशय रहित ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि उनमें वेदान्त की सम्पूर्ण प्रक्रिया नहीं है। और विचार सागर में सम्पूर्ण प्रक्रिया=प्रकरण वेदान्त शास्त्र के अनुसार है, कहीं भी विरुद्ध नहीं हैं, आत्मज्ञान में उपयोगी पदार्थों का इसमें विस्तारपूर्वक निरूपण है। अतः यह अन्य भाषा ग्रन्थों से गतार्थ नहीं है, और उत्तम है ॥ ८ ॥

### अनुबन्धवर्णन । चौपाई ॥

नहिं अनुबन्ध पिछानै जौं लौं।
ह्वै न प्रवृत्त सुघर नर तौं लो ॥
जानि जिनै यह सुनै प्रबन्धा।
कहुं अब याते ते अनुबन्धा ॥१॥

सुघर=विवेकी पुरुष जब तक, अधिकारी, सम्बन्ध, विषय और प्रयोजनरूप ग्रन्थ के अनुबन्ध[1] को नहीं समझ लेते हैं। तब तक ग्रन्थ के अध्ययनादि में प्रवृत्त नहीं होते हैं, और जिन अनुबन्धों को जान कर इस प्रबन्ध=ग्रन्थ को सुनेगें, याते=अतः अब वे अनुबन्ध कहे जाते हैं। अर्थात् उन अनुबन्धों का अब वर्णन किया जायगा ॥१॥

### सोरठा ॥

अधिकारी सम्बन्ध, विषय प्रयोजन मेलि चव।
कहत सुकवि अनुबन्ध, तिन में अधिकारी सुनहु ॥१॥

### अधिकारिवर्णन । दोहा ॥

मलविछेप जाके नहीं, किन्तु एक अज्ञान।
ह्वै चव साधन सहित नर, सो अधिकृतमतिमान ॥६॥

---

१ श्रोता को जिनके श्रवण से ग्रन्थ के साथ अनुबन्ध=सम्बन्ध हो; सो अनुबन्ध कहाता है ॥

ज्ञान के प्रतिबन्धक मल=पाप १ विक्षेप=चंचलता २ और अज्ञानकृत आवरण ३ ये तीन दोष अन्तः करण में रहते हैं। तहाँ निष्काम शुभ कर्म से पाप का नाश होता है, उपासना से विक्षेप का नाश होता है। ज्ञान से आवरण नष्ट होता है। जिस पुरुष ने सत्कर्म और उपासना से मल और विक्षेप को नष्ट किया हो, किन्तु एक अज्ञानकृत आवरण जिसके अन्तःकरण में हो, और जो चव=चार साधन युक्त हो, वह बुद्धिमान ज्ञान का अधिकृत=अधिकारी है, अर्थात् ज्ञान को प्राप्त करने योग्य है ॥९॥

विवेकादि के बोधक श्रुतियाँ हैं कि (अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्) कठ० १।२।२१। न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः कठ० १।१।२४। नाविरतो दुश्चरितात्। कठ० १।२।२३। एवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्यति। बृ० ४।४।२३ शरीरों में भी शरीर रहित और चंचल में भी अचल महान् विभु आत्मा को जान कर धीर पुरुष शोक रहित होता है ॥ धन से मनुष्य तृप्त करने योग्य नहीं होता है। दुश्चरित्र से अविरत अर्थात् दुश्चरित्र युक्त मनुष्य आत्मतत्व को नहीं समझ पाता है ॥ किन्तु ज्ञान से मोक्षादि को समझने वाला मुमुक्षु शम दम युक्त उपराम तितिक्षु सावधान हो करके ही अपने शरीर बुद्धि में आत्म दर्शन करता है ॥ इत्यादि ॥ इन श्रुतियों के अनुसार विवेकादि का वर्णन है कि—

## साधन वर्णन ॥ दोहा ॥

प्रथम विवेक विराग पुनि, शमादि षट् सम्पत्ति।
कही चतुर्थ मुमुक्षुता, ये चव साधन सत्ति ॥ १० ॥
अविनाशी आतम अचल, जग तातेप्रतिकूल।
ऐसो ज्ञान विवेक है, सब साधन को मूल ॥ ११ ॥

आत्मा अविनाशी=नाशरहित और अचल=क्रियारहित है।

और जगत उस आत्मा से प्रतिकूल=विपरीत स्वभाव वाला, विनाशी और चल है। इस प्रकार के ज्ञान का विवेक नाम है, और सो विवेक अन्य सब साधनों का मूल=कारण है, क्योंकि विवेक के होने पर वैराग्यादि उत्तर=आगे के साधन होते हैं, और विवेक के बिना नहीं होते हैं। अतः वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता, इन सबका हेतु विवेक है ( सत्कर्मादि से शुद्ध अन्तःकरण में उत्पन्न हुआ दृढ़ विवेक तो वैराग्यादि का हेतु होता है, और सामान्य विवेक=देह और आत्मा की पृथक्ता का परोक्ष ज्ञान, तथा धर्माधर्मादि के पृथक्त्व का ज्ञान भी पारलालौकिक तथा निष्काम धर्मादि के अनुष्ठान का हेतु होता है। अतः विवेक सर्व साधनों का मूल होता है ) ॥ अतः उसे प्रथम कहा गया है और विरागादि के बाद उत्कट मुमुक्षुता ज्ञान के साधन रूप होता है ॥ सामान्य मुमुक्षुता तो प्रायः सबको होती है ॥ १०-११ ॥

> ब्रह्मलोक लौं भोग जो, चहै सबन को त्याग।
> वेद अर्थ ज्ञाता मुनी, कहत ताही वैराग ॥ १२ ॥
> शम दम श्रद्धा तीसरी, समाधान उपराम।
> छठीं तितिच्छा जानिये, भिन्न भिन्न ये नाम ॥ १३ ॥
> मन विषयन ते रोकनो, शम तिहि कहत सुधीर।
> इन्द्रिय गण को रोकनो. दम भाखत बुधबीर ॥ १४ ॥
> सत्य वेद गुरु वाक्य है, श्रद्धा अस विश्वास।
> समाधान ताकूँ कहत, मन विछेप को नाश ॥ १५ ॥

सर्वोत्तम ब्रह्मलोक पर्यन्त देवादि के भोगों को अन्य सब भोगों को त्यागने ही की जो इच्छा होती है, और उन दृष्ट श्रुतादि भोग लोकादि विषयक इच्छा के अभाव से जो राग=प्रेम नहीं होता उस राग के अभाव को वैराग्य कहते हैं ॥ १२ ॥ शम, दम, श्रद्धा,

समाधान, उपराम, और तितिक्षा, ये भिन्न २ शमादि साधनों के नाम समझना चाहिये ॥ १३ ॥ मनको विषयों से रोकने का नाम शम है, इस प्रकार सुधीर[1] सात्विक धैर्य वाले कहते हैं। और बुध वीर=श्रेष्ठ विद्वान विषयों से इन्द्रियगण के रोकने को दम कहते हैं ॥१४॥ वेद और गुरु का वाक्य सत्य है, ऐसे विश्वास को श्रद्धा कहते हैं। और मन की चञ्चलता के नाश=निवृत्ति को समाधान कहते हैं॥१५॥

॥ चौपाई ॥

साधन[2] सहित कर्म सब त्यागै।
लखि विष सम विषयन ते भागै॥
दृग नारी लखि ह्वै जिय ग्लाना।
यह लच्छन उपराम बखाना॥ २॥

आतप[2] शीत छुधा तृषा, इनको सहन स्वभाव।
ताहि तितिच्छा कहत हैं, कोविद मुनिवर राव॥ १६॥
शमादि षट् सम्पत्ति को, भाखत साधन एक।
इमि नव नहिं साधन मनैं, किन्तु चारि सविवेक॥१७॥

---

१ नित्य योग द्वारा मन प्राण और इन्द्रियों की प्रवृत्ति के निरोध को सात्विक धैर्य कहते हैं। भ. गी. अ. १८। ३३॥

२ कर्मों के साधन धनादि सहित कर्मों को त्यागे, और विषयों को विष तुल्य बार २ मरण का हेतु रूप जान कर उनके संगादि को त्यागे, तथा दृष्टि से स्त्री को देख कर चित्त में ग्लानि करे, सौन्दर्यादि की भावना नहीं करे, स्त्री भी विरागावस्था में पुरुष को देख कर ग्लानि करे। यह उपराम का लक्षण कहा गया है॥ २॥ आतपादि के सहने के स्वभाव को पण्डित और श्रेष्ठ मुनि लोग तितिक्षा कहते हैं॥ १६॥

शमदमादि छः की सम्पत्ति=प्राप्ति=पूर्णता को एक साधन रूप कहा जाता है (क्योंकि ये छवो परस्पर सहकृत=संमिलित होकर ज्ञान के साधन एक रूप से होते हैं) अतः शमादि छः और विवेक वैराग्य, तथा मुमुक्षुता मिला कर नव (नौ) साधन नहीं कहे जाते हैं, किन्तु सविवेक=विवेकी जन चार साधन कहते हैं ॥ १७ ॥

**ब्रह्म प्राप्ति अरु बन्ध की, हानि मोक्ष को रूप ।**
**ताकी चाह मुमुक्षुता, भाखत मुनिवर भूप ॥ १८ ॥**

नित्यानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति=प्रत्यगात्मरूप से अनुभव और बन्ध=जन्मादि बन्धन रूप अनर्थों=दुखों की निवृत्ति मोक्ष का स्वरूप है। उसकी चाह=इच्छा का मुमुक्षुता=मुमुक्षुत्व नाम हैं, (इस प्रकाप भूप=राजा तुल्य मुनिवर कहते हैं) ॥ १८ ॥

**ये चव साधन ज्ञान के, श्रवणादिक त्रय मेलि ।**
**तत्पद त्वं पद अर्थ को, सोधन अष्टम भेलि ॥ १९ ॥**

ये विवेकादि चार, और श्रवण मनन, निदिध्यासन ये तीन, और (तत्त्वमसि) इस श्रुतिगत तत्पद के अर्थ का और त्वं पद के अर्थ का शोधन=विवेचन रूप अष्टम साधन को मिलाने से आठ साधन ज्ञान के भेल हुए ॥ १९ ॥

**अन्तरङ्ग ये आठ हैं, यज्ञादिक बाहिरङ्ग ।**
**अन्तरंग धारै तजै, बहिरंगन को सङ्ग ॥ २० ॥**

ये पूर्वोक्त विवेकादि आठो ज्ञान के अन्तरंग (निकट काल वर्ती=समीप के साधन=हेतु हैं। और यज्ञदान तप व्रतादि बहिरङ्ग =दूरकाल वर्ती साधन कहे जाते हैं। अतः कर्म के फल चित्तशुद्धि को जिसने प्राप्त कर लिया है, सो जिज्ञासु अन्तरङ्ग साधनों को धारण करे, और बहिरङ्गों के सङ्ग=आशक्ति=सम्बन्ध का त्याग करे ॥

भाव यह है कि जिनका श्रवणादि में वा ज्ञान में प्रत्यक्ष फल हो, सो अन्तरंग साधन कहे जाते हैं। और विवेकादि का श्रवणादि में उपयोग=फल होता है, क्योंकि विवेकादि के बिना बहिर्मुख=कर्मासक्त को श्रवणादि नहीं सिद्ध होते हैं अतः विवेकादि से श्रवणादि सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार श्रवण, मनन और निदिध्यासन=ध्यान का ज्ञान में उपयोग=फल=उपकार होता है। क्यों कि श्रवणादि के बिना ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार तत्पद और त्वं पद के शुद्ध लक्ष्यार्थ को जाने बिना अभेद ज्ञान नहीं होता है, अतः श्रवणादि और पदार्थ शोधन ज्ञान में उपयोगी हेतु हैं। इस रीति से विवेकादि चार साधनों का श्रवणादि में उपयोग होता है। और श्रवणादि का ज्ञान में उपयोग होता है, अतः ये आठ अन्तरंग साधन हैं॥

जिनका ज्ञान में या श्रवणादि में प्रत्यक्ष फल नहीं हो, किन्तु अन्तःकरण की शुद्धि जिनका फल हो, सो ज्ञान के बहिरंग साधन कहे जाते हैं, ऐसे यज्ञादि कर्म हैं। यद्यपि ( कर्मणा बध्यते जन्तुः ) कर्म से प्राणी बँधता है। इत्यादि शास्त्र के अनुसार कर्म संसार बन्धन का हेतु होता है, उससे अन्तः करण की शुद्धि कहना नहीं बन सकता, तथापि (भ. गी. ४।१९) इत्यादि शास्त्र के अनुसार निष्काम कर्म अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु होता है, अतः निष्काम कर्म को अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान का हेतु कहा जाता है, ज्ञान का बहिरंग साधन कहा जाता है। कर्मों की अपेक्षा विवेकादि को अन्तरंग कहा जाता है। विवेकादि आठ में भी विवेकादि चार की अपेक्षा श्रवणादि चार साधन अन्तरंग हैं॥ और विचार कर देखा=समझा जाय तो ज्ञान के मुख्य अन्तरंग साधन ( तत्त्वमसि ) इत्यादि महावाक्य सिद्ध होते हैं, श्रवणादिक भी नहीं। क्योंकि वेदान्त तात्पर्य के निश्चय के हेतु

उपक्रम उपसंहारादि रूप युक्तियों द्वारा वेदान्त वाक्य के तात्पर्य के निश्चय को श्रवण कहते हैं, और जीव ब्रह्म के अभेद के साधक और भेद के बाधक युक्तियों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म के चिन्तन को मनन कहते हैं। और अनात्मकार वृत्ति के व्यवधान रहित ब्रह्माकार वृत्ति की स्थिति को निदिध्यासन कहते हैं। निदिध्यासन की परिपाक=परिपक्व अवस्था को ही समाधि कहते हैं। अतः समाधि का निदिध्यासन में अन्तर्भाव है, वह पृथक् साधन नहीं है। और ये श्रवण, मनन और निदिध्यासन ज्ञान के साक्षात् साधन नहीं हैं किन्तु असंभावना=संशय विपरीत भावना=विपर्यय=भ्रम रूप बुद्धि के दोषों के नाशक श्रवणादि होते हैं। तहाँ श्रवण से प्रमाण के संशय का नाश होता है, और मनन से प्रमेय के संशय का नाश होता है। क्योंकि वेदान्त वाक्य अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, अथवा अन्य अर्थ के प्रतिपादक हैं, ऐसा जा प्रमाण में संशय होता है सो श्रवण से निवृत्त होता है और जीव ब्रह्म का अभेद सत्य है, अथवा भेद सत्य है, इस प्रकार का प्रमेय संशय मनन से निवृत्त होता है॥ और देहादि सत्य हैं, तथा जीव ब्रह्म का भेद सत्य है, ऐसे ज्ञान को विपरीत भावना=भ्रम कहते हैं। उसको निदिध्यासन निवृत्त करता है। इस रीति से ज्ञान के प्रतिबन्धक असंभावना और विपरीत भावना के नाशक श्रवणादि तीनों होते हैं, अतः प्रतिबन्धक के नाश द्वारा ज्ञान के हेतु कहे जाते हैं, साक्षात् हेतु नहीं॥

ज्ञान के साक्षात् साधन श्रोत्र=कर्ण सम्बन्धी वेदान्त वाक्य=गुरु वाक्य होते हैं। परन्तु अवान्तर वाक्य और महावाक्य के भेद से वेदान्त वाक्य दो प्रकार के होते हैं, तहाँ परमात्मा या जीव के स्वरूप के बोधक वाक्य को अवान्तर वाक्य कहते हैं। और जीव तथा परमात्मा की एकता=अभेद बोधक वाक्य को महाकावाक्य कहते हैं। और पर-

मात्मा के बोधक अवान्तर वाक्य से परमात्मा का परोक्ष ज्ञान होता है महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है। क्योंकि, ब्रह्म है, इस ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं, और मैं हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, इन ज्ञानों को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। त्वं ब्रह्म,, तुम ब्रह्म हो, ऐसे गुरु वाक्य के अधिकारी श्रोता के कर्ण से सम्बन्ध होते ही, मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा उसको अपरोक्ष ज्ञान होता है, और वाक्य श्रवण के बिना ज्ञान नहीं होता है। अतः अन्वय व्यतिरेक से श्रुत वाक्य ही ज्ञान का हेतु सिद्ध होता है। तहाँ अवान्तर वाक्य परोक्ष ज्ञान का हेतु होता है, महावाक्य ही अपरोक्ष ज्ञान का हेतु होता है, महावाक्य से परोक्ष ज्ञान नहीं होता ॥

वेदान्त के एकदेशी का मत है कि उक्त श्रवणादि सहित महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है, और केवल वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है, अपरोक्ष नहीं। यदि केवल वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान हो। तो श्रवणादिक व्यर्थ होंगें। यद्यपि वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होने पर भी श्रवणादि से असंभावना विपरीत भावना की निवृत्ति होने के कारण श्रवणादि व्यर्थ नहीं हो सकते, तथापि अपरोक्ष ज्ञात वस्तु विषयक संशय भ्रम के असम्भव के कारण महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञात= अनुभूत ब्रह्मात्मा विषयक संशय और भ्रम हो नहीं सकते हैं। अतः वाक्य मात्र से अपरोक्ष ज्ञान होने पर श्रवणादि व्यर्थ होंगे। और केवल वाक्य से परोक्ष ज्ञान होने पर, श्रवणादि से अपरोक्ष ज्ञान होता है, इस मत में श्रवणादिक व्यर्थ नहीं हाते हैं। यह बहुत ग्रन्थकारों का मत है, परन्तु सो समीचीन=ठीक नहीं है। क्योंकि शब्द का यह स्वभाव है कि देश वा काल से व्यवहित=व्यवधान सहित वस्तु का शब्द से परोक्ष ही ज्ञान होता है, व्यवहित का ज्ञान शब्द से किसी प्रकार भी अपरोक्ष नहीं होता है। जैसे कि स्वर्गादि और इन्द्रादि का ज्ञान शास्त्र से परोक्ष ही होता हैं। और अव्यवहित वस्तु के ज्ञान शब्द से भी परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार के होते हैं क्योंकि,

जहाँ अव्यवहित वस्तु को शब्द "अस्ति" है, इस रूप से बोध कराता है, तहाँ उसका परोक्ष ज्ञान होता है जैसे कि, दशम के संशयादि से युक्त दशम के ही प्रति कहा जाय कि, दशम है, तो उसको परोक्ष ही ज्ञान होता है, कि कोई कहीं दशम होगा। और जहाँ अव्यवहित का "यह है" इस प्रकार शब्द से बोध कराया जाता है, तहाँ शब्द से उसका अपरोक्ष ही ज्ञान होता है, परोक्ष नहीं। जैसे कि 'दशम तूं है, इस प्रकार कहने पर दशम को दशम का ज्ञान अपरोक्ष ही होता है। इसी प्रकार सबके आत्मा होने के कारण ब्रह्म अत्यन्त अव्यवहित है, अस्ति, रूप अवान्तर वाक्य से उसका परोक्ष ज्ञान होता है, और महावाक्य से अधिकारी को अपरोक्ष ही ज्ञान होता है तो भी आगे वर्णित रीति से जैसे राजा को भट्टु के अपरोक्ष ज्ञान होने पर भी श्रुत ज्ञान जन्य वासना से विपरीत बुद्धि नष्ट नहीं हुई। तैसे ही महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होने पर भी प्रबल वासनादि जन्य संशय भ्रम होते हैं। और संशयादि दोष युक्त ज्ञान फल का हेतु नहीं होता है, अतः दोष और उसके हेतु वासनादि की निवृत्ति के लिए उक्त श्रवणादि कर्तव्य होते हैं। और जिसकी बुद्धि में दोष नहीं हो उसको वाक्य जन्य ज्ञान के बाद श्रवणादि नहीं कर्तव्य होते हैं। इस रीति से ज्ञान के हेतु महावाक्य हैं। और श्रवणादि ज्ञान के प्रतिबन्धकों के नाशक हैं। अतः ज्ञान के हेतु कहे जाते हैं। और विवेकादि श्रवणादि के हेतु हैं, इस कारण से वे भी ज्ञान के हेतु कहे जाते हैं। और उन विवेकादि चार साधनों से युक्त मनुष्य ज्ञान का अधिकारी होता है ॥२॥

### सम्बन्ध वर्णन । दोहा ।

**प्रतिपादक प्रतिपाद्यता, ग्रन्थ ब्रह्म सम्बन्ध ।**
**प्राप्य प्रापकता कहत, फल अधिकृत को फन्द ॥२१॥**

ग्रन्थ और ब्रह्म का प्रतिपादक प्रतिपाद्यभाव सम्बन्ध है। ग्रन्थ ब्रह्म

का प्रतिपादक=बोधक है। और ब्रह्म प्रतिपाद्य=प्रतिपादन=बोधन योग्य है। अतः बोधक बोध्यता रूप सम्बन्ध है।

फल (मोक्ष) और अधिकारी का प्राप्य प्रापकभाव फन्द=सम्बन्ध है। फल प्राप्य=प्राप्त करने योग्य है। और अधिकारी प्रापक=प्राप्त करने वाला है।

अधिकारी और विचार का कर्तृ कर्तव्य भाव सम्बन्ध है। अधिकारी कर्ता है, विचार कर्तव्य=करने योग्य है। ज्ञान और ग्रन्थ का जन्य जनक भाव सम्बन्ध है। इत्यादि ॥२१॥

## विषय वर्णन। दोहा

**जीव ब्रह्म की एकता, कहत विषय जन बुद्ध।**
**तिन को जो अन्तर लहैं, ते मति मन्द अबुद्ध ॥२२॥**

जीव और ब्रह्म की एकता=अभेद इस ग्रन्थ का विषय=मुख्य प्रतिपादनीय तत्त्व है। और उस एकता को ही बुद्ध=पंडित जन सब वेद का विषय कहते हैं। अतः उनजीव ब्रह्म के सत्य स्वरूप में जो अन्तर=भेद लहते=समझते हैं। सो मतिमन्द = शठ और अबुद्ध = अज्ञ हैं ॥२२॥

## प्रयोजन वर्णन। दोहा

**परमानन्द स्वरूप की, प्राप्ति प्रयोजन जानि।**
**जगत समूल अनर्थ पुनि, ह्वै ताकी अति हानि ॥२३॥**

अविद्या=अज्ञानादि कारण सहित प्रपञ्च=संसार जन्मादि रूप दुःख का हेतु है, अतः अनर्थ कहा जाता है, उस अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं, सो मोक्ष ग्रन्थ का मुख्य परम प्रयोजन है, और ज्ञान अवान्तर प्रयोजन है। क्योंकि जिस विषयक

मनुष्य की अभिलाषा हो, वह अभिलषित वस्तु परम प्रयोजन और पुरुषार्थ कहा जाता है । तहाँ दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति विषयक सब मनुष्य की अभिलाषा होती है । और वही मोक्ष का स्वरूप है । अतः मोक्ष परम प्रयोजन=फल है, ज्ञान नहीं, क्योंकि मोक्ष के हेतु होते भी मोक्षस्वरूप ज्ञान नहीं है । अतः ज्ञान अवान्तर प्रयोजन है, जिसके द्वारा परम-प्रयोजन की प्राप्ति हो उसको अवान्तर प्रयोज कहते हैं । ऐसा ज्ञान है, और मोक्ष मुख्य प्रयोजन है ॥२३॥

॥प्रयोजन विषयक शंका समाधान रूप कवित्त॥

जीव को स्वरूप अति, आनन्द कहत वेद ।
ताकूं सुख प्राप्ति को, असम्भव बखानिये ॥
आगे जो अप्राप्त वस्तु, ताकी प्राप्ति सम्भवत ।
नित्य प्राप्त वस्तु की तो, प्राप्ति किमि मानिये ॥१॥
ऐसी शंका लेश आनि, कीजै न विश्वास हानि ।
गुरु के प्रसाद ते, कुतर्क भले भानिये ॥
कर को कंकन खोयो, ऐसो भ्रम भयो जिहि ।
ज्ञान ते मिलत इमि, प्राप्त प्राप्ति जानिये ॥२॥

शंका होती है कि अनर्थ की निवृत्ति और परमाऽऽनन्द की प्राप्ति रूप ग्रन्थ का प्रयोजन प्रथम कहा गया है, सो बन नहीं सकता है, क्यों कि सब वेद जीव को परमानन्द स्वरूप कहते हैं । और उसका अङ्गीकार किया जाता है । और जो वस्तु प्रथम अप्राप्त हो, उसकी प्राप्ति का सम्भव है, सदा प्राप्त आनन्द स्वरूप की प्राप्ति तो किसी प्रकार भी मानी नहीं जा सकती है ॥१॥ उत्तर है कि ऐसी शंका के लेश मात्र को भी अपने हृदय में ला कर ग्रन्थ के प्रयोनन विपयक विश्वास की हानि नाश नहीं करना चाहिए, किन्तु आत्मविद्या के उपदेशक गुरु के सप्राद=कृपा से शंका रूप कुतर्क को दृष्टान्त द्वारा भली रीति से

मानना=नष्ट करना चाहिए। दृष्टान्त यह है कि जैसे किसी के हाथ में कंकन के रहते, उसको भ्रम हो जाय कि मेरा कंकन खोय गया=नष्ट हो गया=भूल गया, और फिर किसी के कहने आदि से उसे ज्ञान हो कि मेरा कंकन हाथ में ही है, तब वह कहता है कि 'कंकन मिल गया) तहाँ प्राप्त की ही प्राप्ति कही जाती है॥ इसी प्रकार परमानन्द स्वरूप आत्म विषयक अविद्या से भ्रम होता है कि "आत्मा परमानन्द स्वरूप नहीं है, किन्तु आत्मभिन्न ब्रह्म परमानन्द स्वरूप है" उस ब्रह्म को उपासना आदि से प्राप्त करके मैं सुखी होऊंगा, इत्यादि। इस प्रकार की भ्रान्ति युक्त प्राणी को यदि उत्तम संस्कारादि के बल से कभी ब्रह्मज्ञानी आचार्य द्वारा वेदान्त वाक्य के श्रवण की प्राप्ति होती है, तो वह श्रुत (सुने हुये) अर्थ को निश्चय करके कहता है कि, मुझे वाक्य और आचार्य की कृपा से परमानन्द की प्राप्ति हुई है। तहाँ यद्यपि आत्मा तो भ्रम काल में भी परमानन्द स्वरूप ही रहता है, तथापि अज्ञ को उस परमानंद स्वरूपता की प्रतीति नहीं होती है, अतः अप्राप्त के समान रहता है। और आचार्यादि के द्वारा आनन्दरूपता की बुद्धि में प्रतीति ज्ञान होती है, अतः परमानन्द की प्राप्ति कही जाती है। और इस प्रकार प्राप्त की प्राप्ति बनने से परमानन्द की प्राप्ति रूप ग्रन्थ का प्रयोजन बनता है॥ और जैसे प्राप्त की प्राप्ति ग्रन्थ का प्रयोजन होता है, तैसे नित्य निवृत्ति की निवृत्ति भी प्रयोजन होता है। अर्थात् जैसे जेवरी=रस्सी में नित्य निवृत्त सर्प की रस्सी ज्ञान से निवृत्ति होती है। तैसे ही सत्यात्मा में नित्य निवृत्तसंसार की आत्मज्ञान से निवृत्ति होती है। अतः नित्यनिवृत्त की निवृत्ति और नित्य प्राप्त की प्राप्ति ग्रन्थ का प्रयोजन=फल है॥२॥

उक्तार्थ में शंका होती है कि अनर्थ की निवृत्ति=नाश=ध्वंस अभाव रूप है, और परमानन्द की प्राप्ति भाव रूप है, सो एक मोक्ष में भाव और अभाव दोनों स्वरूप होना नहीं बन सकता है, क्योंकि भावरूपता और अभाव रूपता परस्पर विरोधी हैं, अतः एक काल में एक

वस्तु में नहीं रह सकते हैं, इसलिए उक्त ग्रन्थ का प्रयोजन नहीं बन सकता है ॥

इस शंका का उत्तर । दोहा ।

अधिष्ठान ते भिन्न नहिं, जगत निवृत्ति बखान ।
सर्प निवृत्ती रज्जु जिमि, भये रज्जु को ज्ञान ॥२४॥

कारण सहित जगत् की निवृत्ति जगत् के अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किन्तु ब्रह्म स्वरूप ही है, जैसे कि रज्जु के ज्ञान होने पर भ्रम सिद्ध सर्प की निवृत्ति रज्जु रूप ही होती है, क्योंकि सब कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठान रूप ही होती है, यह भाष्यकार का सिद्धान्त है । अतः अनर्थ की निवृत्ति ब्रह्म स्वरूप है । और अनर्थ का अधिष्ठान ब्रह्म भाव रूप है, और इस प्रकार एक भावरूपता से ग्रन्थ का प्रयोजन बनता है । यह बात सिद्ध हुई ॥२४॥

जो जन प्रथम तरंग यह, पढ़ै ताहि तत्काल ।
करहु मुक्त गुरु मूर्ति ह्वै, दादू दीन दयाल ॥२५॥

इति श्री विचारसागरे अनुबन्ध सामान्य निरूपणं
नाम प्रथमस्तरंगः ॥१॥

**टिप्पणी**—हे दीन दयालु=दीन=अज्ञ पर दया करने वाले श्री दादूजी महाराज, जो जिज्ञासु जन इस प्रथम तरंग को पढ़ै, उसको गुरु स्वरूप होकर शीघ्र मुक्त करें । यह आशीर्वाद रूप मङ्गल तरंग के अन्त में किया गया है ॥२५॥

इस ग्रन्थ के आदि में निर्गुण वस्तु ब्रह्मात्मा के निर्देशात्मक मंगल करके शंका के उत्तर के व्याज=बहाने से विष्णु आदि उत्तम देव और ईश्वर रूप सगुण वस्तु का निर्देश रूप मंगल भी किया गया है, और सब प्रकरणों के अन्त अन्त में परम गुरु का निर्देश रूप मंगल

किया गया है, क्योंकि शिष्य प्रथम गुरु रूपता को प्राप्त करके ही विमुक्त होता है। उक्त रीति से यह ग्रन्थ आस्तिक्य पूर्ण है ॥

ज्ञान की शुभेच्छा १ सुविचारणा २ तनुमानसा ३ सत्त्वापत्ति, ४ असंसक्ति, ५ पदार्थाऽभाविनी ६ और तुर्या, नामक ७ अवस्था वेदान्त में मानी जाती है, तहाँ प्रथम तरंग को शुभेच्छामय, द्वितीय को सुविचार मय, तृतीय को तनुमानसामय, चतुर्थ को सत्त्वापत्तिमय, पञ्चम को असंसक्ति के साधन मय, षष्ठ को स्वप्नतुल्य पदार्थाभाव मय और सप्तम को समाधि स्वरूप तुर्यात्मक समझना चाहिए ॥ जाग्रदादि की अपेक्षा से सप्तम भूमिका को तुर्या=चतुर्थी कही जाती है। वस्तुतः वह तीन अवस्था से पर स्वरूप स्थिति मात्र होती है ॥

नाम रूपात्मक सब पदार्थ के तथा जीव के १ प्रातिभासिक २ व्यावहारिक, ३ और परमार्थिक ये त्रिविध स्वरूप होते हैं, तिन में स्वप्न भ्रम काल मात्र में प्रतीत होने वाले प्रातिभासिक कहे जाते हैं, और लोक व्यवहार काल मात्र में प्रतीत होने वाले व्यावहारिक कहे जाते हैं, समाधिविचार काल में ज्ञानी मात्र को प्रतीत होने वाला परमार्थिक सब का सत्य स्वरूप ब्रह्म सत्यात्मा कहा जाता है। और जीवों के व्यावहारिक स्वरूप में तीन अवस्था, जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति होती हैं, तथा व्यावहारिक जीव ही कारण, ( भाव स्वरूपअज्ञान-आनन्दमयकोश ) और सूक्ष्म प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशत्रय, और स्थूल अन्नमय कोश वाले होते हैं, जीवों का पारमार्थिक स्वरूप व्यवहारातीत कोश रहित अवस्था त्रयातीत सर्वसाक्षिमात्र निर्गुण एक तत्त्व है, तो भी जाग्रदादि की अपेक्षा से तुर्य (चतुर्थ) तथा ओंकार सम्बन्धी, अ, उ, म् रूप मात्राओं के अवाच्य होने से अमात्र कहा जाता है। उसके ज्ञान से मोक्ष होता है, अतः उसके ज्ञान के लिए ही सब वेदान्त की तथा विचार सागर की प्रवृत्ति हुई है ॥

ॐ शम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ

# विचारसागर । द्वितीयतरंग ॥

## अनुबन्धविशेषनिरूपण ।

दोहा ॥

याके प्रथम तरंग में, किय अनुबन्ध विचार ।
कहुं अब द्वितीय तरंग में, तिन ही को विस्तार ॥१॥

कारण सहित जगत की निवृत्ति रूप मोक्ष के प्रथम अंश की इच्छा का असम्भव है । क्योंकि चार साधनयुक्त ज्ञान का अधिकारी कहा गया है । और उन साधनों में मोक्ष की इच्छा रूप मुमुक्षता गिनी गई है, और कारण सहित जगत् की निवृत्ति तथा ब्रह्म की प्राप्ति मोक्ष कहा जाता है । उस में कारण सहित जगत की निवृत्ति रूप मोक्ष के अंश को कोई चाहता नहीं है । इस अर्थ का पूर्वपक्षी प्रतिपादन करता है कि—

मूल सहित जग ध्वंस की, कोउ करत नहिं आस ।
किन्तु विवेकी चहत हैं, त्रिविध दुखन का नास ॥२॥

मूल अविद्या सहित जगत के ध्वंस=नाश की आस=इच्छा कोई नहीं करता है । किन्तु विवेकी जीव, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, इन तीन प्रकार के दुखों के नाश को चाहते=इच्छा करते हैं ॥ रोगादि जन्य दैहिक दुःख और इष्ट वियोगादि जन्य मानस दुःख को अध्यात्म दुःख कहते हैं । प्रेत ग्रहादि जन्य और वायु तेज जलादि जन्य दुःख को

अधिदैव दुःख कहते हैं। चोर व्याघ्र सर्पादि प्राणी जन्य दुःख को अधिभूत दुःख कहते हैं। इनकी निवृत्ति मात्र की इच्छा विवेकी करते हैं, मूल सहित जगत की निवृत्ति की इच्छा नहीं करते हैं। यदि कहा जाय कि जगत् की निवृत्ति के बिना दुःखों की निवृत्ति नही हो सकने के कारण जगत् की निवृत्ति की इच्छा भी विवेकी करते हैं। तो सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि लौकिक भोजन औषधादि साधनों से क्षुधा रोगादि जन्य दुःखों की निवृत्ति जगत् की निवृत्ति के बिना ही प्रत्यक्ष देखी जाती है, इसी प्रकार लौकिक यत्नों से ही अन्य दुःखों की भी निवृत्ति हो सकती है, और सांख्यादि की रीति से आत्मविवेक वैराग्यादि मात्र से आगामी पारलौकिक दुःखों की निवृत्ति रूप मुक्ति भी हो सकती है, अतः मूल सहित जगत ध्वंस रूप मोक्ष की इच्छा का असम्भव है ॥२॥ ब्रह्म की प्राप्तिरूप मोक्ष के द्वितीय=दूसरे अंश की इच्छा के असंभव का प्रतिपादन पूर्वपक्षी करता है कि—

**किय अनुभव जा वस्तु को, ताकी इच्छा होइ।**
**ब्रह्म नहीं अनुभूत इमि, चहै न ताको कोइ ॥३॥**

जिस वस्तु का अनुभव=ज्ञान प्रथम किया हो, उस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है। अन्य देशान्तरादि में वर्तमान भी अनन्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं होती है। और ब्रह्म भी अधिकारी को अनुभूत= ज्ञात नहीं है, अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान अधिकारी को नहीं रहता है, अतः कोई विवेकादि युक्त अधिकारी उस ब्रह्म को प्राप्त करना नहीं चाहता है, अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा का असम्भव है। क्योंकि जिसको ब्रह्म का ज्ञान है, वह मुक्त है, ज्ञान का अधिकारी नहीं है, और जो अधिकारी है, उसको श्रवणादि से प्रथम ब्रह्म का ज्ञान नहीं है, अतः उसको ब्रह्मप्राप्ति की इच्छा नहीं हो सकती है। इसलिए अज्ञान सहित जगत् की निवृत्ति और ब्रह्म की प्राप्ति रूप मोक्ष की इच्छावाला अधिकारी का असम्भव है ॥३॥

अन्य रीति से भी अधिकारी के असम्भव का प्रतिपादन पूर्व पक्षी करता है कि—

**चहत विषय सुख सकल जन, नहीं मोक्ष को पन्थ।**
**अधिकारी याते नहीं, पढ़ै सुनै जो ग्रन्थ ॥४॥**

सब प्राणी विषय सुख को ही चाहते हैं, विषयों को त्याग कर तप करने वाले भी पारलौकिक उत्तम भोग की इच्छा से ही नाना कष्ट सहते हैं। अतः इस लोक वा परलोक के विषय सुख को सब चाहते हैं। और मोक्ष में विषय सुख प्राप्त नहीं होता है। अतः मोक्ष के पन्थ=साधनों को कोई नहीं चाहता है। इसलिए मुमुक्षा, वैराग्य, शम, दम, उपरति आदि साधनों के असम्भव से चार साधन युक्त अधिकारी के असम्भव होने के कारण ग्रन्थ का आरम्भ निष्फल है ॥४॥

जीव ब्रह्म की एकता रूप विषय की असम्भवता को पूर्वपक्षी दर्शाता है कि—

**जीव ब्रह्म की एकता, कह्यो विषय सो कूर।**
**क्लेश रहित विभु ब्रह्म इक, जीव क्लेश को मूर ॥५॥**

जीव ब्रह्म की एकता ग्रन्थ का विषय कहा गया है, सो कूर=क्रूर= कठिन= असम्भव है। क्योंकि अविद्या आदि रूप क्लेशों से रहित, व्यापक और एक ब्रह्म है। और जीव सब क्लेशों का मूल स्वरूप अनेक हैं, इससे इनकी एकता का असम्भव है॥ अर्थात् अनादि अज्ञान को और अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्म स्वरूप वस्तु में नित्य, शुचि, सुख, और आत्म बुद्धि रूप विपरीत ज्ञान को अविद्या कहते हैं, ॥१॥ बुद्धि और आत्मा की एकता तुल्य विवेक रहित ज्ञान को अस्मिता कहते हैं। ॥२॥ इष्ट वस्तु विषयक आसक्ति को राग कहते हैं, ॥३॥ अनिष्ट विषयक प्रतिकूल भावना को द्वेष कहते हैं, ॥४॥ मरण भय जन्य देहासक्ति को अस्मिता

कहते हैं। ॥५॥ दुःख के हेतु ये पांचो दोष और इनसे जन्य अनन्त क्लेश कष्ट दुख जीवों में रहते हैं। और जीव अनेक हैं शरीरादि के भेदों से इन में भेद है, अन्यथा सुख दुःखादि की व्यवस्था नहीं हो सकेगी, एक जीव के सब शरीर में होने पर, एक शरीर में सुखादि के होने पर सब शरीर में सुखादि होगें। यदि कहा जाय कि सुखादि अन्तः करण के धर्म हैं, सो अन्तः करण अनेक है, और साक्षी स्वरूप एक है, सो दुःखादि से रहित एक है, उस की ब्रह्म से एकता हो सकती है। तो सो कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि कर्ता भोक्ता स्वरूप जीव से भिन्न साक्षी है नहीं। यदि भिन्न साक्षी माना भी जाय तो नाना ही मानना होगा, क्योंकि वेदान्त का सिद्धान्त है कि, अन्तःकरण और अन्तःकरण के सुखदुःखादि रूप धर्म, अन्तःकरण और इन्द्रियों के विषय नहीं होते हैं। अर्थात् सुखादि सहित अन्तःकरण, अन्तःकरण और इन्द्रियों से जाने=प्रकाशे नहीं जाते हैं। किन्तु सुखादि सहित अन्तःकरण साक्षी के विषय होते हैं, साक्षी से जाने=प्रकाशे जाते हैं। क्योंकि इन्द्रियाँ तो पञ्चीकृत भूत और उनके कार्य भौतिक पदार्थों को विषय करती हैं, जैसे कि नेत्रइन्द्रिय व्यक्त रूप वाले पदार्थ, रूप, और रूपत्वादि धर्म को विषय करती है। त्वगिन्द्रिय स्पष्ट स्पर्श युक्त पदार्थ, स्पर्श, स्पर्शत्वादि को विषय करती है। रसना, घ्राण, और कर्ण इन्द्रिय तो रस, गन्ध और शब्द तथा इनके धर्म रसत्वादि मात्र को ग्रहण करते हैं। रसादि वाले पदार्थों का ग्रहण नहीं करते हैं। अतः इन बाह्य इन्द्रियों से अन्तःकरण का ग्रहण=ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्तःकरण अपञ्चीकृत भूतों का कार्य है, और वह बाह्य पदार्थ गुण धर्मादिरूप नहीं है। इसी से नेत्र भी नेत्र का विषय नहीं होता है। क्योंकि नेत्रेन्द्रिय अपञ्चीकृत भूत का कार्य है। और अन्तःकरण अपनी वृत्ति का भी विषय नहीं हो सकता है। क्योंकि वृत्ति का आश्रय है, दाह का आश्रय अग्नि जैसे दाह का विषय नहीं होती है। तैसे वृत्ति का आश्रय अन्तःकरण वृत्ति का

विषय नहीं हो सकता है । यद्यपि अन्धकार का आश्रय गृह जैसे अन्धकार का विषय भी होता है, तैसे ही वृत्ति का विषय अन्तःकरण को होना चाहिए, तथापि अन्धकार और गृह में भेद के रहने से विषय-विषयी भाव बनता है, परन्तु वृत्ति और वृत्तिमान में अभेद होने से विषय विषयी भाव नहीं बन सकता है । इसी प्रकार अन्तःकरण के धर्म सुखादि भी अन्तःकरण की वृत्ति के विषय नहीं होते हैं । क्योंकि वृत्ति यदि अन्तःकरण को विषय करे, तो उसके धर्मों को भी विषय कर सकती है, और वृत्ति तो अन्तःकरण के सम्मुख होती नहीं है । अतः अन्तःकरण के धर्मों को विषय नहीं कर सकती है । और दूसरी बात है कि जो वस्तु वृत्ति के आश्रय से कुछ दूर रहती है, उस वस्तु को वृत्ति विषय करती अत्यन्त समीप की वस्तु को वृत्ति विषय नहीं करती है, जैसे कि नेत्र वृत्ति के अत्यन्त समीप वृत्ति अञ्जन को नेत्र वृत्ति विषय नहीं करती है, तैसे ही वृत्ति के आश्रय से अत्यन्त समीपवर्ती सुखादि को वृत्ति विषय नहीं कर सकती है । उक्त रीति से धर्म सहित अन्तःकरण, इद्रिंय वा अपनी वृत्ति के विषय नहीं होने के कारण साक्षी के विषय होते हैं, सो साक्षी यदि एक हो तो जैसे एक अन्तःकरण के धर्मों का साक्षी से भान= प्रकाश होता है । तैसे सबके सुखादि धर्मों का भान होना चाहिए, और होता नहीं है, अतः साक्षी नाना हैं, उनसे पृथक् अन्तःकरणादि का भान होता है, और उन नाना साक्षियों की एक ब्रह्म के साथ एकता के असम्भव से ग्रन्थ के विषय का असम्भव है ॥५॥

मिथ्या बन्ध की सामग्री के अभाव से बन्ध सत्य है, और सत्य की ज्ञान द्वारा निवृत्ति के अभाव से प्रयोजन के अभाव को पूर्व पक्षी कहता है कि—

**बन्ध निवृत्ति ज्ञान ते, बनै न बिनु अध्यास ।**
**सामग्री ताकी नहीं, तजो ज्ञान की आस ॥६॥**

अहंकारेन्द्रियादि अनात्म वस्तु को बन्ध कहते हैं, सो बन्ध यदि अध्यास=भ्रम स्वरूप हो, तो ज्ञान से उसकी निवृत्ति हो, और अध्यास रूप नहीं होने पर ज्ञान से निवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि ज्ञान का स्वभाव है कि सत्य वस्तु विषयक यथार्थ==प्रमाज्ञान से अज्ञान और अध्याय निवृत्त होता है। जैसे रज्जु के ज्ञान से रज्जु के अज्ञान और सर्प के अध्यास की निवृत्ति होती है। भ्रमरूप ज्ञान का विषय और भ्रम रूप ज्ञान दोनों को अध्यास कहा जाता है, तथा मिथ्या कहा जाता है, मिथ्या वस्तु की ज्ञान से निवृत्ति होती है, सत्य की नहीं, आत्मा में अहंकारादि बन्ध यदि मिथ्या हों, तो उनकी निवृत्ति ज्ञान से हो, आत्मा में मिथ्या बन्ध की सामग्री (साधन समूह) नहीं है। और बन्ध की प्रतीति होती है। अतः बंध सत्य है, और सत्य की निवृत्ति ज्ञान से नहीं हो सकती है, अतः ज्ञान से मोक्ष की आशा को त्याग दो ॥ ६ ॥ (अध्यास सामग्री)—

**सत्य वस्तु के ज्ञान ते, संस्कार इक जान।**
**त्रिविध दोष, अज्ञान पुनि, सामग्री पहिचान ॥७॥**

सत्य वस्तु के ज्ञान जन्य संस्कार १, एक, प्रमाता=जीव के लोभादि रूप, २ प्रमाण=नेत्रादि के पित्त मन्दता आदि रूप ३ प्रमेय=ज्ञेय वस्तु के सादृश्य दूरता आदि रूप ४ ये तीन दोष, और अधिष्ठान (भ्रमस्थान) के विशेष स्वरूप का अज्ञान ५, ये पाँच अध्यास की सामग्री=पूर्ण हेतु हैं। इनके बिना अध्यास नहीं होता है ॥

जैसे कि रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, सो सत्य सर्प के ज्ञान जन्य संस्कार के रहने पर होता है। तथा सर्पतुल्य लम्बी रस्सी में होता है, चाँदी का भ्रम चमकने वाली सीपी में होता है। रस्सी में चाँदी का और सीप में सर्प का भ्रम नहीं होता है। अतःप्रमेय गत सादृश्य दोष भ्रम का कारण माना जाता है, और प्रमाता के लोभ भयादि

रूप, प्रमाण के पित्तादि रूप, दोष माने जाते हैं। और सीपी रज्जु (ररसी) आदि के सामान्य ( इदं ) रूप से ज्ञान तथा विशेष (सीपी) आदि रूप से अज्ञान के रहते ही रजत सर्पादि के भ्रम होते हैं, अन्यथा नहीं, अतः सामान्य स्वरूप का ज्ञान और विशेष स्वरूप का अज्ञान भ्रम का हेतु होता है, अतः ये सब अध्यास की सामग्री हैं। जैसे चक्र मृतिका कुलालादि घट की सामाग्री होते हैं, सामग्री में से एक के भी नहीं रहते कार्य की सिद्धि नहीं होती है ॥

और आत्मा में बन्ध के अध्यास में सत्य बन्ध के अभाव से सत्य बन्ध वस्तु के ज्ञान जन्य संस्कार का अभाव है। चेतन अन्तरात्मा में जड़ बाह्य बन्ध का सादृश्यादि रूप प्रमेय दोष का अभाव है, अतः दीप और घट के तुल्य विलक्षण आत्मा और बन्ध के होने से किसी में किसी का भ्रम नहीं हो सकता है ॥

और प्रमाता प्रमाणादि रूप सब प्रपञ्च=विस्तार के ही बन्ध=संसार होने के कारण प्रमाता प्रमाण के दोषों का असम्भव है, क्योंकि प्रमाता आदि से भिन्न कोई संसार बन्ध नहीं हैं, न वेदान्त मत में बन्ध से भिन्न प्रमाता प्रमाण हैं कि जिनके दोष अध्यास का हेतु हो,

इसी प्रकार सामान्य विशेष भाव से रहित ब्रह्मात्मा में स्वयं प्रकाश होने के कारण सूर्य में अन्धकार के असम्भव के समान अज्ञान का असम्भव है। तथा समान्य रूप से ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान का असम्भव है, अतः अध्यास=भ्रम रूप संसार के भी असम्भव होने से संसार सत्य हैं। और सत्य वस्तु की ज्ञान से निवृत्ति नहीं हो सकती है, इस लिए ज्ञान द्वारा बन्ध की निवृत्ति ग्रन्थ का प्रयोजन नहीं हो सकता है, अतः कहा जाता है कि—

सत्य बन्ध की ज्ञान ते, नहीं निवृत्ति सयुक्त ।<br>
नित्य कर्म संतत करै, भयो चहै जो मुक्त ॥ ८ ॥

सत्य बन्ध की ज्ञान से निवृत्ति कहना युक्ति युक्त नहीं है। अतः जो मुक्त होना चाहे, सो सन्ततः सदा नित्य कर्म किया करे, सत्य बन्ध की कर्म से निवृत्ति हो सकती है, जैसे दण्ड प्रहार से घटादि की निवृत्ति होती है ॥

भाव है कि शास्त्र से विहित=कर्तव्य रूप से बोधित, और निषिद्ध=त्याज्यरूप से बोधित ये दो प्रकार के कर्म होते हैं। और स्वभाव सिद्ध चलन हलनादि क्रिया कर्म नहीं कही जाती है, विहित कर्म, नित्य १ नैमित्तिक, २ काम्य, ३ और प्रायश्चित्त ४ नाम वाले चार प्रकार के होते हैं। फलोद्देश्य के बिना जिनका सदा कर्तव्य रूप से विधान हो, उन स्नान सन्ध्या बन्दनादि को नित्य कर्म कहते हैं। किसी निमित्त=कारण विशेष से विहित कर्म को नैमित्तिक कहते हैं, जैसे कि जात कर्म ग्रेहण श्राद्धदि हैं, और वृद्ध के आगमन से उत्थान कर्म सत्कारादि कर्म हैं, फल विशेष के लिए विहित-दर्शपौर्णमासादि याग दान तप आदि काम्य कर्म कहे जाते हैं, कोई काम्य कर्म अदृष्ट फल के हेतु होते हैं, जैसे कि दर्शादि अदृष्ट स्वर्गादि के हेतु होते हैं, और कोई कर्म दृष्ट फल के हेतु होते हैं, जैसे ( कारीरी ) नामक यज्ञ का दृष्ट वृष्टि फल होता है। अवस्था वृद्धादि के दर्शन से उत्थनादि कर्म से वृद्ध की प्रसन्नता, पाप की अनुत्पत्ति रूप फल के होने पर भी अदृष्ट द्वारा लौकिक या पारलौकिक अन्य फल के अभाव से उसे काम्य कर्म नहीं कहा जाता है। प्रमादादि जन्य पापों की निवृत्ति के लिए विहित कर्म को प्रायश्चित्त कहते हैं। चोरी हिंसा असत्य क्रूरादि वचन और व्यभिचारादि निषिद्ध कर्म सहित पाँच प्रकार के कर्म होते हैं।

तहाँ शुभ और अशुभ फलों के हेतु काम्य और निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान मुमुक्षु नहीं करे, किन्तु नित्य कर्म सदा करे, और नैमित्तिक

के समय पर नैमित्तिक करे कि जिससे नित्य नैमित्तिक के अकरण जन्य दोषों की भी नहीं प्राप्ति हो; और प्रमाद से पाप हो गया हो तो प्रायश्चित कर्म करे, जन्मांतर के पाप की शंका हो तो ईश्वर नाम जप दान दया आदि साधारण प्रायश्चित्त करे, ज्ञात विशेष पाप हो तो उपवासादि विशेष प्रायश्चित्त करे यद्यपि साधारण प्रायश्चित्त से सब पापों की निवृत्ति और पुण्य की भी उत्पत्ति होने के कारण उससे स्वर्गादि की प्राप्ति होने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं कहीं जा सकती है, तथापि सकाम पुरुष से किया गया प्रायश्चित्त काम्य रूप होकर पाप के नाश पूर्वक स्वर्गादि का हेतु होता है। निष्काम से किया गया केवल प्रायश्चित्त स्वर्गादि का हेतु नहीं होता है। जैसे वेदान्त में सभी कर्मों को सकाम पुरुषों के संसार का हेतु कहा गया है, और निष्काम के अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु कहा गया है। तैसे ही सकाम के साधारण प्रायश्चित्त कर्म काम्य और प्रायश्चित्त दो स्वरूप वाले होते हैं। और निष्काम के केवल प्रायश्चित्त स्वरूप होते हैं। और प्रायश्चित द्वारा जन्मान्तर के सब पापों का ज्ञान के बिना भी नाश होता है। और इच्छा के अभाव ईश्वरार्पणादि से जन्मांतर के काम्य कर्म भी फलों के हेतु नहीं होते है। जैसे कर्म के अनुष्ठान काल में पुरुष की इच्छा को फल का हेतु वेदान्त में माना गया है, तैसे ही अनुष्ठान के बाद भी इच्छा ही फल का हेतु है। और मुमुक्षु होने पर वह सब लौकिक फलों की इच्छा से रहित हो जाता है। अतः लौकिक फलों को नहीं प्राप्त करके ज्ञान के बिना भी उक्तरीति से कर्मादि द्वारा ही मोक्ष को प्राप्त करता है ॥

अथवा काम्य और निषिद्ध कर्म को त्याग कर जो नित्य नैमित्तिक कर्म करता है, उसके संचित काम्य कर्म और पाप कर्म नित्यादि के अनुष्ठान से ही इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं कि जैसे वेदान्त में ज्ञान से नष्ट होते हैं, अतः मुमुक्षु को प्रायश्चित्त की भी आवश्यकता नहीं है ॥

अथवा संचित काम्य और निषिद्ध सर्वकर्म मिल कर एक जन्म मात्र का आरम्भ करते हैं, इससे मुमुक्षु का एक जन्म मात्र होता है। सो योगी के कायव्यूह==शरीर समूह के समान एक काल में ही सब संचित अनेक शरीर का आरम्भ करते हैं, उनके द्वारा उत्तर जन्म में मुमुक्षु सब कर्मों को भोग लेता है ॥ अथवा नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान जन्य क्लेशों के द्वारा ही संचितनिषिद्धकर्मफलों को मुमुक्षु भोग लेता है। केवल काम्य पुण्य कर्मों से उसका एक जन्म होता है, अथवा एक काल में अनन्त शरीर होते हैं, अतः मुमुक्षु को उत्तर जन्म में केवल सुख का ही भोगा होता है, और इस प्रकार प्रायश्चित के बिना भी नित्य नैमित्तिक के अनुष्ठान से मोक्ष होता है, अतः नैमित्तिक के समय में नैमित्तिक का अनुष्ठान करता हुआ नित्य कर्म सदा करे। इस मत को शास्त्र में एक भविकवाद. कहते हैं ॥

उक्त रीति से ज्ञान के बिना ही मोक्ष की सिद्धि से ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति ग्रन्थ का प्रयोजन नहीं हो सकता है। क्योंकि जो फल अन्य से नहीं हो, सो मुख्य प्रयोजन कहा जाता है। जैसे रूप का ज्ञान नेत्र के बिना नहीं होता है, अतः रूप ज्ञान नेत्र का प्रयोजन है। और मोक्ष तो वेदान्तादि ग्रन्थ के बिना कर्म से भी होता है। अतः मोक्ष ग्रन्थ का प्रयोजन नहीं है ॥

उक्त रीति से अधिकारी, विषय और प्रयोजन के अभाव से, उक्त प्राप्यप्रापक भावादि कोई सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो सकता है, न विषय के साथ ग्रन्थ का प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध बन सकता है। और अधिकारी आदि रूप अनुबन्धों के अभाव से ग्रन्थ का आरम्भ अयुक्त है ॥

॥ उक्तशंकाओं का उत्तर ॥

मोक्ष के दोनों अंशों के असम्भव से मुमुक्षु का अभाव कहा था, उसका उत्तार है कि—

**मूल सहित जग हानि बिनु, ह्वै न त्रिबिध दुखध्वंस ।**
**याते जन चाहत सकल, प्रथम मोक्ष को अंश ॥६॥**

मूल—कारण रूप अज्ञान सहित जन्मादि रूप जगत की हानि=निवृति के बिना तीन प्रकार के दुःखों का ध्वंस=नाश नहीं होता है। और मूल के नाश से शरीर रोगादि सहित सब दुःखों का सहज ही नाश होता है। अतः दुःखों के नाश के लिए कारण सहित जगत की निवृत्ति रूप मोक्ष के प्रथम अंश को सब जन चाहते हैं ॥

भाव है कि लौकिक उपायों से दुःखो की अवश्य निवृत्ति नहीं होती है, और निवृत्त दुःखों की भी फिर उत्पत्ति होती है, और फिर उत्पत्ति रहित निवृत्ति को अत्यन्त निवृत्ति कहते हैं। सो दुःखों के कारण अविद्यादि की निवृत्ति से हो सकती है। अतः दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के लिए मूल सहित जगत की निवृत्ति सब जन चाहते हैं। क्योंकि दुःखों का कारण मूल सहित जगत है। सो छान्दोग्य उपनिषद् में प्रसिद्ध है, वहाँ सनत्कुमारजी ने नारदजी के प्रति कहा है कि भूमा=ब्रह्मात्मा शोक रहित सुखस्वरूप है, और ब्रह्मात्मा से भिन्न सब वस्तु तुच्छ और दुःखों का साधन है, और सो भिन्न वस्तु अज्ञान और उसके कार्य हैं, अतः दुःख के साधन हैं, और उनकी निवृत्ति=उनमें मिथ्यात्व बुद्धि आदि द्वारा उनके बाध, तथा व्यष्टि अज्ञानादि के नाश से सब दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति सिद्ध होती है, अतः सब दुःखों की निवृत्ति के लिए अज्ञान सहित जगत् की निवृत्ति रूप मोक्ष के प्रथम अंश की इच्छा होती है ॥ ६ ॥

और अनुभूत वस्तु ही की इच्छा नहीं होती है किन्तु अनुभूत अनुकूल वस्तु की सजातीय वस्तु की इच्छा होती है अतः अनुभूत सुख के सजातीय सुखस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति रूप मोक्ष के द्वितीय अंश की इच्छा भी होती है, इस आशय से कहा गया है कि—

**किय अनुभव सुख को सबहि, ब्रह्म सुन्यो सुख रूप।**
**ब्रह्मप्राप्ति या हेतु ते, चहत विवेकी भूप ॥१०॥**

सब मनुष्यों ने सुख का अनुभव किया है, और सब सुख को चाहते हैं, और ब्रह्म नित्य सुख रूप है, इस प्रकार सतशास्त्रादि से प्रायः सुना जाता है, इस कारण से उत्तम विवेकी ब्रह्म की प्राप्ति को चाहता है ॥१०॥

और पूर्वपक्षी ने कहा था कि विषय सुख को सर्व जन चाहते हैं, इत्यादि, सो कहना उचित नहीं है, क्योंकि—

**केवल सुख सब जन चहैं, नहीं विषम की चाह।**
**अधिकारी याते बनै. है जु विवेकी नाह ॥११॥**

सब दुःख से रहित केवल नित्य सुख सब जन चाहते हैं, और ऐसा सुख ही मोक्ष है, अतः मुमुक्षु हैं। और सुषुप्ति समाधि आदि कालिक सुखों की इच्छा होती है, अतः विषय और विषय जन्य सुख की ही सब इच्छा करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सुषुप्ति आदि में विषय जन्य सुख नहीं रहते हैं, किन्तु केवल नित्य आत्म सुख का सुषुप्ति आदि में अनित्य भान=ज्ञान होता है, और उस सुख की इच्छा होती है, इससे सिद्ध होता है कि सब जन आत्म सुख को चाहते हैं, विषय सुख को नहीं, क्योंकि अल्प वा अधिक विषय सुख की प्राप्ति रहते भी सबकी इच्छा बनी रहती हैं कि ( हमें नित्य सुख मिलना चाहिए ) और नित्य सुख स्वरूप मोक्ष है, अतः सब मुमुक्षु हैं, इसलिए मुमुक्षु का अभाव नहीं कहा जा सकता है। उत्कट मोक्षेच्छा युक्त मुमुक्षु ज्ञान का अधिकारी है, यह बात दूसरी है। और वह उत्कट इच्छा, यद्यपि पामर=शास्त्र संस्कार रहित विषयासक्त नीच पुरुष को नहीं होती है, न शास्त्र के अनुसार कर्म कर्ता भोगेच्छुक विषयी को उत्कट मोक्षेच्छा होती है। तथापि विवेकादि साधन युक्त

सत्कर्मों से शुद्ध अन्तःकरण वाले उपासक भक्त श्रद्धालु उत्तम जिज्ञासु को उत्कट मोक्षेच्छा होती है, सो ज्ञानमय ग्रन्थ का अवश्य अधिकारी होता है। क्योंकि जिज्ञासु पुरुष विवेक बल द्वारा सांसारिक विषय-सुखों को बहुविध दुःखों से ग्रस्त समझता है, लौकिक उपायों से दुःख निवृत्ति को असम्भव समझता है, पुण्य पाप से रचित सब शरीरों को विनश्वर और दुःखप्रद समझता है, इन्द्रादि देवों को भी शरीर जन्य दुःख शास्त्र में प्रसिद्ध है। अधिक पुण्य रचित होने से देव शरीर में सुख अधिक होता है, परन्तु पाप रचित भी होने के कारण असुरो द्वारा तथा परस्पर के द्वेषादि द्वारा देव शरीरों में भी दुःख होता ही है। तथापि वर्तमान कर्म विशेष में अधिकार के अभाव से देवों को पाप रहित कहा जाता है, दुःख रूप प्रारब्ध भोग का हेतु पाप देव शरीर में भी रहता ही है, तथा इन्द्रादि के वर्तमान दुष्कर्मों के फलों को उन्हें भी शापादि द्वारा भोगना होता है। अतः उत्कट कर्म जन्य पाप देव शरीर में भी प्राप्त होते हैं, अन्य सब शरीर पुण्य पाप के फलरूप प्रसिद्ध ही है, सब शरीर में पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख प्राप्त होता है। और पुण्य पाप की सर्वथा निवृत्ति के बिना शरीर की सर्वथा निवृत्ति नहीं हो सकती है। और पाप पुण्य के जनक रागद्वेष की निवृत्ति के बिना भावी पुण्य पाप की निवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल=हित और अहित बुद्धि=ज्ञान की निवृत्ति के बिना रागद्वेष की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि अनुकूल में राग और प्रतिकूल में द्वेष होता है। और वह अनुकूल प्रतिकूल बुद्धि सत्य भेद के ज्ञान से होती है। क्योंकि अपने स्वरूप से भिन्न सत्य समझी गई वस्तु में अनुकूल वा प्रतिकूल बुद्धि होती है। सुख साधन को अनुकूल और दुःख साधन को प्रतिकूल कहते हैं, अपना सत्य स्वरूप अनुकूल वा प्रतिकूल नहीं है, सुखस्वरूप है। उक्त भेद ज्ञान की

निवृत्ति के बिना अनुकूल प्रतिकूल बुद्धि की निवृत्ति नहीं होती है। और उक्त भेद ज्ञान अविद्या से होता है। क्योंकि सम्पूर्ण संसार और उसका ज्ञान अज्ञान काल में सत्य भासता है। और यह मायामय व्यावहारिक है, सत्य एक आत्मतत्त्व के ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति द्वारा भेदादि की निवृत्तिपूर्वक सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है। ऐसा निश्चय वाला जिज्ञासु होता है। क्योंकि जिज्ञासु पुरुष विषयों में आसक्त=अलंबुद्धि वाला नहीं होता है, और पामर तथा विषयी जीव विषयासक्त, तथा ज्ञान साधन सत्संगादि से रहित रहते हैं, अतः वे ज्ञात ग्रन्थ के अधिकारी नहीं होते हैं और ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष भी अधिकारी नहीं होते हैं, अतः पामर, विषयी, और मुक्त इन तीन प्रकार के पुरुषों के अनधिकारी होते भी उत्कटमोक्षेच्छुक जिज्ञासु ज्ञान ग्रन्थ का अधिकारी होता है ॥११॥

और यद्यपि क्लेशादि युक्त कर्ता भोक्ता संसारी जीव की ब्रह्म के साथ एकता नहीं हो सकती, तथापि शुद्ध साक्षी की एकता हो सकती है। इस आशय से कहा गया है कि—

**साक्षी ब्रह्म स्वरूप इक, नहीं भेद को गन्ध।**
**रागद्वेष मति के धरम, तामें मानत अन्ध ॥१२॥**

जीव साक्षी और ब्रह्म एक स्वरूप है, जीव साक्षी में नानात्व उपाधि से मिथ्या कल्पित है, अतः वह सत्य भेद का हेतु नहीं हो सकता है, इसीसे साक्षी और ब्रह्म में भेद का गन्ध=लेशमात्र भी नहीं है। और राग द्वेषादि क्लेश मति=व्यावहारिक कर्ता भोक्ता जीव के धर्म हैं। उन्हें साक्षी में मानता है, सो अन्ध=अविवेकी है। और यद्यपि कर्ता भोक्ता से सर्वथा भिन्न साक्षी नहीं है, तथापि अन्तः-करण विशिष्ट ( अन्तःकरण सहित ) चेतनात्मा, के मुख्य विशेष्य भाग कों साक्षी कहा जाता है, उसमें अन्तःकरणरूप उपाधि से ही साक्षिता और भेदादि कल्पित हैं, जैसे घटाकाश में उपाधि से भेदादि

कल्पित रहते हैं. अतः उन्हें महाकाश से वस्तुतः भेद नहीं रहता है, तैसे ही साक्षी को वस्तुतः ब्रह्म से भेद नहीं रहता है, अतः श्रुति कहती है कि—

( साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ) सबका चेतयिता=प्रकाशक साक्षी केवल=शुद्ध निर्गुण ब्रह्मस्वरूप है। और यद्यपि धर्म सहित अन्तः करण साक्षी भास्य है, तथापि केवल साक्षी भास्य नहीं है, किन्तु अन्तःकरण और अन्तःकरण की वृत्ति में स्थिर, उनसे विशिष्ट साक्षी से ही धर्म सहित अन्तःकरण भासित होता है। और विशिष्ट में विशेषण के भेद से भेद होने के कारण सबके दुखादि का अनुभव सब को नहीं होता है। अन्तःकरण रूप उपाधिवाले सब जीव साक्षी उपहित रूप से ब्रह्म से अभिन्न हैं। क्योंकि उपाधि उपहित के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं होता है, केवल मिथ्या भेद बुद्धिमात्र को सिद्ध करता है, और विशेषण विशिष्ट के स्वरूप में प्रविष्ट होकर भेदयुक्त व्यवहार और भेद बुद्धि दोनों को सिद्ध करता हैं। अतः अन्तःकरणरूप विशेषण वाला अन्तःकरण में अभिव्यक्त चिदाभासादि नाम वाला चेतनात्मा संसारी जीव कर्ता आदि स्वरूप नाना हैं, उनका ब्रह्म के साथ अभेद स्वरूप से नहीं है, किन्तु बाध दृष्टि से उनका भी अभेद है, उनका ही केवल विशेष्यस्वरूप साक्षी का ब्रह्म के साथ स्वरूप से सर्वथा अभेद है। अतः जीव ब्रह्म की एकतारूप ग्रन्थ का विषय बनता है, और यहाँ जीव पद का लक्ष्यार्थ साक्षी है ॥१२॥

### कवित्त ।१। प्रयोजन मण्डन ॥

सजातीय ज्ञान संस्कार ते अध्यास होत,<br>
सत्य ज्ञान जन्य संस्कार को न नेम है।<br>
दोष को न हेतुता अध्यास माहिं देखियत,<br>
पटमाहि हेतु जैसे तुरी तन्तु वेम है॥

आतमा द्विजाति संख पीत सिता कटु भासै,
सीप में विरागी रूप देखै बिनु प्रेम है।
नभ नील रूपवान् भासत कटाह तम्बु,
जिनके न कोउ पित्त प्रभृति अछेम है ॥१॥

वस्तुत: बन्ध=संसार आत्मा में सत्य नहीं है, किन्तु मिथ्या है। और मिथ्या बन्ध निमित्तक भेदादि भी मिथ्या ही हैं, अतः ज्ञान द्वारा बन्ध की निवृत्ति रूपज्ञान ग्रन्थ का प्रयोजन है। यदि कहा जाय कि बन्ध के सर्वत्र सदा मिथ्या होने के कारण सत्य वस्तु के ज्ञानजन्य संस्कार दोषादि के अभाव से अध्यास की सिद्धि नहीं हो सकती है, और अध्यास के बिना संसार मिथ्या नहीं हो सकता है, तो सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि सजातीय वस्तु के ज्ञान जन्य संस्कार से ही अध्यास प्रसिद्ध है, अतः अध्यास में सत्य वस्तु के ज्ञान जन्य संस्कार का नियम नहीं है। क्योंकि नटकृत मिथ्या सर्प वृक्षादि के ज्ञान जन्य संस्कार से भी सर्पादि के भ्रम होते है, नटकृत छोहारे वृक्ष के ज्ञान से खजूर में छोहारे का भ्रम हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि जैसे कर्म जन्य अदृष्ट=पुण्य पाप द्वारा कर्म स्वर्ग नरकादि का हेतु होता है, तैसे ही वस्तु का ज्ञान संस्कार द्वारा अध्यास का हेतु होता है, वह वस्तु सत्य हो वा मिथ्या हो, उसके ज्ञान जन्य संस्कार अध्यास के लिए अपेक्षित हाता है, संस्कार के विना ज्ञान मात्र अध्यास का हेतु नहीं होता है, क्योंकि अध्यास से अव्यवहित पूर्वकाल में सर्वत्र ज्ञान वर्तमान नहीं रहता है। और हेतु के अव्यवहित पूर्वकाल में रहने ही पर उससे कार्य की सिद्धि होती है, अतः सजातीय वस्तु के ज्ञान जन्य संस्कार अध्यास का हेतु होता है, और ज्ञान संस्कार का हेतु होता है। क्योंकि ज्ञान की सूक्ष्मावस्था को संस्कार कहते हैं। इस संस्कार का बंध के अध्यास में भी संभव है। क्योंकि अहंकारादि अनात्म वस्तु और उनमें सत्यता का ज्ञान बन्ध कहा जाता है। सो उत्पत्ति और नाश वाला है,

यद्यपि अहंकार को साक्षी भास्य कहा गया है, और साक्षी स्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति वा नाश नहीं होता है। तथापि साक्षी भी अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा अहंकार को प्रकाशता है, और उस वृत्ति के उत्पत्ति नाश होते हैं। अतः अहंकार के ज्ञान के उत्पत्ति नाश कहे जाते हैं। और वहाँ उत्तर उत्तर अहंकारादि और उनके ज्ञान की उत्पत्ति पूर्व२ के मिथ्या अहंकारादि के ज्ञान जन्यसंसकाराद्दि से होती है, क्योंकि प्रवाह रूप से संसार अनादि है, अतः उत्तर२ कार्यों के प्रति पूर्व२ बीज तुल्य संस्कार कारण होते हैं। ( ब्रह्म१ ईश्वर२ जीव३ अविद्या=माया४ अविद्या=माया का चेतन के साथ सम्बन्ध४ और इन पांचो का भेद ६) ये छः वस्तु स्वरूप से अनादि हैं और सत्ता अंश में सब ब्रह्म स्वरूप हैं, अतः सत्य भेद नहीं है, किन्तु व्यावहारिक भेद है। और इन छः से भिन्न सब प्रपञ्च प्रवाह रूप से अनादि है, स्वरूप से नहीं। अतः सजातीय पूर्व ज्ञान जन्य संस्कार से अध्यास की सिद्धि होती है॥

और पट[१] में जैसे तुरी तन्तु और बेम तीनों की हेतुता देखी जाती है, तैसे प्रमाता प्रमाण प्रमेय के तीनों दोषों की हेतुता=कारणता अध्यास में नहीं देखी जाती है। किन्तु एक दो दोष से भी अध्यास होता है। अतः प्रमाता गत अविवेक=अज्ञान दोष से आत्मा में द्विजातित्व का अध्यास होता है, नेत्र रूप प्रमाणगतपित्त दोष से संख पीत भासता है। रसना रूप प्रमाणगत दोष से सिता=मिस्री कटु भासती है। प्रमेयगतसादृश्य दोष से सीपी में विरक्त पुरुष भी प्रेम=लोभादि प्रमाता दोष के बिना भी रूपे को देखता है, अध्यास से उसे

१ वृत्ति प्रभाकर में यहाँ के लेख को प्रौढिवादमूलक कहा गया है। क्योंकि दोष की हेतुता को यहाँ खण्डन किया गया है। परन्तु कवित्त के इस व्याख्यान से प्रौढिवाद की आवश्यकता नहीं रह जाती है॥

रूपा भासता है। और जिन पुरुषों में प्रमाण प्रमातागत पित्तादि कोई अच्छेम=दोष नहीं है, वे लाग भो प्रमेय गत दूरता दोष मात्र से आकाश को नील रूप वाला, तथा कटाह=कराह तुल्य और तम्बू तुल्य देखते हैं, जैसे कि महान् सूर्य चन्द्रादि को दूरता दोषमात्र से परम अल्प परिमाण वाला देखते हैं। इसी प्रकार सर्व दोष के नहीं रहते भी प्रमाता के अविवेक=अज्ञान रूप दोष से द्विजातित्व के समान बन्ध का अध्यास होता है ॥१॥

शंका होती है कि उक्त रीति से आत्मा में बन्ध के अध्यास के हेतु दोष का सम्भव होते भी सामान्य विशेष भाव से रहित स्वयं प्रकाश आत्मा में सूर्य में अन्धकार के असम्भव के समान अज्ञान के असम्भव से, तथा सामान्य रूप से ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान के अभाव से बन्ध के अध्यास का असम्भव ही है, इत्यादि, तो उत्तर है कि—

**चित सामान्य प्रकाश ते, नहीं नशै अज्ञान।**
**लहै प्रकाश सुषुप्ति में, चेतन ते अज्ञान ॥१३॥**

यद्यपि आत्मा स्वयं प्रकाश है, तथापि उसको अज्ञान से विरोध नहीं है, अतः सामान्य चेतन स्वरूप प्रकाश से अज्ञान नष्ट नहीं होता है, जैसे कि काष्ठादि गत सामान्य तेज से अन्धकार नष्ट नहीं होता है। चेतनात्मा अज्ञान का विरोधी नहीं है, इसीकारण से सुषुप्ति में चेतन से ही अज्ञान प्रकाश को लाभ करता है। अर्थात् साक्षी रूप चेतन से ही वहाँ अज्ञान सिद्ध होता है, अतः सामान्य चेतन अज्ञान का साधक है, बाधक नहीं है। भाव है कि सुषुप्ति से जागने पर मनुष्य कहता है कि मैं सुख से सोया और कुछ भी इतने समय नहीं जान सका, तहाँ इस कथन का हेतु वर्तमान ज्ञान प्रत्यक्ष तो होता नहीं हैं, क्योंकि इस ज्ञान का विषय सुख और अज्ञान जाग्रत काल में वर्तमान नहीं रहता है, और वर्तमान विषय का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः यह जाग्रत

कालिक ज्ञान स्मृत्ति रूप होता है । और अज्ञात वस्तु की स्मृति होती नहीं है । अतः सुषुप्ति में ज्ञान सिद्ध होता है, और वह ज्ञान अन्तःकरण वा इन्द्रिय जन्य नहीं होने से लीनान्तः करणस्थ आत्म स्वरूप ही ज्ञान सिद्ध होता है, सो यदि अज्ञान का विरोधी हो तो सुषुप्ति में उससे अज्ञान का प्रकाश नहीं होना चाहिए, और होता है, अतः स्वयं प्रकाश आत्मा अज्ञान का विरोधी नहीं है, और इसी से सामान्य=विभु चेतन को अज्ञान का अविरोधी कहा जाता है । और तत्तद् वृत्तियों में अभि-व्यक्त, वृत्ति द्वारा विशेष रूपता को प्राप्त चेतन तत्तद् अज्ञान का विरोधी होता है । ब्रह्माकार वृत्ति में व्यक्त चेतन ब्रह्म विषयक अज्ञान का विरोधी होता है, अर्थात् व्यक्त चैतन्य=आभास सहित वृत्ति अज्ञानों के विरोधिनी होती हैं । अतः वृत्ति रहित अज्ञान काल में चेतन में अहंकारादि का अध्यास होता है । और यद्यपि वस्तुतः आत्मा सामान्य विशेष भाव से रहित है, तथापि बुद्धि वृत्ति से आत्मा में सामान्यविशेष भाव कल्पित होता है, जो सतरूपता सब को प्रतीत होती है कि आत्मा है, मैं हूं, सो सत्ता स्वरूप सामान्य कहा जाता है, और जो आनन्द अखण्डादि स्वरूप ज्ञानी को समाधि आदि काल में प्रतीत होता है, सो आत्मा का विशेष स्वरूप कहा जाता है । अज्ञान काल में भी आत्मा आनन्दादि स्वरूप रहता है, परन्तु उसकी प्रतीत नहीं होती है, इससे असत् तुल्य रहता है । और न्यूनाधिक काल में प्रतीति से ही सामान्य विशेष कहा जाता हैं क्योंकि उस आनन्द स्वरूप के अनुभव से आत्म विषयक दुःखमय बन्ध के अध्यास की निवृत्ति हो जाती है, और नित्य मुक्त आनन्दादि स्वरूपता के अज्ञान काल में ही अध्यास होता है । और ज्ञान से ही अध्यास रूप बन्ध की निवृत्ति होने के कारण ग्रन्थ के प्रयोजन का सम्भव है । और यह अर्थ ( तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इत्यादि श्रुति आदि से सिद्ध होता है । अतः नित्यादि कर्मों से मुक्ति का कथन=एकभविकवादादि सर्वथा अयुक्त है ।

और दूसरी बात है कि वर्णाश्रमादि के अभिमान पूर्वक किये गये अविद्यामय[1] कर्मों से अविद्यामय बन्ध की निवृत्ति नहीं हो सकती है, क्यों कि कर्म और बन्ध का विरोध नहीं है, अतः नित्यादि कर्मों से स्वर्गादि की प्राप्ति रूप फल होता है, कर्मों के स्वर्गादि फल नहीं मानने पर उनके बोधक वेदशास्त्र अप्रमाण होगें, और नित्यादि के अकरण=अनाचरण जन्य पाप की निवृत्ति करके नित्यादि सार्थक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि नित्यादि के नहीं करना रूप अभाव से भावरूप[2] पाप की उत्पत्ति नहीं हो सकती है अभाव से भाव की अनुत्पत्ति को द्वितीय अध्याय गीता में भगवान ने भी कहा है। अतः उस पाप का निवारण करके सफल नहीं हो सकने से स्वर्गादि फल को नहीं मानने पर नित्यादि कर्म व्यर्थ ही सिद्ध होगें। इस लिए उनके स्वर्गादि[3] फल मन्तव्य हैं और फलेच्छा के अभाव मात्र से, उनके फलों का अभाव नहीं हो सकता है क्योंकि कर्मरूप बीज से वासना और अदृष्ट धर्माधर्म रूप दो अंकुर उत्पन्न होते हैं। शुभ कर्म से शुभवासना और धर्मरूप अंकुर होते हैं। अशुभ कर्म से अशुभ वासना और अधर्म रूप अंकुर होते हैं। शुभ वासना से आगे शुभ कर्म में प्रवृत्ति होती है, और धर्म से सुख का भोग होता है। इसी प्रकार अशुभ वासना से अशुभ कर्म में प्रवृत्ति होती है और अधर्म से दुख का भोग होता है। तहाँ शास्त्र में वर्णित सत्संगादि रूप पुरुषार्स से अशुभ वासता की निबृत्ति से

---

१ अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत् ॥ आत्मबोध ॥ कर्मणा कर्मनिर्हारो न कदाचन जायते ॥ इत्यन्यत्र ॥

२ इस अर्थ को भाष्य कारने प्रतिपादन किया है ॥

३ नाभुक्तं क्षीयते कर्म, अज्ञकाकर्म भोग बिनानष्ट नहीं होता है ॥

आगे अशुभ कर्म में प्रवृत्ति का अभाव पुरुषार्थ का फल होता हैं। और शास्त्र में निषिद्ध कुसंग अभक्ष्य भक्षणादि से शुभ वासना का नाश होता है। परन्तु कर्म जन्य भोग के हेतु अदृष्ट=धर्माधर्म का फल भोगे बिना नाश नहीं होता है। यह शास्त्र का सिद्धान्त है। अविद्यामय कर्मादि का विद्या से तो भोगे विना भी नाश होता है, परन्तु अज्ञानी के कर्मों को भोगे विना नाश नही हो सकता है क्योंकि सत्यसंकल्प वाले ईश्वर से अज्ञ के भोगों के लिए कर्मादि सहित सृष्टि होती है। यदि फलेच्छा के अभाव मात्र से काम्यकर्म फल का भोग नहीं हो तो अशुभ कर्म का फल दुःख किसी को नहीं होना चाहिए। अतः कर्मफल तो दुख अवश्य होता हैं। परन्तु कर्मं फलेच्छा रहित शुभ कर्म का फल अन्तः करण की शुद्धि होती हैं, फलेच्छा सहित कर्म का फल भोग मात्र होता है और फलेच्छा रहित कर्म से अन्तः करण की शुद्धि होने पर श्रवणादि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होने पर प्रारब्ध कर्म से अतिरिक्त सब कर्मफल भोग के अभाव से ज्ञानी मुक्त हो जाता है। परन्तु अन्तः करण की शुद्धि होने पर भी श्रवणादि के अभाव से वा अन्य किसी प्रतिबन्धक से जिसको ज्ञान नहीं होता है, उस को इच्छा रहित भी अभुक्त कर्म फलों को भोगना ही होता हैं, अतः ज्ञान के बिना कर्मफल भोग का अभाव नहीं होता है अनन्त अशुभ कर्मों का ज्ञान के बिना प्रायश्चित से वा अन्य साधन से साक्षात् नाश नहीं हो सकता है, किन्तु ईश्वर नाम भजनादि साधारण प्रायश्चित ज्ञान के साधन होते हैं, अतः ज्ञान द्वारा सब पापों के नासक हो सकते हैं। और सम्पूर्ण कर्म से एक शरीर तो किसी प्रकार हो ही नहीं सकता है, क्योंकि संचित अनेक प्रकार के विरुद्ध फल जनक कर्मो से एक शरीर में भोग नहीं हो सकता है, और सिद्ध ऐश्वर्य युक्त योगी के बिना अन्य कोई एक काल में अनेक शरीरों द्वारा भी सब कर्मों को नहीं भोग सकता है। और सिद्ध योगी में भी अन्य सब सामर्थ्य होते

भी ज्ञान के बिना योग से भी मुक्ति नहीं होती है। यह औपनिषद सिद्धान्त है। अतः ज्ञान द्वारा बन्ध की निवृत्ति ज्ञान ग्रन्थ का प्रयोजन सिद्ध होता है। और उक्त रीति से अधिकारी, विषय और प्रयोजन के सम्भव से उक्त सम्बन्धों का भी सम्भव है, अतः ज्ञान ग्रन्थ का आरम्भ उचित है ॥ १३॥

दादू दीनदयाल जू, सत सुख परम प्रकाश।
जामें मति की गति नहीं, सोई निश्चलदास ॥१४॥
इतिविचारसागरे, अनुबन्ध विशेष निरूपणं।
नाम द्वितीयस्तरङ्गः समाप्तः ॥ २ ॥

**टिप्पणी**—दीन दयालु परम गुरु श्री दादू जी महाराज सत्य=अज अविनाशी स्वरूप और परम=स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञ ब्रह्म स्वरूप ही होता है, इस प्रकार श्रुति कहती है, और स्वयं प्रकाश होने से जिसमें मति की गति नहीं होती है, जो बुद्धि से प्रकासित नहीं होता है, और यतः शिष्य गुरु रूपता को प्राप्त होता है, अतः निश्चल दास शिष्य उस गुरु रूपता को प्राप्त होकर तत्स्वरूप ही है ॥१४॥

करि विचारणा ज्ञान लहि, बुद्धिमान सतशिष्य।
पावै निज गुरु रूपता, जन्म न लहै भविष्य ॥१॥

ॐ शम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥२॥

ॐ

# श्री विचार सागर। तृतीय तरङ्ग ॥

॥ दोहा ॥

पेखि चार अनुबन्ध युत, पढै सुनै यह ग्रन्थ।
ज्ञान सहित गुरु से जु नर, लहै मोक्ष को पन्थ ॥१॥

चार अनुबन्ध सहित इस ग्रन्थ को देख = जानकर जो मनुष्य इस ग्रन्थ का ज्ञान सहित गुरु से पढ़ेगा, अथवा एकाग्र चित से सुनेगा, सो मोक्ष के पन्थ = मार्ग ज्ञान को प्राप्त करेगा ॥ १ ॥

अनायास मति भूमि में, ज्ञान चिमन आबाद।
है इहि कारण कहत हूँ, गुरु शिष्य सम्बाद ॥ २ ॥

बुद्धि रूप भूमि में अनायास = सुख से ज्ञान रूप चिमन = बाग की आबादी = सिद्धि हो, इस लिए गुरु शिष्य के सम्बाद द्वारा ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है, क्योंकि गुरु-शिष्य के सम्बाद द्वारा श्रोता को सुख से अर्थ का बोध होता है ॥ २ ॥

श्री गुरु लक्षण ॥ चौपाई ॥

वेद अर्थ को भले पिछानै। आतम ब्रह्म रूप इक जानै ॥
भेद पक्ष की बुद्धि नशावै। अद्वय अमल ब्रह्म दरशावै ॥१॥
भव मिथ्या मृग तृषा समाना। अनुलव[1] इमभाषत नहीं आना ॥
सो गुरु दे अद्भुत उपदेशा।
छेदक सिखा न लुञ्चित केशा ॥ २ ॥

---

१ लवं लवं प्रति = अनुलवं = प्रतिक्षणमित्यर्थः।

वेद के अर्थ को जो भली रीति से पिछानता = जानता हो, अर्थात् वेद का अध्ययन किया हो, और जीव ब्रह्म की एकता को निश्चय पूर्वक जानता हो, अर्थात् जो अधीत वेद होता हुआ, सर्वात्म ब्रह्म में निष्ठा वाला ज्ञानी हो। सो आत्म ज्ञान का आचार्य = गुरु होता है। वह शिष्य की शंकाओं का निवारण पूर्वक उपदेश में समर्थ होता है। और शिष्य की बुद्धि में भासने वाले जीव ईश का भेद १ जीवों का परस्पर भेद २ जीव जड़ का भेद ३ ईस जड़ का भेद ४ जड़ों का परस्पर भेद ५ इन पाँच भेद ज्ञानों को जो युक्ति से नष्ट करे, इनमें मिथ्यात्व औपाधिकत्व दरशावै। और भेदों के खण्डन पूर्वक अद्वैत अमल = अविद्यादि क्लेश रहित ब्रह्म को जो दर्शावै = आत्मस्वरूप से साक्षात्करावै। और भव = संसार को अनुलव = सदा मृगतृष्णा के समान कहे, मिथ्या रूप से उपदेश करे, अन्य = संसार के सत्यता आदि का कथन नहीं करे, सोई गुरु अद्भुत उपदेश देता है। और केवल आप मुण्डन कराके शिष्य की शिखा का छेदन मात्र वा केश का लुञ्चनादि करने वाला गुरु अद्भुत उपदेश नहीं देता है॥ २॥

"भेद बुद्धि भय मूल अरु, राग द्वेष की खानि।
ताते भेद भगाय के, ब्रह्म लखावत ज्ञानि" ॥ १ ॥
करत मोक्ष भव ग्राह ते, दे असि निज उपदेश।
सो देशिक बुध जन कहत, नहिं कृत गैरिक वेष ॥ ३ ॥

अपने उपदेश रूप असि = तरवार को देकर, उसके द्वारा जन्मादि भेदबुद्धि रूप संसार से जो शिष्य के मोक्ष को सिद्ध करते हैं, सो देशिक = गुरु हैं। इस प्रकार बुध जन = पण्डित लोग कहते हैं। केवल गेरु से रंगे वस्त्रादि के वेष मात्र करने वाले गुरु नहीं कहे जाते हैं॥ ३॥

## शिष्य लक्षण ।। दोहा ।।

**दैशिक के लच्छन कहे, श्रुति मुनि बच अनुसार ।**
**सो लच्छन है शिष्य के, ह्वै जिनते अधिकार ।। ४ ।।**

श्रुतिमुनि के वचन रूप शास्त्र के अनुसार दैशिक = गुरु के लक्षण कहे गये । और जिन साधनों से ग्रन्थ में अधिकार हो, सो साधन शिष्य का लक्षण है, अर्थात् जो अधिकारी के लक्षण कहे गए हैं । सोई शिष्य के लक्षण हैं ।। ४ ।।

### ।। गुरु भक्ति फल वर्णन ।।

**ईश्वर ते गुरु में अधिक, धारै भक्ति सुजान ।**
**बिनु गुरु भक्ति प्रवीन हू, लहै न आतम ज्ञान ।।४।।**

सुजान = विवेकी शिष्य ईश्वर से गुरु में अधिक भक्ति धारै = करै । क्योंकि शास्त्रों में प्रवीण मनुष्य भी गुरु भक्ति के बिना आत्म ज्ञान को नहीं पाता है ।। ५ ।।

इस उक्त अर्थ को ही दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादन करते हैं कि—

**वेद उदधि बिनु गुरु लखै, लागै लौन समान ।**
**बादर गुरु मुख द्वार ह्वै, अमृत से अधिकान ।।६।।**

वेद रूप उदधि = समुद्र को ज्ञानी गुरु के बिना पढ़ने पर लवण के समान लगता = प्रतीत होता है । अर्थात् जैसे क्षार समुद्र के जल पीने पर क्षार प्रतीत होता है । और उससे क्लेश होता है । तैसे ही ज्ञानी गुरु के बिना वेद को पढ़ने विचारने से वेद भी भेदादि क्षारता युक्त प्रतीत होता है, जिससे राग द्वेषादि क्षार रूप और जन्म मरणादि रूप क्लेशों को जीव प्राप्त करता है । और भेद खेदादि को निवारण करने वाले बादर = मेघ तुल्य गुरु मुख द्वारा पढ़ने पर वही

वेद अमृत से भी अधिक आनन्द जीवन्मुक्ति का हेतु होता है। अतः अद्वैतात्मोपदेशक ही सद्गुरु मोक्ष प्रद होते हैं, उनकी भक्ति कल्याण कारक होती है, अन्य की भक्ति ऐसी नहीं होती है ।।६।।

आत्म ज्ञान रहित भेद बुद्धि युक्त भी प्रवीण पुरुष वेद को पढ़ और पढ़ा सकते हैं, परन्तु उनके द्वारा वेद को पढ़ने से जीवन्मुक्ति का आनंद नहीं मिल सकता, वे लोग स्वयं मरने पर मुक्ति मानते हैं, अतः आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त गुरु से वेदादि ज्ञान ग्रन्थ पढ़ना चाहिए, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

**दृति पुट घट सम अज्ञ जन; मेघ समान सुजान।**
**पढै वेद इहि हेतु ते, ज्ञानी पै तजि आन ॥ ७ ॥**

अज्ञ=अज्ञानी जन दृतिपुट=मसकादि चर्म पात्र और घटादि के समान होते हैं, और ब्रह्मात्म ज्ञानी रूप सुजान मेघ के समान होते हैं, इस कारण से भेदादि में आसक्त राग द्वेषादि युक्त आन=अज्ञ को त्याग कर ज्ञानी जीवन्मुक्त की शरण में प्राप्त होकर मुमुक्षु उनसे ही वेदादि ज्ञान ग्रन्थ को पढ़े। क्योंकि जैसे चर्मपात्रादि द्वारा प्राप्त समुद्र का जल विलक्षण स्वाद का हेतु नहीं होता है, और मेघ द्वारा विलक्षण स्वादादि का हेतु होता है। तैसे अज्ञ द्वारा पढ़ा गया वेद विलक्षण आनन्द का हेतु नहीं होता है, और विज्ञ द्वारा पठा गया विलक्षण आनन्द का हेतु होता है ।।७।।

पूर्व, दोहे में वेद शब्द ज्ञानमय ग्रन्थ मात्र का का बोधक है, इत्यदि आशय से कहते हैं कि—

**ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित, ताकी वांनी वेद।**
**भाषा अथवा संस्कृत, करत भेद भ्रम छेद ।।८।।**

ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म स्वरूप अहि=होता है। यह बात श्रुति में प्रसिद्ध है। अतः उस ज्ञानी की वानी वेदरूप होती है। सो ज्ञान ग्रन्थ रूप वाणी भाषा रूप हो, अथवा संस्कृतरूप हो, सर्वथा भेद विषयक-भ्रम=सत्यतादि बुद्धि का छेद=नाश करती है। इसीलिए सर्वज्ञ ऋषिमुनियों ने इतिहास पुराणादि में ज्ञानमय प्रकरणों की रचना की है, तथा सन्तों ने ज्ञानमय उपदेशों की रचना भाषा में की है, इसी प्रकार विचार सागर की रचना को सफल समझना चाहिये। भाव है कि आयुर्वेद में वर्णित रोग, निदान, और औषधियों का किसी भाषा द्वारा ज्ञान होने पर संयमयुक्त औषधियों के सेवन से जैसे रोग की निवृत्ति होती है, तैसे किसी भी भाषा द्वारा ब्रह्माऽऽत्मा के अनुभव पूर्वक ब्रह्मनिष्ठ=ब्रह्मात्मविषयक संशय भ्रम रहित होने से संसार रोग रहित हुवा जाता है ॥८॥

वैदिक यज्ञादि में अपभ्रंस शब्दों के उच्चारण से हानि होती है, अन्यत्र नहीं। अतः अपभ्रंस देशभाषा आदि रूप ज्ञानमय वचनों द्वारा सत्यात्मादि के उपदेशक गुरु उपास्य सेव्य हैं, इत्यादि आशय से कहा गया है कि—

वानी जाकी वेद सम, कीजै ताकी सेव।
ह्वै प्रसन्न जब सेवते, तब जाने निज भेव ॥९॥

जिस ज्ञानी की वाणी वेद तुल्य है, उस ज्ञानी गुरु की सेवा जिज्ञासु अवश्य करे। क्योंकि जब गुरु सेवा से प्रसन्न होते हैं, तब जिज्ञासु निज भेव=अपने शुद्ध सत्य स्वरूप को जानता है॥ भाव है कि ईश्वर की सेवा=भक्ति से भी गुरु आचार्य की भक्ति अधिक फल प्रद और सुगम है, क्योंकि ईश्वर की भक्ति धर्म द्वारा अदृष्ट फल चित्तशुद्धि का हेतु होती है। और गुरु भक्ति धर्मद्वारा अदृष्ट फल चित्त शुद्धि का हेतु होती हुई भी अदृष्ट की अपेक्षा बिना प्रत्यक्ष

उपदेश रूप फल का हेतु भी होती है, और प्रत्यक्ष गुरु की सेवा में शास्त्रादि द्वारा गुरु अन्वेषणादि कठिनाई भी नहीं होती है। अतः ईश्वर सेवा से भी गुरु सेवा अधिक है। इसलिये जिज्ञासु अवश्य ज्ञानी गुरु की सेवा करें ॥९॥

## गुरु सेवा प्रकार वर्णन ॥ सोरठा ॥१॥

**ह्वै जब ही गुरु संग, करै दण्ड जिमि दण्डवत।**
**धारै उत्तम अंग, पावन पाद सरोज रज ॥१॥**

जब गुरु के साथ में, स्वयं प्राप्त हो, या जब गुरु की प्राप्ति हो, तो दण्ड के समान भूमि में पड़ कर, दो पाद, दो जानु, दो हाथ, हृदय और शिर, इन आठो अङ्गों द्वारा दण्डवत=प्रणाम करे। और अपने उत्तम अंग=शिर पर, गुरु के पावन=पवित्र पाद=पदरूप सरोज=कमल के रज को धारण करे ॥१॥

## चौपाई ॥३॥

**गुरु समीप पुनि करिये बासा। जो अति उत्कट ह्वै जिज्ञासा॥**
**तन मन धन वच अर्पी देवै। जो चाहै हिय बन्धन छेवै ॥३॥**

## ॥ तन मन अर्पण प्रकार ॥

**तन करि बहु सेवा विस्तारै। आज्ञा गुरु की कबहुँ न टारै॥**
**मन में प्रेम रामसम राखै। ह्वै प्रसन्न गुरु इमि अभिलाखै ॥४॥**
**दोषदृष्टि स्वप्ने नहिं आनै। हरि हर ब्रह्म गंग रवि जानै॥**
**गुरु मूरति को हिय में ध्याना। धारै जो चाहै कल्याना ॥५॥**

उत्कट=तीव्र ज्ञानेच्छा होने पर गुरु के समीप में वास करे। और ममता अभिमानादि रूप हृदय के बन्धनों को नष्ट करना चाहे तो गुरु के प्रति तनु आदि का अर्पण कर दे ॥३॥ तनु से बहुत विस्तार

पूर्वक सेवा करे, और गुरु की आज्ञा को कभी नहीं टारे। यह तन का अर्पण है ॥ और ( यथा देवे तथा गुरौ ) इस श्रुति के अनुसार अपने मनमें गुरु विषयक प्रेम=भक्ति राम=ईश्वर के तुल्य रखे, ईश्वर और गुरु की तुल्य भक्ति करे ईश्वर स्वरूप गुरु को समझे। गुरु की प्रसन्नता की उत्कट इच्छा रखे ॥४॥ और स्वप्न में भी गुरु में दोष दृष्टि नहीं लावै, किन्तु हरि के समान दयालु रक्षक, हर के समान दोष नाशक, ब्रह्मा के समान पूज्य पितामह, गंगा के समान शान्त पावन, सूर्य के समान प्रकाशक और असंग समझे। और असंग परम पवित्र समझ कर गुरु मूर्ति का हृदय में ध्यान धरे, यदि सर्वथा अपना कल्याण चाहता हो, यही मनका अर्पण है ॥५॥

॥ धन अर्पण प्रकार ॥

पत्नी पुत्र भूमि पशु दासी। दास द्रव्य गृह व्रीहि विनाशी ॥
धन पद इन सबहिन को भाखै। ह्वै गुरु शरण दूर तिहि नाखै ॥६॥

सोरठा ॥ २ ॥

धन अर्पण को भेव, एक कह्यो सुन दूसरो।
ह्वै गृहस्थ गुरुदेव, याज्ञ वल्क्य सम देइ तिहि ॥ २ ॥

पत्नी आदि व्रीही=धान्य पर्यन्त इन सब विनश्वर पदार्थों को धन पद से कहा जाता है। उन सबको दूर में नाख=त्याग कर त्यागी गुरु की शरण में प्राप्त हो, यह धन अर्पण कहा जाता है। क्योंकि त्यागी गुरु तो धन लेता नहीं है फिर उस गुरु की प्राप्ति के लिए जो धन का त्याग किया जाता है। सो गुरु के प्रति अर्पण ही कहा जाता है ॥ ६ ॥ और याज्ञवल्क्यादि केसमान गृहस्थ गुरुदेव हों, उनके प्रति अपने खास धनों का अर्पण=दान जिज्ञासु विरक्त शिष्य कर देवे, क्योंकि श्रुति आदि में ज्ञानी गुरु गृहस्थ रूप में वर्णित हैं। अतः यह दूसरा धन अर्पण का प्रकार है ॥ २ ॥

॥ वाणी अर्पण विषयक छन्द ॥

**भाखत गुन गन, गुरु के बानी शुद्ध।**
**दोष न कबहूँ, अर्पण करि इमि बुद्ध॥ १॥**

गुरु के गुण समूह को शुद्ध बानी से कथन करता है, और इस प्रकार वाणी का अर्पण करके बुद्ध=विवेकी विद्वान् कभीं गुरु के दोष का कथन नहीं करता है ॥ १ ॥

सोरठा ॥ ३ ॥

**जो चाहै कल्यान, तन मन धन वच अर्पि इमि।**
**बसै बहुत गुरु स्थान; भिक्षा ते जीवन करै॥ ३॥**

जो विरक्त शिष्य अपना कल्याण चाहे, सो उक्त रीति से तन आदि का अर्पण करके बहुत दिनों तक गुरु के स्थान में निवास करे, और भिक्षा वृत्ति से जीवन करे ॥ ३ ॥

चौपाई।

**सो भिक्षा धरि दैशिक आगे। निज भोजन को नहिं पुनि मागै॥**
**जो गुरु देइ तो जाठर डारै। नहिं दूजे दिन वृत्ति सँभारै॥ ७॥**

जो भिक्षा का अन्न शिष्य लावे, सो आप ही भोजन नहीं कर लेवे। किन्तु उस अन्न को दैशिक=गुरु के आगे धरे। और अपने भोजन के लिए गुरु से माँगे नहीं, और एक दिन में दूसरी बार ग्राम में भिक्षा माँगे भी नहीं, किन्तु जो गुरु दें तो जाठर में डारे=भोजन करे। और शिष्य की परीक्षा के लिए यदि एक दिन भिक्षा में से भोजन के लिए गुरु नहीं भी दें, तो दूसरे दिन भी भिक्षा वृत्ति को संभारै==करै ॥ ७ ॥

॥ दोहा ॥

**पुनि गुरु के आगे धरै, भिक्षा शिष्य सुजान।**
**निर्वेद न जिय में करै, जो निज चहै कल्यान॥१०॥**

निर्वेद=ग्लानि=गुरु में दोष दर्शन नहीं करे ॥ इत्यादि ॥ १० ॥

चौपाई ॥

**इमि व्यवहृत अवसर जब पेखै । मुख प्रसन्न गुरु सन्मुख लेखै ॥**
**विनती करै दोउ कर जोरी । गुरु आज्ञा से प्रश्न बहोरी ॥ ८ ॥**

इस प्रकार व्यवहृत=व्यवहार करते, जब गुरु के अवसर अवकाश को देखे, और प्रसन्न मुख युक्त गुरु को जब अपने सन्मुख देखे । तब दोनों हाथ जोड़ कर गुरु की विनती=स्तुति करे, और कहे कि हे भगवन् मैं पूछना चाहता हूँ । तो गुरु की आज्ञा पा कर प्रश्न करै ॥

यदि जन्मान्तर के उत्तम कर्म से शुद्धान्तःकरणादि वाले शिष्य के प्रति स्वभाव से ही प्रसन्न गुरु, तनु आदि के अर्पणादि रूप सेवा के विना ही उपदेश देते हैं, तो उस अधिकारी का भी अवश्य कल्याण होता है । क्योंकि गुरु की प्रसन्नता और अन्तःकरण की शुद्धि ये दो फल गुरु सेवा के होते हैं । सो दोनों फल उस शिष्य को जन्मान्तर के कर्म से ही सिद्ध रहता है ॥ ८ ॥

दोहा

**तन मन धन वानी अरपि, जिहि सेवत चित लाय ।**
**सकल रूप सो आप हैं, दादू सदा सहाय ॥ ११ ॥**
**इति श्री विचार सागरे गुरु शिष्य लक्षण गुरु भक्ति फल प्रकार निरूपणं नाम तृतीयस्तरङ्गः ॥३॥**

**टिप्पण**—विवेकादियुक्त जिज्ञासु शिष्य ज्ञान की प्राप्ति के लिये, तन मन और धन के अर्पण पूर्वक जिस ज्ञानी गुरु का सेवन चित्त=मन लगा कर करता है । सो सकल गुरु स्वरूप दादू गुरु आप हैं, और सदा सहाय=उपकारक हैं ॥ अर्थात् परगुरु मूलक अन्य गुरु में गुरुत्व होता है, और गुरु परम दयालु होते हैं ॥११॥

सद्गुरु देवक देव पर, राम अखण्ड अपार।
इन के परपद परसते, नर पावत भव पार ॥१॥

पढ़ै लिखै बहु ग्रन्थहू, किहि भाषा के माहि।
गुरु बिनु लखै न तत्त्व शुभ, वेद वचन यों आहि ॥२॥

सदाचार्यवान हि लखै, परम तत्त्व का मर्म।
तब सब कर्म नशावई, ताहि न बाँधै कर्म ॥३॥

जीवन्मुक्त विमुक्त सो होवत या तन पाय।
नहिं तो महा विनाश को, पावत ज्ञान गमाय ॥४॥

ज्ञानी गुरु सर्वज्ञ निज, निकट लखावहि देव।
विकट पन्थ से पार करि, करहिं भेद भ्रम छेव ॥५॥

सेवनीय सो ध्येय गुरु, ज्ञेयहुं परमानन्द।
करि सुभक्ति लहि ज्ञान निज, काटिय भव का फन्द ॥६॥

माता पिता सुहृद सखा, आदि सेव्य बहु होहिं।
माननीय नितपूज्यवर, देव दयालु अद्रोही ॥७॥

यद्यपि तदपि दयालु गुरु, ज्ञानि सेवि जिज्ञासु।
जन मुमुक्षु भव बन्ध से, मुक्त होत अति आसु ॥८॥

कर्म भक्ति दानादि करि, शोधित तन मन जोय।
तिहि विवेक आदिक सहित, मोक्षेच्छा अतिहोय ।९॥

ताहि शुभेच्छा कहत हैं, जाते होत विचार।
गुरु सेवा सुविचार से, मन तनु होत अपार ॥११॥

निरभिमानि गुरु भक्ति से, पावत निर्मल बोध।
गुरु आज्ञासे प्रश्न करि, लहत अगम का सोध ॥१२॥

ॐ शम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥३॥

ॐ

# ॥ श्री विचार सागर चतुर्थ तरङ्ग ॥

॥ दोहा ॥

"बन्दौं सद्गुरु के चरण, हरण सकल भव खेद ।
जिहि सुमिरत नरपावई, परम बोध निर्वेद" ॥१॥

( कथा रम्भ )

गुरु शिष के सम्बाद के, कहुं अब गाथ नवीन ।
पेखि जाहि जिज्ञासु जन, होत विचार प्रवीन ॥१॥

शुभ संतति राजा और उसके तत्त्वदृष्टि, अदृष्टि और तर्कदृष्टि नामक तीन पुत्रों की गाथा=कथा नवीन है ॥१॥

तीन सहोदर बाल शुभ, चक्रवर्ति सन्तान ।
शुभ सन्तति पितु तिहि नमै, स्वर्ग पताल जहान॥२॥

चक्रवर्ती=सार्वभौम राजा, जहान=मनुष्यलोक ॥२॥

तत्त्व दृष्टि इक नाम अहि, दूजो कहत अदृष्ट ।
तर्क दृष्टि पुनि तीसरो, उत्तम मध्य कनिष्ट ॥३॥

अहि=था, अदृष्टि अल्प विवेकी, मध्य=मध्यम कनिष्ट=लघु॥३॥

॥ चौपाई ॥१॥

बालपनो सब खेलत खोयो,
तरुण पाय पुनि मदन बिगोयो ।
धारि नारि गृह मार प्रकाशी,
भोग लहे तिहि सब सुख राशी ॥१॥

राजा ने बालपन के बाद युवा अवस्था को पाकर मदन=काम वश उस अवस्था को नष्ट किया, क्योंकि गृह में नारी का धारण करके मार=काम का ही उसने प्रकाश किया, और सब सुख की राशि भोग का उसने लाभ किया ।।१।।

।। दोहा ।।

स्वर्ग भूमि पताल के, भोगहि सर्व समाज ।
शुभ संतति निज तेज बल, करत राज के काज ।।४।।
लहि अवसर इक तिहि पिता, निज हिय रच्यो विचार ।
सुख स्वरूप अज आतमा, तासो भिन्न असार ।।५।।
इहि कारण तजि राज यह, जानूं आतम रूप ।
स्वर्ग भूमि पाताल के, तिहुँ पुत्रहिं करि भूप ।।६।।

।। चौपाई ।।

अस विचार शुभसंतति कीना ।
मन्त्रि पेखि तिहुं पुत्र प्रवीना ।।
देश इकन्त समीप बुलाये ।
निज विराग के वचन सुनाये ।।२।।
भाख्यो पुनि यह राज सँभारहु ।
इक पताल इक स्वर्ग सिधारहु ।।
अपर बसहु काशी भुवि स्वामी ।
रहत जहाँ शिव अन्तर जामी ।।३।।
जिहि मरतहि सुनि शिव उपदेशा ।
अनयासहि तिहि लोक प्रवेशा ।।
गङ्ग अङ्ग मनु कीर्ति प्रकाशै ।
उत्तर बाहिनी अधिक उजासै ।।४।।

गंगा मानो काशी का अंग है, और उत्तर दिशा को बहती हुई वहाँ अधिक शोभती है ॥४॥

करहु राज इमि भिन्न तिहुँ,
पालहु निज निज देश।
बिनु विभाग भ्रातान को,
भूमि काज ह्वै क्लेश ॥७॥

॥ इदव चन्द ॥१=२॥

राज समाज तजौ सब मैं अब,
जानि हिये दुख ताहि असारा।
और तो लोक दुखी अपने दुख,
मैं भुगत्यो जग क्लेश अपारा॥
जे भगवान प्रधान अनजान,
समान दरिद्रन ते जन सारा।
हेतु विचार हिये जग के भग,
त्यागि लखूं निज रूप सुखारा ॥१॥
वाक्य अनन्त कहे इमि तात,
सुने तिंहु भ्रात सुबुद्धि निधाना।
बैठि इकन्त विचार अपार,
भनै पुनि आपस माहि सुजाना॥
दे दुख मूल समाज हमे यह,
आप भयो चह ब्रह्म समाना।
सो जन नागर बुद्धिक सागर,
आगर दुःख तजै जु जहाना॥२॥

जो लोग धनियों में प्रधान हैं, परन्तु अज्ञानी हैं, सो सब जन दरिद्रों के समान दुःखी हैं, अतः विचार के लिए जगत के भोगादि

रूप भग=ऐश्वर्य को त्याग कर मैं अपने सुख स्वरूप को सुख पूर्वक लखूं=अनुभव करूं ॥ १ ॥ भने=किया । नागर=कुशल, प्रवीण । आगर=आगामी ॥ २ ॥

॥ दोहा ॥

याते तजि दुख मूल यह, राज करौं निज काज ।
करि विचार इमि गेह ते, निकस्या भ्रात समाज ॥८॥

तिहुँ खोजत सद्गुरु चले, धारि मोक्ष हिय काम ।
अर्थ सहित किय तात को, शुभसंतति यह नाम ॥९॥

खोजत खोजत देश बहु, सुरसरि तीर इकंत ।
तरु पल्लव साखा सघन, बन तामें इक सन्त ॥१०॥

बैठ्यो बट विटपहिं तरै, भद्रा मुद्रा धारि ।
जीव ब्रह्म की एकता, उपदेशत गुन टारि ॥११॥

दोष रहित एकाग्र चित, शिष्य संघ परिवार ।
लखि दैशिक उपदेश हिय, चहुधा करत विचार ॥१२॥

मनहु शम्भु कैलास में, उपदेशत सनकादि ।
पेखि ताहि तिहि लहि शरण, करी दंण्डत आदि ॥१३॥

कियो वास षट्मास पुनि, शिष्य रीति अनुसार ।
करी अधिक गुरु सेव तिहुँ, मोक्ष काम हियधार ॥१४॥

ह्वै प्रसन्न श्री गुरु तबै, ते पूछे मृदु बानि ।
किहि कारण तुम तात तिहुँ, बसहु कौन कहँ आनि ॥१५॥

तत्त्वदृष्टि तब लखि हिये, निज अनुजन की सैन ।
कहे उभय कर जोरि निज, अभिप्राय के बैन ॥१६॥

**टिप्पणी**—तरु, शाखा और पत्रों की सघनता युक्त उस बनमें ॥१०॥ दाहिने हाथ के अङ्गुष्ठ और तर्जनी को मिला कर तीन अङ्गुलियों को पृथक् रखने से भद्रामुद्रा=ज्ञानमुद्रा कही जाती है ॥११॥ काम तृष्णा झूठ निन्दा आदि दोष रहित ॥१२॥ मोक्ष काम=मोक्ष की इच्छा ॥१४॥ हे तात किस प्रयोजन के लिए तुम तीनों बसते हो, कौन हो, किस के पुत्र हो ॥१५॥

॥ तत्त्वदृष्टिरुवाच ॥

भो भगवन् हम भ्रात तिंहु, शुभसंतति संतान ।
लख्यो चहैं बहु भेवहिय, दीन नवीन अजान ॥१७॥
जो आज्ञा ह्वै रावरी, तो ह्वै पूछि प्रवीन ।
आप दयानिधि कल्पतरु, हम अति दुखित अधीन ॥१८॥
॥ श्री गुरुरुवाच ॥ सोरठा ॥ ( उत्तमशिष्योपदेशाऽऽरम्भ )
सुनहु शिष्य मम बात, जौ पूछहु तुम सो कहउँ ।
लहो हिए कुशलात्त, सशय कोऊ ना रहे ॥१॥

॥ दोहा ॥

गुरु की लखी दयालुता, शिष्य हिये भौचैन ।
काज सिद्धि निजमानिहिय, भाखे सविनय बैन ॥१९॥

॥ तत्त्वदृष्टिरुवाच ॥ चौपाई ॥

भो भगवन् तुम कृपा निधाना । हौ सर्वज्ञ महेश समाना ॥
हम अजान मति कछू न जानैं । जन्मादिक संसृति भय मानैं ॥५॥
कर्म उपासन कीने भारी । और अधिक जग पाशी डारी ॥
आप उपाय कहो गुरुदेवा । ह्वै जाते भव दुख को छेवा ॥६॥
पुनि चाहत हम परमानन्दा । ताको कहो उपाय सुछन्दा ॥
जब किरपा करि कहिहौ ताता । तब ह्वै है हमरे कुशलाता ॥७॥

हे भगवान् ! आप कृपानिधान, और सदाशिव के समान सर्वज्ञ हो। और हम अज्ञानी हैं, और कुछ भी मति=भावीहित बुद्धि को नहीं जानते हैं। इस कारण से जन्मादि रूप संसार दुःख से भय मानते हैं। आप उस भय की निवृत्ति का उपाय कहो ॥५॥ हमने संसार भय की निवृत्ति के लिए सकाम कर्म और उपासना बहुत किए, परन्तु उनसे और अधिक संसार बढ़ता गया। आप अन्य उपाय कहो कि जिससे संसार दुःख का नाश हो ॥६॥ और हम परमानन्द को चाहते हैं, उसका सुछन्द=स्वतन्त्र उपाय कहें इत्यादि ॥७॥

॥ गुरु का उपदेश ॥ दोहा ॥

**मोक्ष काम गुरु शिष्य लखि, ताको साधन ज्ञान।**
**वेद उक्त भाषण लगे, जीव ब्रह्म भिद भान ॥२०॥**

सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं, उसकी कामना को शिष्य के हृदय में समझकर, उस मोक्ष के साधन रूप वेद में वर्णित ज्ञान को गुरु कहने लगे ॥ यद्यपि ज्ञान का स्वरूप अनेक शास्त्रों में अनेक रूप से वर्णित है, तथापि जीव और ब्रह्म के भिद=भेद का भान=भंग=नाश करने वाले ज्ञान को वेद में मोक्ष का साधन कहा गया है ॥ अतः उसी को गुरु कहते हैं ॥२०॥

**परमानन्द मिलाप तू, जो शिष चहै सुजान।**
**जन्मादिक दुख नाश पुनि, भ्रान्ति जन्य तिहि मान ॥२१॥**
**परमानन्द स्वरूप तू, नहिं तो में दुख लेश।**
**अज अविनाशी ब्रह्म चित्, जिन आनै हिय क्लेश ॥२२॥**

हे शिष्य ! परमानन्द की प्राप्ति की, और जन्मादि संसार दुःख निवृत्ति की जो तुझे इच्छा हुई है, उस इच्छा को भ्रान्ति जन्य

समझो ॥२१॥ क्योंकि तू परमानन्द स्वरूप हो, भ्रान्ति के विना उसकी प्राप्ति की इच्छा हो नहीं सकती है । अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा हो सकती है, अपना स्वरूप नित्य प्राप्त है । उस की प्राप्ति की इच्छा भ्रान्ति के बिना असम्भव है । और जन्मादि संसार दुःख भी यदि तेरे स्वरूप में हो, तो उसकी निवृत्ति की इच्छा हो सके, सो जन्मादि संसार दुःख का लेश भी तेरे स्वरूप में नहीं है । अतः दुःख निवृत्ति की इच्छा भ्रान्ति के बिना नहीं हो सकती है । और जन्म तथा नाश से रहित चेतन जो ब्रह्म, सो तुम हो, अतः अपने हृदय में जन्मादि क्लेश को नहीं मानो, मिथ्या समझो ॥२२॥

॥ प्रश्न ॥ दोहा ॥

**विषय संग क्यों भान ह्वै, जो मैं आनन्द रूप ।**
**अब उत्तर याको कहो, श्रीगुरु मुनिवर भूप ॥२३॥**

हे भगवन् ! यदि मेरा आत्मा आनन्द स्वरूप है, तो विषय के सम्बन्ध से आत्मा में आनन्द का भान=ज्ञान नहीं होना चाहिए । और होता है, अतः आत्मा आनन्द स्वरूप नहीं है, किन्तु विषय के सम्बन्ध से आत्मा में आनन्द होता है ॥२३॥

॥ उत्तर की चौपाई ॥

**आतम विमुख बुद्धि जन जोई ।**
**इच्छा ताहि विषय की होई ॥**
**तासो चञ्चल बुद्धि बखानी ।**
**सुख आभास होय तँह हानी ॥८॥**
**जब अभिलषित पदारथ पावै ।**
**तब मति छनक विछेप नशावै ॥**

तामें ह्वै आनन्द प्रतिबिन्बा।
पुनि छन में बहु चाह[1] बिडम्बा ॥९॥
ताते ह्वै थिरता की हानी।
सो आनन्द प्रतिबिम्ब नशानी॥
विषय संग इमि आनन्द होई।
बिनु सतगुरु यह लखै न कोई ॥१०॥

हे शिष्य! आत्मा से जिनकी बुद्धि विमुख है, उन्हें विषय की इच्छा होती है, अर्थात् भोग साधन धन पुत्रादि की अभिलाषा होती है, उस इच्छा से उनकी बुद्धि चञ्चल रहती है। और चञ्चल बुद्धि में आत्मस्वरूप आनन्द का आभास=प्रतिबिम्ब नहीं होता है ॥८॥

जिस विषय=वस्तु की इच्छा हुई हो, उस विषय के मिलने पर, बुद्धि क्षणमात्र स्थिर होकर अन्तर्मुख होती है, फिर उस अन्तर्मुख वृत्ति वाली बुद्धि में आत्मस्वरूप आनन्द का प्रतिबिम्ब होता है, और उस प्रतिबिम्ब को अनुभव करने पर पुरुष को भ्रम होता है कि, मुझे विषय में आनन्द मिला है। परन्तु विषय में आनन्द हैं नहीं। क्योंकि यदि विषय में आनन्द हो, तो एक विषय से तृप्त पुरुष को जब दूसरे विषय की चाह=इच्छा का विडम्बा=विस्तार हो, तब भी प्रथम विषय से आनन्द होना चाहिए। और किसी प्रिय पुत्रादि के बहुत दिनों पर मिलने पर जो प्रथम आनन्द होता है, सो आनन्द उस प्रिय के साथ रहते सदा होना चाहिए। और होता नहीं है, क्योंकि अन्य वस्तु की इच्छा से फिर बुद्धि के चञ्चल हो जाने से वह आत्मानन्द का प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है, अतः विषय में आनन्द नहीं सिद्ध होता है, और यदि विषय में ही आनन्द हो तो समाधि सुख और सुषुप्ति सुख का भान नहीं होना चाहिए, क्योंकि समाधि और सुषुप्ति

---

१ इच्छा का विस्तार होता है।

में विषय सम्बन्ध के बिना ही सुख का भान होता है, अतः आत्मानन्द ही सर्वत्र भासता है, इसीलिए आत्मानन्द से सर्वत्र आनन्द वेद में कहा गया है ॥ ९-१० ॥

॥ दोहा ॥

विषय संग ते ह्वै प्रगट, आतम आनन्द रूप ।
शिष्य सुनायो तोहि मैं, यह सिद्धान्त अनूप ।।२४।।

॥ सोरठा ॥

सो तूं मोहि अब भाख, जो यामें शंका रही ।
निज मतिमें मति राख, मैं ताको उत्तर कहूँ ।।२।।

॥ तत्त्वदृष्टिरुवाच ॥ चौपाई ॥

भो भगवन तुम दीन दयाला ।
मेट्यो मम संशय तत काला ॥
यामें कछुक रही आशंका ।
सो भाखूं अब ह्वै निर्बङ्का ।।११।।
आतम विमुख बुद्धि अज्ञानी ।
ताकी यह सब रीति बखानी ॥
ज्ञानी जन को कहौ विचारा ।
कोउ न तुम सम और उदारा ।।१२।।

हे भगवन् आपने विषय सम्बन्ध से आत्माऽऽनन्द के भान की जो रीति कही है, सो अज्ञानी जन की रीति कही, है । क्योंकि आत्म विमुख बुद्धि अज्ञानी की रहती है, और आत्म विमुख की ही रीति आपने कही है । अब ज्ञानी जनों का विचार कहो कि विषयों के सम्बन्ध से ज्ञानियों को सुख का भान होता है । या नहीं ।।१२।।

॥ गुरु रुवाच ॥ दोहा ॥

सुनहु शिष्य इक बात मम, सावधान मन कान।
ह्वै द्वैविध आतम विमुख, अज्ञानी रु सुजान ॥२५॥
ह्वै विस्मृत व्यवहार में, कबहुँक ज्ञानी सन्त।
अज्ञानी विमुखहि रहे, यह तूं जान सिद्धन्त ॥२६॥

हे शिष्य ! चित्त और श्रोत्र को सावधान=एकाग्र करके सुनो कि व्यवहार में ज्ञानवान् और अज्ञानी दोनों की बुद्धि आत्मा से विमुख हो जाती है, यदि ज्ञानी की बुद्धि सदा आत्माकार ही रहे, तो भोजनादि व्यवहार नहीं हो सकेगा, परन्तु अज्ञानी की बुद्धि सदा विमुख ही रहती है, और ज्ञानी की बुद्धि कभी व्यवहार काल में विमुख होती है, और उस काल में ज्ञानी को भी विषय के सम्बन्ध से आत्मानन्द का भान होता है। तहाँ ज्ञानी जानता है कि यह आनन्द मेरे स्वरूप से भिन्न नहीं है, किन्तु यह आत्मानन्द का आभास है। और अज्ञानी इस प्रकार नहीं समझता है, यह दोनों में भेद है, और विषयानन्द काल में भी आत्मानन्द की भावना स्मृति से ज्ञानी विषयानन्द में आसक्त नहीं होता है, अतः ज्ञानी को विषय भोग में भी मानो समाधि ही रहती है इत्यादि ॥२५-२६॥

॥ शिष्य प्रश्न ॥ चौपाई ॥

हे प्रभु परमानन्द बखान्यो।
मेरो रूप सु मैं पहिचान्यो ॥
नहिं तो में भवबन्धन लेशा।
कह्यो आप पुनि यह उपदेशा ॥१३॥
यामें शंका मुहि यह आवै।
जाते तब वच हिय न सुहावै ॥

नहिं मोमें यह बन्ध पसारो ।
कहो कौन तो आश्रय न्यारो ॥ १४ ॥

हे भगवन् आपने कहा है कि ( तूं परमानन्द स्वरूप है ) सो मैं अपने स्वरूप को भली रीति से समझा । परन्तु आपने जो कहा है कि ( जन्मादि संसार दुःख तेरे स्वरूप में नहीं है ) अतः उसकी निवृत्ति का सम्भव नहीं है, तहाँ मुझे शंका होती है कि यदि जन्मादि मुझमें नहीं हैं, तो मुझसे न्यारा=भिन्न कौन संसार दुःख का आश्रय है, उस आश्रय को आप कहो कि जिसको दुःखों का आश्रय समझकर, अपने को दुःखों से रहित समझूं ॥ १३–१४ ॥

"उत्तर=गुरुवचन ॥ सोरठा ॥

सुनहु शिष्य मम बानि, जाते तब शंका मिटै ।
है जग की अति हानि, तो मो में नहिं और में ॥ ३ ॥

परमार्थ=सत्यरूप से जगत का सर्वत्र अभाव है ॥ ३ ॥

॥ शिष्य प्रश्न ॥ दोहा ॥

जो भगवन् कहुँ है नहिं, जन्म मरण जग खेद ।
ह्वै प्रत्यक्ष प्रतीति क्यों, कहो आप यह भेद ॥ २७ ॥

हे भगवन् यदि जन्मादि संसार दुःख कहीं भी सत्य नहीं है । तो इसकी प्रत्यक्ष प्रतीति=ज्ञान क्यों होती है, गगन पुष्पादि के समान इसकी भी प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होनी चाहिये, आप यह भेद= रहस्य कहो ॥ २७ ॥

"उत्तर=रहस्य कथन ॥ दोहा ॥

आतम रूप अज्ञान ते, ह्वै मिथ्या परतीति ।
जगत स्वप्न नभ नीलता, रज्जु भुजंग की रीति ॥ २८ ॥

जन्मादि संसार परमार्थ रूप से नहीं है, तो भी आत्मा को ब्रह्म स्वरूप नहीं जानने के कारण अज्ञान से मिथ्या जन्मादि आत्मा में प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न के पदार्थ आकाश की नीलता, रज्जु में सर्पादि के परमार्थ से नहीं रहते भी उनकी मिथ्या प्रतीति होती है। तैसे जन्मादि जगत की आत्मा में मिथ्या प्रतीति होती है ॥ २८ ॥

॥ प्रश्न ॥ चौपाई ॥

मिथ्या सर्प रज्जु में जैसे।
भाख्यो भव आतम में तैसे ॥
कैसे सर्प रज्जु में भासै ।
यह संशय मम बुद्धि बिनाशै ॥ १५ ॥

जैसे रज्जु में सर्प मिथ्या भासता है, तैसे आतमा में भव दुःख को मिथ्या कहा गया है तहाँ दृष्टान्त के ज्ञान बिना दार्ष्टान्त का ज्ञान नहीं होता है, अतः रस्सी में सर्प कैसे भासता है, यह दृष्टान्त विषयक प्रश्न है, क्योंकि प्रश्न के उत्तर बिना यह संशय युक्त मन बुद्धि को विनष्ट करता है ॥ १५ ॥

। प्रश्नाभिप्राय विषयक ॥ चौपाई ॥

असत ख्याति पुनि आतम ख्याती।
ख्याति अन्यथा अरु अख्याती ॥
सुने चारि मत भ्रम की ठौरा।
मानूँ कौन कहो यह ब्योरा ॥ १६ ॥

भ्रम के स्थान में शुन्यवादी असत ख्याति=असत की प्रतीति कहते हैं । १ । क्षणिक विज्ञानवादी=आत्म ख्याति कहते हैं । २ ॥ न्याय वैशेषिक मतवादी अन्यथा ख्याति कहते हैं । ३ । सांख्य प्रभाकर

मतवादी अख्याति कहते हैं । ४ । तहाँ किसको माना जाय, यह व्योरा =भेद=रहस्य कहो, कि इनमें श्रेष्ठ=मन्तव्य कौन है ।
शून्य वादी का भाव है कि जैसे रज्जु देश में अत्यन्त असत सर्प की प्रतीति होती है तैसे अन्य देश में अत्यन्त असत् सर्प की रज्जु देश में ख्याति=प्रतीति और कथन होता है, अतः असत् ख्याति है ॥१॥ परन्तु सर्वथा असत की प्रतीति आदि नहीं हो सकते हैं । अतः आत्म ख्यातिवादी का अभिप्राय है कि रज्जु देश में या अन्यत्र कहीं भी बुद्धि से अतिरिक्त सर्प या कोई पदार्थ नहीं है, सर्व पदार्थाकार क्षणिक बुद्धि ही होती है । क्षण में उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होने वाला विज्ञान ( बुद्धि ) ही सर्प रूप प्रतीत होता है और वह विज्ञान ही आत्मा है, अतः उस क्षणिक आत्मा का सर्परूप से ख्याति =भान और कथन होने से आत्मख्याति है ॥ २ ॥ परन्तु क्षणिक आत्मा की ख्याति हो तो क्षणमात्र से अधिक काल तक प्रतीति नहीं होनी चाहिए, अतः अन्यथा ख्यातिवादी कहते हैं कि अन्य देश में स्थित सत्य सर्प ही दोष बल से अन्य देश में प्रतीत होता है । अथवा अन्य देशस्थ के साथ नेत्र सम्बन्ध के अभाव से उसका अन्य देश में ज्ञान नहीं हो सकने के कारण, अन्य वस्तु का किसी अन्यरूप से भान ही अन्यथा ख्याति है, जैसे कि रज्जु का सर्प रूप से भान अन्यथा ख्याति है ॥ ३ ॥

अख्याति वादी का अभिप्राय है कि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान होता है, ज्ञेय रज्जु का अन्यथा= सर्परूप से भान मानना असंगत है, अतः ऐसा मानना उचित है कि जहाँ रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, तहाँ नेत्रवृत्ति के रज्जु के साथ सम्बन्ध होने पर, इदं रूप से रज्जु का सामान्य ज्ञान होता है, और दोष बल से रज्जु के विशेष रूप के नहीं भासित होने के कारण सादृश्य दर्शन से उद्बुद्ध संस्कारपूर्वक सर्प की स्मृति होती है । अतः यह सर्प है, इस ज्ञान में दो अंश रहते

हैं। यह इतना रज्जु का सामान्य ज्ञान रहता है। और (सर्प है) इतना स्मृति अंश रहता है। और दोनों अंश यथार्थ ही रहते हैं परन्तु भय मन्द अन्धकारादि दोषों के बल से ज्ञाता को यह पता नहीं लगता है कि मुझे दो ज्ञान हुए हैं। इस ज्ञान के विवेक के अभाव को ही अख्याति कहते हैं। सीपी में रजत की प्रतीति आदि रूप सब भ्रम स्थानों में ये पूर्वोक्त चार मत सुने जाते हैं। उनमें जो श्रेष्ठ हो, सो कहना चाहिये, कि जिसको मैं मानूँ, यह शिष्य का प्रश्न है ॥ १६ ॥

उत्तर ॥दोहा॥

ख्याति अनिर्वचनीय लख, पञ्चम तिन ते और।<br>
युक्ति हीन मत चार ये, मानहु भ्रम की ठौर ॥२६॥

हे शिष्य उक्त चारो मत से और=अन्य पञ्चम अनिवर्चनीय ख्याति भ्रम के स्थान में समझो, और चारो मतों को भ्रम के स्थान में युक्ति रहित मानो। क्योंकि सत्ता स्फूर्ति रहित सर्वथा असत् की प्रतीति का जैसे असम्भव है, बाह्य प्रतीत होने वाले स्थिर वस्तुओं का अन्तर्गत क्षणिक बुद्धि रूप होना जैसे असम्भव है, तथा अन्यथा=दूर देश बिल में वर्तमान सर्प का अन्यथा=रज्जु देश में दोष बल से जैसे ज्ञान होना असम्भव है, क्योंकि व्यवहित सर्प के साथ नेत्र का सम्बन्ध नहीं है, दोष बल से यदि व्यवहित का ज्ञान माना जाय, तो बीच के अन्य वस्तुओं का भी ज्ञान होना चाहिए, इसी प्रकार सर्प के साथ नेत्र के सम्बन्ध बिना रज्जु का ही सर्प रूप से भी भान का असम्भव हैं। हाँ जहाँ श्वेत स्फटिक के पास में रक्त पुष्पादि वर्तमान हों, और वहाँ जो स्फटिक रक्त भासता है, सो अन्यथा ख्याति ही है, क्योंकि वहाँ नेत्र का रक्तता के साथ सम्बन्ध वर्तमान रहता है, सम्बन्ध के बिना दोष बल से रज्जु के विशेष मात्र के भान नहीं होने मात्र से उसकी सर्प

रूप से प्रतीति नहीं हो सकती है ।। इन तीन मतों के समान अख्याति वाद का भी असम्भव है, क्योंकि भ्रम स्थान में रज्जु आदि देश में सर्प रजतादि का स्मरण मात्र हो तो भय ग्रहणेच्छा आदि नहीं होना चाहिए । तथा मुझे यह मिथ्या ज्ञान हुआ था, इस प्रकार उत्तर काल में बाध=मिथ्यात्व की प्रतीति, नहीं होना चाहिये, तथा ज्ञान में एकता की प्रतीति होती है, सो नहीं होनी चाहिए, और एक काल में स्मरण रूप और सामान्य अंश का प्रत्यक्ष अनुभव रूप दो अन्तःकरण की वृत्ति का असम्भव है ।। उक्त दोषों के कारण वेदान्त में अनिर्वचनीय ख्याति मानी जाती है तिसकी यह रीति है कि वाह्य प्रकाश की वर्तमानता काल में अन्तःकरण की वृत्ति ( परिणाम ) नेत्र द्वारा निकल कर, मूर्त व्यक्त विषयाकार को प्राप्त होती है, तहाँ उस वृत्ति से, उस विषय के अज्ञान कृत आवरण के भंग=नाश होने पर उस विषय की प्रतीति होती है, अर्थात् ब्रह्म चेतन से सामान्य रूप से सदा प्रकाशित विषय का भी वृत्तिगत व्यक्त चेतन = चिदाभास से विषय का विशेष प्रकाश द्रष्टा के प्रति होता है । अतः द्रष्टागत अज्ञान कृत आवरण का ही वृत्ति से नाश भी होता है । सो अवस्था रूप अज्ञान प्रत्येक द्रष्टा में विषय भेद से अनन्त रहते हैं, सो सब विषय में विषयता सम्बन्ध से और ब्रह्म में अधिष्ठानता सम्बन्ध से रहते हैं । जिस विषयक आवरण का नाश होता है, उसका प्रकाश होता है । जहाँ सर्पादि का भ्रम होता है, तहाँ नेत्र द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति रज्जु आदि देश में जाती है, परन्तु मन्द अन्धकार=तिमिरादि दोष रूप प्रतिबन्धक से वृत्ति विषयाकार नहीं होने पाती है, अतः अज्ञानकृत आवरण का नाश नहीं होता है, और अज्ञानात्मक अविद्या में क्षोभ=वेग हो जाता है, अतः वह सर्प और उसके ज्ञानाकार को धारण करती है । वे ज्ञान सहित सर्पादि यदि सत्य होवें, तो रज्जु आदि के ज्ञान से उनकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि असत होवें तो गगन पुष्प शशशृङ्गादि के समान उनकी प्रतीति

नहीं होनी चाहिये, और प्रतीति बाध दोनों होते हैं, अतः सत् और असत् दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय सर्पादि भ्रम स्थान में प्रातिभासिक=प्रतीति कालमात्र वृत्ति होते हैं। स्वप्न के पदार्थ भी प्रातिभासिक ही होते हैं। जाग्रत के व्यावहारिक पदार्थ स्थायी होते हैं। प्रातिभासिक सर्पादि के समान उनके ज्ञान भी अविद्या के ही परिणाम होते हैं, अन्तःकरण के नहीं, क्योंकि सर्पादि के समान उनका भी बाध होता है। परन्तु अविद्यागत तमोगुण भाग के सर्पादि परिणाम होते सत्त्वगुण भाग के सर्पादि के ज्ञानरूप परिणाम होते हैं। और दोनों परिणाम समकाल में होते हैं, तथा समकाल में निवृत्त होते हैं, और विषय सहित भ्रम ज्ञान अध्यास कहे जाते हैं, और अविद्या के परिणाम तथा चेतन के विवर्त कहे जाते हैं। तथा साक्षिभास्य कहे जाते हैं। अविद्या की वृत्ति द्वारा जिसको साक्षी प्रकाशता है। उसको साक्षी भाष्य कहते हैं। और उपादान कारण के समान स्वभाव वाले अन्यथा स्वरूप कार्य को परिणाम कहते हैं। अधिष्ठान से विपरीत स्वभाव वाले अन्यथा स्वरूप कार्य को विवर्त कहते हैं, रज्जु सर्पादि अविद्या के समान अनिर्वचनीय स्वभाव वाले अन्यथा = कार्य स्वरूप वाले होते हैं। और सत चेतन अधिष्ठान से विपरीत मिथ्या स्वभाव वाले अन्यथा कार्य स्वरूप होते हैं। अतः अविद्या के परिणाम और चेतन के विवर्त कहाते हैं। ऐसा ही सम्पूर्ण संसार को माया का परिणाम और ब्रह्म चेतन का व्यावहारिक विवर्त समझना चाहिए। और रज्जु सर्पादि के द्रष्टा प्रमातृ तद्वृत्तिस्थ चेतनस्थ अविद्या के परिणाम होने ही के कारण जहाँ एक रज्जु में किसी को सर्प का किसी का दण्ड का किसी को माला आदि का भ्रम होता है, तहाँ सब अपनी अपनी अविद्या से रचित को भिन्न भिन्न देखता है, सबको सब नहीं देखता है, रज्जुगत चेतनस्थ बाह्य अविद्या मात्र के सर्पादि सब परिणाम हों, तो सबको सब दीखना चाहिए, जैसे कि अनेक के सामने रहने वाले घटादि सबको

दीखते हैं। अतः रज्जु सर्पादि के रज्जु आदि अधिष्ठान नहीं होते हैं, किन्तु वृत्तिद्वारा रज्जु देश में प्राप्त प्रमाता चेतन अधिष्ठान होता है, परन्तु रज्जु देश में प्राप्त होकर अधिष्ठान होने के कारण रज्जु अधिष्ठान तुल्य भासता है, और रज्जु के ज्ञान से रज्जु देशस्थ प्रमाता के अज्ञान की ही निवृत्ति से सर्प और उसके ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। और ब्रह्मात्मा के अद्वैत सत्य स्वरूप से ज्ञान होने पर बाह्य प्रपञ्च की सत्यता स्वतन्त्रता आदि मात्र निवृत्त होते हैं क्योंकि बाह्य प्रपञ्च में सत्यता आदि प्रमाता के अज्ञान से रचित हैं। और प्रपञ्च का स्वरूप तमः प्रधान ब्रह्मनिष्ठ माया से रचित है। अतः ज्ञान से स्वरूप की निवृत्ति नहीं होती है, परन्तु अनिर्वचनीय माया के कार्य होने से प्रपञ्च भी अनिर्वचनीय ही सिद्ध होता है। और माया की अनिर्वचनीयता शास्त्र और युक्ति से सिद्ध होती है, आदित्य पुराण का वचन है कि—

(नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ॥१॥

अग्नि पुराण अ. ३७७। का वचन है कि—

स्थूलसूक्ष्मशरीराख्यद्वयस्यैकं हि कारणम्।
आत्माऽज्ञानं च साभासं तदव्याकृतमुच्यते ॥२॥

न सन्नाऽसन्न सदसदेतत्सावयवं न तत्।
निर्गतावयवं नेति नाभिन्नं भिन्नमेव च ॥३॥

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्याऽनुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ॥४॥

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाऽप्युभयात्मिाका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥५॥

(विवेकचूडामणौ) माया सत वा असत् स्वरूप या सदसत् दोनों स्वरूप नहीं होने के कारण, सत् असत शब्द से अनिर्वाच्य मिथ्या होती हुई सनातनी अनादि है ॥१॥ स्थूल सूक्ष्म शरीर नामक द्वैत का एक कारण, आभास सहित जो आत्मा का अज्ञान वह अव्याकृत अव्यक्त कहा जाता है ॥२॥ सो अव्यक्त सत् वा असत् नहीं है, न सदसत उभय स्वरूप है। और अनादि होने से द्रव्य के समान सावयव नहीं है, तो निरवयव भी वह नहीं कहा जा सकता, सावयव नहीं होते भी अन्धकार के समान वह सांश है। चिज्जड की एकता नहीं हो सकने से वह ब्रह्म से अभिन्न नहीं है, और अद्वैत श्रुति विरोध से तथा सर्वथा भिन्न में शक्ति रूपता के असम्भव से ब्रह्म से भिन्न भी नहीं है। विरोध से भिन्नाभिन्न भी नहीं है। अतः अनिर्वचनीय है ॥३॥ अव्यक्त नाम वाली परमात्मा की शक्ति रूप त्रिगुणात्मक अनादि अविद्या, कार्यों से पर, कार्य द्वारा विद्वानों से अनुमेय है, सोई माया है कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है ॥४॥ सो अविद्या माया सदादि स्वरूप नहीं है। न भिन्नभिन्नादि स्वरूप है। न सांग=सावयवादि स्वरूप हैं, अतः महाद्भुत अनिर्वचनीय स्वरूप है ॥५॥ और इस प्रकार अनिर्वचनीय अविद्यामूलक अनिर्वचनीय वस्तु की ख्याति को अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं ॥२६॥

॥ शिष्य प्रश्न ॥ दोहा ॥

यह मिथ्या परतीत ह्वै, जामें जगत अपार।
सो भगवन् मोको कहो, को याको आधार ॥३०॥

॥ गुरु उत्तर ॥ दोहा ॥

तब निज रूप अज्ञान ते, ह्वै मिथ्या जग भान।
अधिष्ठान अधार तूं, रज्जु भुजंग समान ॥३१॥

हे शिष्य ! तेरे निज=नित्य सत्य स्वरूप के अज्ञान से जन्मादि-मय मिथ्या जगत् की प्रतीति तेरे स्वरूप में ही होती है, अतः जगत् का आधार और अधिष्ठान तू है=तेरा स्वरूप है। जैसे रज्जु के अज्ञान से मिथ्या सर्प प्रतीत होता है, तहाँ मिथ्या सर्प का आधार और अधिष्ठान रज्जु होता है। यद्यपि मिथ्या सर्प का अधिष्ठान रज्जु नहीं हो सकता, क्योंकि रज्जु भी स्वयं मिथ्या है, और मिथ्या का सत्य अधिष्ठान होता है, तथापि सर्प प्रातिभासिक है, और रज्जु व्यावहारिक है, अतः प्रतिभासिक की अपेक्षा सत्य होने से वह अधिष्ठान और आधार कहा जा सकता है, तथा रज्जु देश में अन्तःकरण के वृत्ति द्वारा प्राप्त होने पर रज्जु और वृत्ति युक्त चेतन में सर्प का भ्रम होता है, और वह दो उपाधि वाला चेतन एक रहता है, क्योंकि उपाधि के भिन्न देश में रहने पर उपाधि के भेद से उपहित चेतन में भेद कल्पित होता है, एक देश में रहने पर नहीं, और उस चेतन में अधिष्ठानता रज्जु आदि उपाधि से ही कल्पित होती है, अतः रज्जु को अधिष्ठान और आधार कहा जा सकता है।

अधिष्ठान और आधार में यह भेद है कि भ्रम काल में मिथ्या वस्तु के साथ मिल कर जो सत्य वस्तु का सामान्य स्वरूप भासता है, उसको भ्रम का आधार कहते हैं, और जो सत्य का विशेष स्वरूप भ्रम काल में नहीं भासता है, किन्तु जिसके ज्ञान होने पर भ्रम की निवृत्ति होती है, उस विशेष स्वरूप को अधिष्ठान कहते हैं, यह निर्णय सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक में किया है, तहाँ रज्जु आदि में इदं रूप, सामान्य है, मुञ्जादिमय विशेष है। आत्मा में सत रूप=अस्तिता सामान्य है। असङ्गता=कूटस्थता, आनन्दरूपता, नित्यमुक्तता आदि विशेष स्वरूप है, क्योंकि असंगादि स्वरूपता के ज्ञान होने पर आत्मा के जन्मादि भ्रम की निवृत्ति हो

जाती है, और शरीरादि संघात के साथ सत रूप से आत्मा के ही भान होते रहने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है इत्यादि ॥ ३०-३१ ॥

॥ प्रश्न—दोहा ॥

भगवन् मिथ्या जगत को, द्रष्टा कहिए कौन ।
अधिष्ठान आधार जो, द्रष्टा होय न तौन ॥ ३२ ॥

जैसे सर्प का आधार और अधिष्ठान रूप रज्जु सर्प का द्रष्टा नहीं होता है, तैसे मिथ्या जगत का आधार और अधिष्ठान रूप आत्मा जगत का द्रष्टा नहीं हो सकता है, अतः सर्प द्रष्टा अधिष्ठान भिन्न पुरुष के समान, जगत् का द्रष्टा अधिष्ठान रूप आत्मा से भिन्न किसको कहना चाहिये । यह प्रश्न है ॥३२॥

॥ उत्तर ॥ चौपाई ॥

मिथ्या वस्तु जगत में जे हैं ।
अधिष्ठान में कल्पित ते हैं ॥
अधिष्ठान सो द्विविध पिछानहु ।
इक चेतन दूजो जड़ जानहु ॥१७॥
अधिष्ठान जड़ वस्तु जहाँ है ।
द्रष्टा ताते भिन्न तहाँ है ॥
जहाँ होय चेतन आधारा ।
तहाँ न द्रष्टा होवै न्यारा ॥१८॥

जहाँ जड़ अधिष्ठान होता है, तहाँ अधिष्ठान से भिन्न द्रष्टा होता है । और जहाँ चेतन अधिष्ठान होता है, तहाँ अधिष्ठान ही द्रष्टा होता है, भिन्न नहीं, अतः जगत का अधिष्ठान और द्रष्टा आत्मा ही है ॥१८॥

॥ दोहा ॥

**चेतन मिथ्या स्वप्न को, अधिष्ठान निर्धार ।**
**सोई द्रष्टा भिन्न नहिं, तैसे जगत विचार ॥३३॥**

जैसे स्वप्न का अधिष्ठान साक्षी चेतन है, सोई स्वप्न का द्रष्टा है, तैसे जगत का आत्मा ही अधिष्ठान है, सोई द्रष्टा है ॥

स्थूल दृष्टि से रज्जु को सप का अधिष्ठान मान कर ये शंका और समाधान कहे गए हैं । और वस्तुतः रज्जु सर्प का साक्षी चेतन अधिष्ठान है, सोई द्रष्टा है, अतः सर्वत्र कल्पित का अधिष्ठान ही द्रष्टा होता है, इसलिए शंका समाधान की जरूरत नहीं है ॥३३॥

**इमि मिथ्या संसार दुख, ह्वै तोमें भ्रमभान ।**
**ताकी कहा निवृत्ति तूं, चाहै शिष्य सुजान ॥३४॥**

हे शिष्य ! उक्त रीति से मिथ्या ही संसार रूप दुःख भ्रम से तेरे में भासता है, उस मिथ्या की निवृत्ति की तूं क्या इच्छा करता है, यह इच्छा अयुक्त है ।

जैसे बाजीगर ने मन्त्र बल से किसी को मिथ्या शत्रु दिखाया हो, तो वह उसे मारने के लिए यत्न नहीं करता है, तैसे मिथ्या संसार की निवृत्ति के लिए चाह नहीं बन सकती है ॥३४॥

॥ शिष्या प्रश्न ॥ चौपाई ॥

**जग यद्यपि मिथ्या गुरु देवा ।**
**तथापि मैं चाहूं तिहि छेवा ॥**
**स्वप्न भयानक जाको भासै ।**
**कार साधन जन जिमि तिहि नाशै ॥१९॥**

याते ह्वै जाते जग हाना ।
सो उपाय भाखो भगवाना ॥
तुम समान सत गुरु नहि आना ।
श्रवण फूक दे वञ्चक नाना ॥२०॥

हे भगवन् आपने कहा है कि तेरे आत्मा में जगत मिथ्या है, सत्य नहीं, सो कहना सत्य है, तथापि वह मिथ्या जगत भी मेरे आत्मा में जिस उपाय से नहीं भासे, सो उपाय कहो, क्योंकि उस प्रतीति की निवृत्ति मैं चाहता हूँ ॥ और आप ने जो कहा है कि मिथ्या की निवृत्ति के लिए साधन नहीं चाहिए। सो बात भी सत्य है। तथापि जिसको मिथ्या पदार्थ भी दुःख देता हो, उसको वह मिथ्या भी साधनों से दूर कर्तव्य होता है। जैसे किसी को प्रतिदिन भयानक स्वप्न होता हो, तो स्वप्न के मिथ्या होते भी वह पुरुष जप ध्यान शौचादि नाना साधनों से उस स्वप्न का निवारण करता है, तैसे ही यद्यपि संसार मिथ्या है, तथापि हमें दुःखद प्रतीत होता है, अतः इसकी निवृत्ति चाहता हूं। आप कृपा करके निवृत्ति का उपाय बतावें ॥१६–२०॥

॥ गुरुवचन ॥ सोरठा ॥

सो मैं कह्यो बखानि, जो साधन तैं पूछियो ।
निज हिय निश्चय आनि, रहै न रञ्चक खेद जग ॥४॥

हे शिष्य ! जो तुम जगत दुःख की निवृत्ति का साधन पूछते हो, सो साधन मैंने तुझे प्रथम ही कह दिया है। उसको तू अपने हृदय में दृढ निश्चय करो, उसी साधन से जगत रूप खेद नहीं रहेगा ॥४॥

॥दोहा॥

निज आतम अज्ञान ते, ह्वै प्रतीत जग खेद ।
नशै सु ताके बोध ते, यह भाखत मुनि वेद ॥ ३५ ॥

जग सोमें नहिं ब्रह्म मैं, अहं ब्रह्म यह ज्ञान ।
सो तोकूं सिष मैं कह्यो, नहिं उपाय कोइ आन ।। ३६ ।।

हे शिष्य ! अपने आतम=सत्य स्वरूप के अज्ञान से जगत् रूप खेद प्रतीत होता है । सो आत्म ज्ञान से मिटता है । क्योंकि जो वस्तु जिस के अज्ञान से प्रतीत होती है, सो उसके ज्ञान से मिटती है । जैसे रज्जु के अज्ञान से सर्प प्रतीत होता है, सो रज्जु के ज्ञान से मिटता है । तैसे आत्म ज्ञान से जगत मिटता है । और सो आत्म ज्ञान मैं कह दिया हूँ कि जगत मुझ में तीनों काल में नहीं है, क्योंकि मिथ्या है, जो मिथ्या वस्तु होती है, सो अधिष्ठान की हानि नहीं करती है । जैसे मरीचिका का जल भूमि को गीली नहीं करता है, तैसे ही मिथ्या जगत् प्रतीत होता है। परन्तु मेरी हानि करने में समर्थ नहीं है । और मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप हूं, इस निश्चय का नाम ज्ञान है । सोई मोक्ष का साधन है । अन्य नहीं । और इस ज्ञान का उपदेश मैंने प्रथम कर दिया है ।। ३५-३६ ।।

कर्म उपासन ते नहीं, जग निदान तम नाश ।
अन्धकार जिमि गेह में, नशै न बिन परकाश ।।३७।।

हे शिष्य ! जगत् का निदान=उपादान कारण रूप तम=अज्ञा' है, उस अज्ञान के नाश से जगत् का स्वयं नाश होता है । क्योंकि उपादान के नष्ट होने पर कार्य नहीं रहता है । और उस अज्ञान का केवल ज्ञान से नाश होता है, कर्म और उपासना से अज्ञान का नाश नहीं होता है । क्योंकि अज्ञान का विरोधी ज्ञान है, कर्म उपासना नहीं ।। जैसे गृह का अन्धकार किसी क्रिया से नष्ट नहीं होता है, केवल प्रकाश से नष्ट होता है । तैसे ही अज्ञान रूप तम ज्ञान रूप प्रकाश से नष्ट होता है । अन्य किसी साधन से नहीं ।। ३७ ।।

भाख्यो सिष उपदेश मैं, जग भंजक हिय धारि।
जो यामें संशय रह्यो, सो तूं पूछ विचारि ॥३८॥

शिष्य उवाच ॥ चौपाई ॥

भो भगवन् जो कछु तुम भाख्यो।
सो सब सत्य जानि हिय राख्यो ॥
जग निदान अज्ञान बखान्यो।
ताको भंजक ज्ञान पिछान्यो ॥२१॥
ज्ञान रूप वर्णन पुनि कीन्हा।
जग मिथ्या सो मैं भल चीन्हा ॥
सुख स्वरूप आतम परकाश्यो।
दया तिहारी सो मुहि भास्यो ॥२२॥
पुनि भाख्यो तुम ब्रह्म स्वरूपम्।
यह मैं लख्यो न भेद अनूपम् ॥
यामें मोहि शंका इक आवै।
जीव ब्रह्म को भेद जनावै ॥२३॥

हे भगवन् आपने जो कहा उस बचन को मैं सत्य जानता हूँ। आपने कहा कि जगत् का कारण अज्ञान है, ज्ञान द्वारा उस अज्ञान की निवृत्ति से जगत् की निवृत्ति स्वयं होती है, सो समझा और जगत् मिथ्या है, जीव आनन्द स्वरूप है, सो ब्रह्म स्वरूप है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है, इस निश्चय को आप ने ज्ञान का स्वरूप कहा, तिसमें जगत् के मिथ्यात्व और जीव के आनन्द स्वरूपत्व को मैंने समझा। परन्तु जीव ब्रह्म की एकता को नहीं समझा। क्योंकि जीव ब्रह्म के भेद को जानाने वाली शंका मेरे हृदय में होती है ॥२१-२३॥

पुण्य पाप का हूँ मैं कर्ता । जन्म मरण और सुख दुख धर्ता ॥
और अनेक भाँति जग भासै । चहूँ ज्ञान अज्ञान जु नाशै ॥२४॥

जो याते विपरीत स्वरूपा । ताको ब्रह्म कहत मुनि भूपा ॥
कहो एकता कैसे जानूँ । रूपविरुद्ध हिये पहिचानूँ ॥२५॥

हे भगवन ! मैं पुण्य और पाप का कर्ता हूँ । और उनके फल रूप जन्म मरण और सुख दुख को धरता=धारण करता हूँ । और नाना प्रकार का जगत् मुझमें भासता है । और जगत के कारण अज्ञान को नष्ट करने के लिए मैं ज्ञान चाहता हूँ । और ब्रह्म में पुण्य, पाप, जन्म, मरण, सुख और दुख कोई क्लेश नहीं है । न ज्ञान की इच्छा है । अतः ब्रह्म का और मेरा स्वरूप परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है, इसलिए एकता नहीं हो सकती है । यद्यपि मेरे स्वरूप में भी सत्य संसार नहीं है, तथापि मिथ्या जन्मादि संसार मुझे भ्रम से भासता है । और ब्रह्म में नहीं भासता है । इतने भेद के रहते भी एकता नहीं हो सकती है ॥ २४–२५ ॥

सुनहु गुरू दूजो पुनि संसै । जीव ब्रह्म एकत्व प्रनंसै ॥
एक वृत्त में सम द्वै पत्ती । फल भोगै इक दूजो स्वच्छी ॥२६॥
भोग रहित परकाश असंगा । वेद बचन यह कहत प्रसंगा ॥
कर्म उपासन पुनि बहु भाखै । जीव ब्रह्म याते द्वय राखे ॥२७॥

हे गुरो ! उक्त प्रमेय संशय के समान दूसरा प्रमाण में संशय है, सो सुनो, उस संशय से जीव ब्रह्म की एकता का निश्चय प्रनंशै= प्रनष्ट=दूर हो जाता है । अतः उसे सुन कर आप उसका निवारण करो । वेद में देखा गया है कि एक बुद्धि रूप वृत्त में दो पत्ती हैं, सो दोनों चेतनता अंश में तो समान=तुल्य हैं । परन्तु एक तो कर्म फलों को भोगता है । और एक दूसरा भोग रहित स्वच्छ=शुद्ध है ।

तथा असंग है, और उस भोगने वाले को प्रकाशता है। तहाँ भोगने वाला जीव प्रतीत होता है। और दूसरा परमात्मा प्रतीत होता है, अतः इनकी एकता नहीं हो सकती है। और वेद में बहुत प्रकार के कर्म उपासनाएँ कहे गए हैं। सो जीव ब्रह्म की एकता होने पर निष्फल होगें। क्योंकि एकता होने पर ब्रह्म में जीव के स्वरूप का अन्तर्भाव होगा, अथवा जीव में ब्रह्म के स्वरूप का अन्तर्भाव होगा। तहाँ यदि ब्रह्म में जीव के स्वरूप का अन्तर्भाव होगा, तो जीव के ब्रह्म स्वरूप होने के कारण अधिकारी के अभाव से कर्म और उपासना का विधान निष्फल होगा। और यदि जीव में ब्रह्म के स्वरूप का अन्तर्भाव होगा, तो जीव से भिन्न उपास्य के अभाव से उपासना का विधान निष्फल होगा, कर्म फलदाता ईश्वर के अभाव से कर्म निष्फल होगा। कर्म ही ईश्वररूप फलदाता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म जड़ है, स्वतन्त्र कर्म में फल देने का सामर्थ्य नहीं है, अतः ईश्वर द्वारा कर्म फल की प्राप्ति होती है। इसलिए जीव ब्रह्म की एकता नहीं बन सकती है ॥ २६–२७ ॥

### गुरुरुवाच ॥ चौपाई ॥

**सुनहु शिष्य इक कहूँ विचारा। ह्वै जाते शंका निस्तारा ॥**
**घटाकाश इक जल आकाशा। मेघाकाश महा आकाशा ॥२८॥**
**चारभेद ये नभ के जानहु। पुनि चेतम के तथा पिछानहु ॥**
**इक कूटस्थ जीव पुनि कहिये। ईश ब्रह्महिय जाने रहिये ॥२९॥**
**जब इनको तूं रूप पिछानै। निज शंका तबही सब भानै ॥**
**याते सुन इनको अब भेदा। नशै सुनत जन्मादिक खेदा ॥३०॥**

हे शिष्य ! तुझे जो शंका हुई है, उसका निस्तार=निराकरण=नाश जिससे हो सके, ऐसा एक विचार मैं तुमसे कहता हूँ, उसे सुनो। जैसे एक आकाश में, घटाकाश १ जलाकाश २ मेघाकाश ३

और महाकाश ४ ये चार भेद होते हैं। तैसे ही एक चेतन में, कूटस्थ १ जीव २ ईश्वर ३ और ब्रह्म ४ ये चार भेद हैं। हे शिष्य ! जब इनके स्वरूप को तुम भली रीति से पिछानोगे=समझोगे। तब तुम अपनी शंका को आपही भानोगे=नष्ट करोगे। शंका के समाधान को स्वयं समझो गे। अतः इनके स्वरूपों का वर्णन करता हूँ। तुम सुनो कि जिसके सुनने से संशय रहित ज्ञान की प्राप्ति होने पर जन्मादि दुःखों का नाश होगा ॥२८-३०॥

॥ दोहा ॥

**जल पूरित घट को जु दे, जितनो नभ अवकाश।**
**युक्ति निपुन पंडित कहै, ताको घट आकाश ॥३९॥**

हे शिष्य: जल से भरे हुए घट को जितना आकाश अवकाश देता है। उतने आकाश को पण्डित जन घटाकाश कहते हैं ॥३९॥

**जल पूरित घट में जु पुनि, ह्वै नभ को आभास।**
**घटाकाश युत विज्ञ जन, भाखत जल आकाश ॥४०॥**

हे शिष्य ! जल से पूर्ण घट में जो नक्षत्रादि सहित आकाश का प्रतिबिम्ब होता है, तहाँ घटाकाश सहित उस प्रतिबिम्ब को जलाकाश कहते हैं ॥४०॥

शंका होती है कि आकाश के रूप रहित होने से आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं होता है, किन्तु मेघ नक्षत्रादि का ही प्रतिबिम्ब होता है। इस शंका का समाधान है कि—

॥ दोहा ॥

**जो जल में आकाश को, नहिं प्रतिबिम्ब लखाइ।**
**थोरे में गम्भीरता, ह्वै प्रतीत किहि भाइ ॥४१॥**

**याते जल में व्योम को, लखि आभास सुजान ।**
**रूप रहित जिमि शब्द ते, है प्रतिध्वनि को भान ॥४२॥**

यदि जल में आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं हो, तो अल्प=पाद परिमित जल में गम्भीरता=अगाधता नहीं प्रतीत होनी चाहिये । अतः आकाश के नीरूप होते भी कल्पित नीलता आदि युक्त तथा आकाश में वर्तमान तेजगत रूपयुक्त आकाश का नेत्र से दृश्य प्रतिबिम्ब अवश्य मन्तव्य है। यदि कहा जाय कि रूप रहित पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं होता है, तो सो कहना ठीक नहीं है, क्योंकि रूप रहित शब्द का प्रतिध्वनि रूप प्रतिबिम्ब होता है । वस्तुतः ( प्रतिध्वनि-र्वियच्छब्दः ) प्रतिध्वनि आकाश का गुण रूप शब्द है, इस पञ्चदशी वचन के अनुसार प्रतिध्वनि प्रतिबिम्ब नहीं होता है, किन्तु वह आकाश का गुण है। और रूप रहित द्रव्य का जैसे नेत्र से प्रत्यक्ष नहीं होता है, तैसे उसके प्रतिबिम्ब का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । अतः कल्पित रूप तथा प्रकाशगत रूप सहित आकाश का ही नेत्र से प्रत्यक्ष योग्य प्रतिबिम्ब मानना उचित है ॥४१=४२॥

**जो मेघ हि अवकाश दे, पुनि तामैं अभास ।**
**तिन दोनों को कहत हैं, बुध जन मेघाकाश ॥४३॥**

मेघ=बादल को जो आकाश अवकाश देता है, और मेघ के जल में जो आकाश का प्रतिबिम्ब होता है, उन दोनों को मेघाकाश कहते हैं ॥४३॥

शंका होती है कि आकाशगत मेघ में जल और प्रतिबिम्ब कैसे जाना जासकता है, तो उत्तर है कि—

**वर्षत मेघ अनन्त जल, उदक सहित इति हेत ।**
**दक नहिं नभ आभास बिनु, इमि प्रतिबिम्ब समेत ॥४४॥**

यद्यपि मेघ में जल और प्रतिविम्ब प्रत्यक्ष नहीं है, तथापि अनुमान से जाना जाता है। क्योंकि मेघ से अनन्त प्रबल जल की वृष्टि होती है। अतः जल का अनुमान होता है, और उसमें प्रतिविम्ब का अनुमान होता है। उदक और दक जल के नाम हैं॥ ४४॥

**बाहिर भीतर एक रस, व्यापक जो नभ रूप।**
**महाकाश ताको कहै, कोविद बुद्धि अनूप॥४५॥**

सब वस्तु के बाहर और भीतर व्यापक एकरस नभ = आकाश के स्वरूप को अनूप = अद्भुत बुद्धि वाले पण्डित महाकाश कहते हैं॥४५॥

**चतुर्भांति नभ के कहे, लक्षण श्रुति अनुसार।**
**अब चेतन के शिष्य सुन, जासो लहै विचार॥४६॥**

हे शिष्य! चार प्रकार के आकाश के लक्षण कहे गए। अब चार प्रकार के चेतन के लक्षणों को सुनो कि जिससे विचार का फल ज्ञान प्राप्त हो॥४६॥

**( कूटस्थ )**

**मति वा व्यष्टि अज्ञान को, अधिष्ठान चैतन्य।**
**घटाकाश सममानिए, सो कूटस्थ अजन्य॥४७॥**

बुद्धि अथवा व्यष्टि अज्ञान के अधिष्ठान चेतन को कूटस्थ कहते है। जिस पक्ष में बुद्धि सहित चेतन जीव है, उस पक्ष में बुद्धि का अधिष्ठान चेतन कूटस्थ कहा जाता है। और जिस पक्ष में व्यष्टि अज्ञान सहित चेतन जीव है, उस पक्ष में व्यष्टि अज्ञान का अधिष्ठान चेतन कूटस्थ कहा जाता है।

अर्थात् जीव में विशेषणांश के अधिष्ठान का नाम कूटस्थ है, सो अजन्य है, चिदाभास के समान कूटस्थ की उत्पत्ति अभिव्यक्ति नहीं

होती है। किन्तु घटाकाश जैसे महाकाश से भिन्न नहीं है, तैसे कूटस्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं है, ब्रह्म स्वरूप ही है। यह कूटस्थ ही आत्मपद का लक्ष्यार्थ है, इसी को प्रत्यक् निजरूप और जीवसाक्षी कहते हैं इत्यादि ॥ ४७ ॥

[ जीव-स्वरूप ]

**काम कर्म युत बुद्धि में, जो चेतन प्रतिबिम्ब।**
**जीव कहै विद्वान् तिहि, जल नभ तुल्य सबिम्ब ॥ ४८ ॥**

नाना काम और कर्मों से युक्त बुद्धि में जो चेतन का प्रतिबिम्ब, उसको विद्वान्=ज्ञानी लोग जीव कहते हैं। सो भी केवल प्रतिबिम्ब को जीव नहीं कहते हैं। किन्तु घटाकाश सहित आकाश के प्रतिबिम्ब को जैसे जलाकाश कहते हैं। तैसे ही सबिम्ब=बिम्बकूटस्थ सहित प्रतिबिम्ब=चिदाभास को जीव कहते हैं। अतः चिदाभास सहित बुद्धि और अधिष्ठान इस संघ को जीव कहते हैं ॥ ४८ ॥

**अधिष्ठान कूटस्थ से, है अभास बहाल[१]।**
**रक्त पुष्प ऊपर धरे, स्फटिक होइ जिमि लाल ॥४९॥**

पूर्व दोहे में बिम्ब कूटस्थ सहित चिदाभास को जीव कहा गया है, इससे प्रतीत होता है कि बुद्धि गत प्रतिबिम्ब कूटस्थ का होता है, बाहर के ब्रह्म चेतन का नहीं। क्योंकि जिसका प्रतिबिम्ब होता है, उसको बिम्ब कहा जाता है, और कूटस्थ को बिम्ब कहा गया है, अतः इस दोहे से उसके प्रतिबिम्ब का प्रतिपादन करते हैं कि—जैसे बड़े लाल पुष्प के ऊपर धरा हुआ श्वेत स्फटिक में फूल की लाली की

---

१ वस्तुतः आभास रूप जीव का अंश भी महा प्रलय ( मोक्ष ) पर्यन्त स्थायी है परन्तु सृष्टि जाग्रदादि में व्यक्त होता है, अन्यत्र अव्यक्त रहता है। कूटस्थ सदा एक रस ॥ निर्विकार रहता है ॥

दमक होती है, सो पुष्प का प्रतिबिम्ब है, तैसे ही कूटस्थ के आश्रित बुद्धि में कूटस्थ के प्रकाश की दमक होती है, क्योंकि जैसे स्फटिक अत्यन्त उज्ज्वल रहता है, तैसे बुद्धि भी सत्त्व गुण के कार्य होने से अत्यन्त शुद्ध रहती है, अतः उसमें कूटस्थ का प्रकाश व्यक्त होता है ॥ अथवा गम्भीरता की प्रतीति से महाकाश के जल में प्रतिबिम्ब के समान ब्रह्म चेतन का प्रतिबिम्ब बुद्धि में होता है, और कूटस्थ ब्रह्म से अभिन्न है, अतः वह भी बिम्ब है। और आकाश के दृष्टान्त से विभु चेतन का भी आभास सिद्ध होता है, नेत्र से दृश्य आभास रूप रहित का नहीं होता है, और नेत्र से अदृश्य आभास अन्य का भी होता है। इस रीति से आभास सहित बुद्धि और उसके अधिष्ठान चेतन दोनों को जीव कहा गया है। सो जीव त्वंपद का वाच्यार्थ है, और केवल कूटस्थ लक्ष्यार्थ है। अहं पद का भी जीव वाच्यार्थ है, और कूटस्थ लक्ष्यार्थ है ॥४९॥

> **बुद्धि माहिं आभास जो, पुण्य पाप फल भोग।**
> **गमन आगमन सो करै, नहिं चेतन में योग ॥५०॥**
> **मिथ्या नभ घट संग ज्यों, लहै क्रिया बहु भाँति।**
> **घटाकाश अक्रिय सदा, रहै एकरस शान्ति ॥५१॥**

यद्यपि बुद्धि सहित चिदाभास और कूटस्थ इन दोनों का जीव नाम है, तथापि जीवत्व का जो धर्म है, सो सब बुद्धि सहित आभास में, है, क्योंकि पुण्य पाप और पुण्य पाप के फल सुख दुःख, का भोग, और लोकों में गमनागमन, आदि सब क्रिया आभास सहित बुद्धि करती है। कूटस्थ चेतन में इनका योग=सम्बन्ध नहीं है। किन्तु असंग कूटस्थ में भ्रान्ति से इनकी प्रतीति होती है। सो भ्रान्ति से प्रतीति भी बुद्धि सहित आभास को होती है, कूटस्थ को नहीं, क्योंकि कूट=लोह समूह रूप अहरन के समान निर्विकार रूप से स्थिर को

कूटस्थ कहते हैं। अथवा कूट=मिथ्या बुद्धि आदि में असंग रूप से वर्तमान को कूटस्थ कहते हैं। अतः कूटस्थ में भ्रान्ति आदि का सम्भव नहीं है, किन्तु चिदाभास में सम्भव है। और पूर्ण विचार करने पर चिदाभास में भी पुण्यपापादि का सम्भव नहीं सिद्ध होता है, किन्तु चिदाभास से दीप्त केवल बुद्धि में पुण्यादि प्रतीत होते हैं। और बुद्धि के संयोग से आभास में भासते हैं। इसीसे सांख्य में बुद्धि को ही कर्मादि का हेतु कर्ता कहा गया है। अर्थात् जल सहित घट में गमनादि क्रिया के होने पर आभास में सब क्रिया होती हैं, स्वतन्त्र कोई क्रिया आभास में नहीं होती है और घटाकाश में तो मिथ्या ही क्रिया भासती है, तैसेही काम कर्मरूप जल से पूर्ण बुद्धि रूप घट पुण्यादि रूप विकार वाला होता है। और उसके सम्बन्ध से चिदाभास विकार वाला होता है। कूटस्थ सर्वथा निर्विकार रहता है। अतः घटाकाश के समान निर्विकार कूटस्थ को समझो। और यद्यपि जीवत्व निमित्तक धर्म सब चिदाभास बुद्धि में रहते हैं, तथापि अज्ञान से कूटस्थ में प्रतीत होते हैं, अतः बुद्धि में वर्तमान कूटस्थ सहित चिदाभास जीव कहा जाता है ॥ ५०-५१ ॥

यह जो जीव के स्वरूप का वर्णन किया गया है, उसमें प्राज्ञ के अभाव की प्राप्ति होती है, क्योंकि सुषुप्ति के अभिमानी जीव का प्राज्ञ नाम है, और सुषुप्ति में बुद्धि का अभाव रहता है, अतः बुद्धि में अभास भी नहीं रहता है, और प्राज्ञ के अभाव होने पर उसके प्रतिपादक शास्त्र से विरोध होगा, तहाँ कारण रूप से बुद्धि की वर्तमानता की दृष्टि से विरोध के वारण के लिए, जीव के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं कि—

**अथवा व्यष्टि अज्ञान में, जो चेतन आभास।**
**अधिष्ठान कूटस्थ युत, कहै जीव पद तास ॥५२॥**

अज्ञान के अंश को व्यष्टि अज्ञान कहते हैं। सम्पूर्ण अज्ञान को समष्टि अज्ञान कहते हैं। तिस अज्ञान के अंश में चेतन का आभास,

और अज्ञान के अंश का अधिष्ठान कूटस्थ चेतन इन दोनों को जीव पद से कहा जाता है, अतः प्राज्ञ का अभाव नहीं होता है, क्योंकि सुषुप्ति में भी अज्ञान रहता है । और सुषुप्ति में जो चेतन के प्रतिबिम्ब सहित अज्ञान का अंश रहता है, सोई जाग्रत में बुद्धि रूपता को प्राप्त होता है, तहाँ चेतन का प्रतिबिम्ब साथ रहता है, और उस आभास सहित बुद्धि में पुण्यादि रूप संसार प्रतीत होता है । इस आशय से बुद्धि ही को कहीं शास्त्र में जीवत्व की उपाधि कही गई है, विचार दृष्टि से मलिन सत्त्व वासनादि सहित अज्ञान जीवत्व की उपाधि है ॥५२॥

## ( ईश्वर )

**चित छाया माया विषे, अधिष्ठान संयुक्त ।**
**मेघ व्योम सम ईश सो, अन्तरयामी मुक्त ॥५३॥**

माया में चित=चेतन की छाया=आभास, और माया का अधिष्ठान रूप चेतन तथा माया इन तीनों के समूह को ईश्वर कहते हैं । सो ईश्वर मेघाकाश के समान है । और सब के अन्तर में प्रेरक होने के कारण ईश्वर अन्तर्यामी है । और अपने स्वरूप में आवरण के अभाव से जन्ममरणादि रूप बन्ध की प्रतीति से रहित होने के कारण ईश्वर नित्य मुक्त है । और माया में शुद्ध सत्त्वगुण की सत्ता से ईश्वर सर्वज्ञ है । रजोगुण और तमोगुण से प्रबल उन दोनों को दबाने वाला सत्त्व गुण को शुद्ध सत्त्वगुण कहते हैं । प्रकाश स्वभाव वाले सत्त्वगुण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उस सत्त्वगुण वाली माया में चेतन के आभासादि रूप ईश्वर में स्वरूप विषयक या अन्यपदार्थ विषयक आवरण के सम्भव नहीं होने से वह मुक्त और सर्वज्ञ है । अधिष्ठान चेतन मात्र तो जीव और ईश्वर दोनों में बन्ध मोक्षादि भेद से रहित है । आकाश के समान एक रस है, परन्तु आभास अंश में बन्ध और मोक्ष है । अधिष्ठान में भ्रम से आभास को मिथ्या प्रतीत होता है । अतः

केवल आभास में बन्ध और मोक्ष है। जिसमें आवरण है, उसमें बन्ध है, जिसमें आवरण का अभाव है, वह मुक्त है। ईश्वर में सदा आवरण का अभाव है, अतः ईश्वर सदा मुक्त है। मलिन सत्त्व वाली अविद्या में आवरण करणे का स्वभाव है, उससे जीव में बन्ध होता है। यद्यपि अविद्या, अज्ञान और माया एक ही वस्तु को कहते हैं, तथापि शुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता से माया कहते हैं, और मलिन सत्त्व की प्रधानता से अज्ञान और अविद्या कहते हैं। रजोगुण और तमोगुण से दबा हुआ सत्त्वगुण को मलिन सत्त्वगुण कहते हैं। अतः अधिक रजोगुण तमोगुण से जीव में आवरण रहता है। जिससे बन्धन होता है, ईश्वर में नहीं। अधिष्ठान चेतन सहित माया में आभास ईश्वर है, सो तत्पद का वाच्य है, और केवल अधिष्ठान चेतन तत्पद का लक्ष्य है। जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार ईश्वर करता है, यह सब शास्त्र का कथन है, तहाँ चेतन अंश तो आकाश तुल्य असंग है, आभास अंश उत्पत्ति आदि कर्ता है। सोई सर्वज्ञ और भक्तों पर अनुग्रह कर्ता है, तथा ऐश्वर्य वाला है। और चेतनांश एक रस हैं, सत्ता स्फूर्ति प्रदान से अतिरिक्त ऐश्वर्य का उसमें सम्भव नहीं है ॥५३॥

( ब्रह्म )

**अन्तर बाहर एक रस, जो चेतन भर पूर।**
**विभु नभसम सो ब्रह्म है, नहिं नेरे नहिं दूर ॥५४॥**

ब्रह्माण्ड के अन्तर=भीतर और बाहर महाकाश तुल्य एक रस भरपूर जो चेतन उसको ब्रह्म कहते हैं, सो ब्रह्म नेरे=पास में नहीं है, न दूर है, क्योंकि अपने से भिन्न वस्तु देश रूप उपाधि वाला होकर दूर समीप कहा जाता है, और ब्रह्म भिन्न नहीं है, देशादि उपाधियों से रहित सर्वात्मा है, अतः दूर समीप नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि ब्रह्म शब्द का वाच्य भी सोपाधिक है, क्योंकि व्यापक वस्तु का नाम

ब्रह्म है, और व्यापकता दो प्रकार की होती है। एक सापेक्ष व्यापकता, और दूसरी निरपेक्ष व्यापकता कहीं जाती है। जो वस्तु किसी पदार्थ की अपेक्षा से व्यापक हो, और किसी की अपेक्षा से न हो, उसमें सापेक्ष व्यापकता रहती है। जैसे पृथिवी आदि की अपेक्षा से माया व्यापक है, चेतन की अपेक्षा से नहीं, अतः माया में सापेक्ष व्यापकता है, और सर्व की अपेक्षा से व्यापक चेतन में निरपेक्ष व्यापकता है। क्योंकि चेतन के समान या उससे अधिक व्यापक कोई नहीं है। अतः चेतन निरपेक्ष व्यापक हैं। इस दोनों प्रकार की व्यापकता सहित माया विशिष्ट चेतन ब्रह्म शब्द का वाच्यार्थ हैं। विशिष्ट के माया अंश में आपेक्षिक व्यापकता है, चेतनांश में निरपेक्ष व्यापकता है। क्योंकि माया चेतन के एक देश में हैं। अतः माया विशिष्ट से शुद्ध की व्यापकता अधिक है और विशिष्ट ब्रह्म शब्द का वाच्यार्थ है. उसमें निरपेक्ष व्यापकता का सम्भव नहीं हैं, तथापि माया विशिष्ट चेतन भी परमार्थ रूप में शुद्ध से भिन्न नहीं है, अतः शुद्ध दृष्टि से वह निरपेक्ष व्यापक है, और ब्रह्म शब्द का वाच्य है। परन्तु इस प्रकार यद्यपि ईश्वर और ब्रह्म शब्द के अर्थ एक ही प्रतीत होता है, तथापि ब्रह्म शब्द का स्वभाव है कि वह बहुत स्थान में लक्ष्यार्थ का बोधक होता है। किसी विरल स्थान में वाच्यार्थ का बोधक होता है। और ईश्वर शब्द का स्वभाव है कि बहुत स्थान में वाच्चार्थ का ही बोधक होता है, इतने भेद के कारण लक्ष्यार्थ की दृष्टि से ब्रह्म शब्द के अर्थ को भिन्न निरूपण किया गया है ॥५४॥

**चतुर्भांति चेतन कह्यो, तामें मिथ्या जीव।**
**पुण्य पाप फल भोग वै, चित्त कूटस्थ सु शीव ॥५५॥**

हे शिष्यः चार प्रकार का चेतन कहा, तामें-उनमें जीव मिथ्या है, अर्थात् जीव के स्वरूप में आभास अंश मिथ्या=-व्यावहारिक

स्वरूप है। सो पुण्य पाप करता है, और उनके फलों को भोगता है। कूटस्थ चेतन जो है, सो शिव कल्याण स्वरूप है। अतः तुमने जो प्रथम शंका की थी कि बुद्धि रूप वृक्ष में दो पक्षी हैं, एक परमातमा है, और एक जीव है। उसका यह उत्तर कहा कि परमात्मा और जीव को दो पक्षीरूप नहीं समझना, किन्तु कूटस्थ प्रकाश मान है। और आभास भोगता है ॥५५॥

**कर्मी छाया देत फल, नहिं चेतन में योग।**
**सो असंग इक रूप है, जानै भिन्न कुलोग ॥५६॥**

जीव के स्वरूप में जो छाया=चिदाभास अंश है। सो कर्मी=कर्म कर्ता है। और उसको छाया=ईश्वर का आभास अंश ही फल देता है। इस प्रकार छाया शब्द का देहली दीपक न्याय से दोनों तरफ सम्बन्ध है कि "छाया कर्मी, और छाया देत फल" इससे यह सिद्ध हुवा कि जीव के स्वरूप गत आभास[1] पुण्य पाप करता है। और उनके फलों को भोगता है। ईश्वर को आभास अंश कर्म फल देता है। दोनों के चेतन अंश में किसी भी व्यवहार का योग=सम्बन्ध नहीं है। उस चेतन में जो कर्मादि फलदानादि व्यवहार को कहते हैं, सो कुलोग=अज्ञ हैं। क्योंकि जीव और ईश्वर दोनों में चेतन असंग एक स्वरूप है। इस कथन से एकता के प्रतिपादन करने पर जो कर्म और उपासना के प्रतिपादक वेद की निष्फलता कहा था, उसका भी उत्तर कहा गया कि जीवेश्वर में चेतन भाग को अभेद है, और आभास में भेद है, अतः दोनों प्रकारक के वचन सफल हैं ॥५६॥

---

१ आभायुक्त अन्तः करण ( बुद्धि अहंकार ) ॥

॥ चौपाई ॥

अहो शिष्य तैं प्रश्न जु कीने ।
तिन के ये उत्तर मैं दीने ॥
कहे जु तैं तरु में द्वै पत्ती ।
इक भोगै इक आहि अनिच्छी ॥३१॥
ते चेतन आभास लखाये ।
नभ छाया ज्यूं भिन्न बताये ॥
कह्यो भिन्न कर्मी फल दाता ।
मति माया छाया सो ताता ॥३२॥
जीव ईश में चेतन रूपं ।
भेदगन्ध ते रहित अनूपं ॥
याते अहं ब्रह्म यह जानौ ।
अहं शब्द कूटस्थ पिछानौ ॥३३॥
ब्रह्म शब्द को अर्थ सु भाख्यो ।
महाकाश सम लक्ष्य जु राख्यो ॥
अहं ब्रह्म नहीं जौंलो जानै ।
तौंलो दीन दुखित भय मानै ॥३४॥

हे शिष्य ! जो तुमने प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दिया, तेरा प्रश्न था कि एक बुद्धि वृक्ष पर दो पत्ती रहते हैं । उनमें एक फल भोगता है, और दूसरा फल इच्छा भोग से रहित है, अतः जीव ब्रह्म की एकता नहीं बन सकती । इसका उत्तर मैंने कहा कि इस स्थान में जीव ईश्वर का ग्रहण नहीं करना, किन्तु कूटस्थ और बुद्धिगत आभास का ग्रहण करना, सो आपस में घटाकाश और घटाकाश की छाया के समान भिन्न हैं । और जो दूसरा प्रश्न

किया था कि जीव कर्म उपासना करने वाला है, और परमात्मा फल देने वाला है, उन दोनों की एकता नहीं हो सकती, इसका भी उत्तर कहा गया है कि कर्म करनेवाला जीव नहीं है, और फल देने वाला ईश्वर नहीं है, अर्थात् जीवेश्वर के पारमार्थिक स्वरूप में कर्म कर्तृत्व फल दातृत्व नहीं है, किन्तु जीव में आभास अंश कर्म कर्ता है। और ईश्वर में आभास अंश फल दाता है। अर्थात् जीवेश्वर के व्यावहारिक स्वरूप में कर्मकर्तृत्व और फलदातृत्व है। और ईश्वर तथा जीव में जो चेतन अंश है, सो महा आकाश और घटाकाश के समान भेद के गन्ध=लेश से भी रहित है, इस प्रकार जीव ब्रह्म की एकता बनती है। अतः अहं ( मैं ) ब्रह्म हूँ, इस प्रकार जानो, और अहं शब्द का अर्थ कूटस्थ समझो, और महाकाश के समान ब्रह्म शब्द के लक्ष्यार्थ को समझो। अहं शब्द और ब्रह्म शब्द के वाच्यार्थों का अभेद नहीं है, परन्तु लक्ष्यार्थ का अभेद है। और हे शिष्य ! जबतक तुम (अहं ब्रह्मास्मि,) इस प्रकार नहीं जानोगे, तब तक तुम अपने को दीन=दरिद्र और दुःखी मानोगे, और जो अपने से न्यारा=भिन्न ईश को=माना है, सोई तेरे भय का हेतु है, और होगा। अतः ( अहं ब्रह्मास्मि, ) ऐसा जान ॥३१-३४॥

**कहो गुरु ह्वै कौन को, अहं ब्रह्म यह ज्ञान।**
**नहिं जानूं मैं आप के, भाखे बिना सुजान ॥५७॥**

हे गुरो ! आप कृपा करके कहो कि ( अहं ब्रह्मास्मि ) यह ज्ञान किसको होता है, हे सुजान ( सुन्दर ज्ञानी ) आपके कहे बिना मैं इस अर्थ को नहीं समझता हूँ। शिष्य के हृदय में गूढ़ तात्पर्य है कि, मैं ब्रह्म हूँ, यह ज्ञान कूटस्थ को होता है, अथवा चिदाभास सहित बुद्धि को होता है, यदि कूटस्थ को यह ज्ञान होगा, तो कूटस्थ विकारी होगा, और आभास सहित बुद्धि को होगा, तो वह ज्ञान भ्रम रूप होगा, क्योंकि

प्रथम आपने कहा है कि कूटस्थ और ब्रह्म की एकता है, और आभास भिन्न है। अतः ब्रह्म से भिन्न आभास को ब्रह्म रूपता का ज्ञान भ्रम ही होगा, रज्जु में सर्प ज्ञान के समान यह ज्ञान यथार्थ नहीं होगा, और अहं ब्रह्मास्मि, इसको भ्रमरूप स्वीकार करने पर इस ज्ञान से मिथ्या जगत की निवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि यथार्थ ज्ञान से मिथ्या की निवृत्ति होती है, जैसे कि रज्जु के यथार्थ ज्ञान से मिथ्या सर्प की निवृत्ति होती है। अतः आभास सहित बुद्धि को यह ज्ञान मोक्षप्रद नहीं हो सकता है ॥५७॥

**श्री गुरुरुवाच ॥ सोरठा ॥ ( आभास की अवस्था )**

**कहूँ अवस्था सात, सुनु सिष अब आभास की।**
**नहिं चेतन की तात, तिन ही में यह ज्ञान ह्वै ॥ ५ ॥**

हे शिष्य ! आभास की सात अवस्थाओं को मैं अब कहता हूं। तू सुन, इन अवस्थाओं में कोई अवस्था कूटस्थ चेतन की नहीं है, और इन अवस्थाओं में ही ज्ञान है ॥५॥

**॥ चौपाई ॥**

**इक अज्ञान आवरण सु जानो।**
**भ्रान्ति, द्विविध पुनि ज्ञान पिछानो ॥**
**शोक नाश अति हर्ष अपारा।**
**सप्त अवस्था इमि निर्धारा ॥३५॥**

एक अज्ञान १ आवरण २ भ्रान्ति ३ परोक्ष ज्ञान ४ और अपरोक्ष ज्ञान ५ शोक का नाश ६ और अपार हर्ष, इस प्रकार आभास की सात अवस्था निश्चित है ॥३५॥

**( अज्ञान तत्कृतावरण ) ॥ दोहा ॥**

**नहिं जानूं मैं ब्रह्म को, याको कहत अज्ञान।**
**ब्रह्म है न, नहिं भान ह्वै, यह आवरण सुजान ॥५८॥**

हे शिष्य ! मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूं। इस व्यवहार = कथन का हेतु अज्ञान है। और ब्रह्म नहीं है, न उसका भान=प्रकाश= ज्ञान होता है, इस व्यवहार का हेतु आवरण है। आवरण से ऐसा व्यवहार होता है, क्योंकि अज्ञान की दो प्रकार की शक्ति है। एक असत्त्वापादक ( असत्व का साधक ) शक्ति है। और एक अभानापादक शक्ति है उन दोनों को आवरण कहते हैं। वस्तु नहीं है, ऐसी प्रतीति कराने वाली शक्ति को असत्त्वापादक कहते हैं। और वस्तु का भान नहीं होता है, ऐसी प्रतीति कराने वाली शक्ति को अभानापादक कहते हैं। इस रीति से ब्रह्म नहीं है, इस व्यवहार का हेतु अज्ञान की शक्ति असत्त्वापादक है। और ब्रह्म का भान नहीं होता है, इस व्यवहार= कथन का हेतु अज्ञान की शक्ति अभानाऽऽपादक है। और इन दोनों का आवरण नाम है ॥५८॥

( भ्रान्ति )

जन्म मरण गमनागमन, पुण्य पाप सुख खेद।
निज स्वरूप में भान ह्वै, भ्रान्ति बखानी वेद ॥५९॥

जन्म जरामरणादि, और लोकान्तर में गमनागमनादि, तथा पुण्यपाप सुख दुःखादि रूप संसार की जो निज स्वरूप कूटस्थात्मा में प्रतीति होती है, उसी प्रतीति को वेद भ्रान्ति कहता है, इसे अध्यास तथा शोक भी कहते हैं ॥५९॥

( द्विविध ज्ञान )

द्वैविध ज्ञान बखानिये, इक परोक्ष अपरोक्ष।
अस्ति ब्रह्म परोक्ष हैं, अह ब्रह्म अपरोक्ष ॥ ६० ॥
नहीं ब्रह्म या अंश को, करै परोक्ष विनाश।
सकल अविद्या जाल को, दूजो नाश प्रकाश ॥ ६१ ॥

ब्रह्म नहीं है, इस व्यवहार के हेतु आवरण अंश को ब्रह्म है, ऐसा परोक्ष ज्ञान नष्ट करता है, क्योंकि सत्य ज्ञान आनन्द स्वरूप ब्रह्म है। इस ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं। सो परोक्ष ज्ञान ब्रह्म नहीं है, ऐसी प्रतीति का विरोधी है। मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा अपरोक्ष ज्ञान सब अविद्या जाल=विस्तार का विरोधी है। अतः मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ। इस प्रतीति के विषय अज्ञान को, ब्रह्म नहीं है, तथा ब्रह्म का भान नहीं होता है, इन प्रतीतियों के विषय द्विविध आवरण को, और मैं ब्रह्म नहीं हूँ किन्तु पुण्य पाप का कर्ता और सुख दुःख का भोक्ता हूँ, इत्यादि भ्रान्ति रूप सब अविद्या जाल को अपरोक्ष ज्ञान नष्ट करता है। यही ब्रह्म है, और मैं ब्रह्म हूँ। ये दो प्रकार के परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान कहे जाते हैं ॥ ६०-६१ ॥

( शोकनाश )

**जन्म मरण मो में नहीं, नहिं सुख दुख को लेश।**
**किन्तु अजन्य कूटस्थ मैं, भ्रान्ति नाश पद वेष ॥ ६२ ॥**

मेरे स्वरूप में जन्म मरण, तथा सुख दुख का लेश भी नहीं है। न अन्य कोई संसार के धर्म मेरे स्वरूप में है। क्योंकि अजन्य=जन्म रहित कूटस्थ मैं हूँ। और ऐसा निश्चय ही भ्रान्ति शोक नाश कावेष ( आकार स्वरूप ) तथा यह वेष उत्तम भ्रान्तिनाश है। इस स्थान में जन्म के निषेध से षड्विध भाव विकारादि सब अनर्थों का निषेध समझना चाहिये। क्योंकि जन्म की प्रतीति के बाद सब अनर्थ की प्रतीति होती है। अतः जन्म के निषेध से सब अनर्थ का निषेध सिद्ध होता है। इस भ्रान्ति नाश को शोकनाश भी कहते हैं ॥ ६२ ॥

( हर्ष )

**संशय रहित स्वरूप को, होइ जु अद्वय ज्ञान।**
**तब उपजै हिय मोद तब, सो तू हर्ष पिछान ॥ ६३ ॥**

हे शिष्य जब तुमको संशय रहित स्वरूप का ज्ञान होगा कि मैं अद्वय ब्रह्म स्वरूप हूँ। तब तुमको मोद=आनन्द उत्पन्न होगा, उसको तुम हर्ष समझो ॥ ६३ ॥

**कही अवस्था सात मैं, तोकूं शिष्य सुजान।**
**सो सगरी आभास की, है इन ही में ज्ञान ॥६४॥**
**ज्ञान होत है कौन को, यह पूछी तैं बात।**
**मैं ताको उत्तर कह्यो, चहै सु पूछ व तात ॥६५॥**

हे सुजान शिष्य ! मैंने तुझे सात अवस्था कही, सो सगरी= सब आभास की है, और इन सात के अन्तर्गत ज्ञान भी है ॥६४॥ अतः तुमने पूछा था कि ज्ञान किसको होता है, इस बात=प्रश्न का उत्तर मैंने दिया कि आभास को ज्ञान होता है। अब जो तुम पूछना चाहते हो सो पूछो ॥ ६५ ॥

जिस गूढ़ाशय से शिष्य ने प्रश्न किया था, उस आशय=तात्पर्य को प्रकट करता है कि—

**भगवन् है आभास को, अहं ब्रह्म यह ज्ञान।**
**तुम भाख्यो सो मैं लख्यो, पुनि शंका इक आन ॥६६॥**

हे भगवान् आभास को, अहं ब्रह्म, यह ज्ञान होता है, यह बात आपने कही, सो मैंने समझी, परन्तु इसमें मुझे और एक शंका होती है, सो मैं कहता हूँ कि ॥६६॥

॥ चौपाई ॥

**है आभास ब्रह्म ते न्यारा। अस तुम पूर्व कियो निर्धारा ॥**
**अहं ब्रह्म सो कैसे जानै। आपहि भिन्न ब्रह्म ते मानै ॥३६॥**
**जो जानै तो मिथ्या ज्ञाना। होइ जेवरी भुजग समाना ॥**
**श्री गुरु यह संदेह मिटाऊ। युक्ति सहित निज उक्ति सुनाऊँ॥३७॥**

हे गुरो ! प्रथम आपने निर्धार=निश्चय कराय दिया है कि, कूटस्थ और ब्रह्म दोनों एक हैं, और आभास ब्रह्म से न्यारा है, उस भिन्न आभास को, मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा ज्ञान होना उचित नहीं है, ब्रह्म से भिन्न अपने को वह ब्रह्म कैसे मान सकता है। हाँ मेरा अधिष्ठान कूटस्थ ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान आभास को हो तो यथार्थ हो सकता है। और यदि ब्रह्म से भिन्न अपने को ब्रह्म जानेगा, तो वह ज्ञान रस्सी में सर्प ज्ञान के समान मिथ्या ज्ञान होगा, और ब्रह्म ज्ञान को मिथ्या ज्ञान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान मोक्ष का हेतु है, और मिथ्या ज्ञान से बन्ध होता है, मोक्ष नहीं, यह अति प्रसिद्ध है। भाव है कि, अहं अपने को कहते हैं, और आभास का अपना स्वरूप मिथ्या है, सो मिथ्या आभास सत्य ब्रह्म स्वरूप हो नहीं सकता है, अतः आभास को अहं ब्रह्म यह ज्ञान भ्रम स्वरूप होगा, और ब्रह्म ज्ञान को भ्रम स्वरूप कहा नहीं जा सकता, इत्यादि संशय को नष्ट करने के लिए, हे गुरुदेव ! अपनी सयुक्ति बचन सुनावो ॥३६॥३७॥

॥ दोहा ॥

अहं शब्द के अर्थ को, सुन अब शिष्य विवेक।
तव हिय के जासूं नसै, शंक कलंक अनेक ॥६७॥

ह्वै यद्यपि आभास में, अहं ब्रह्म यह ज्ञान।
तथापि सो कूटस्थ को, लहै आप अभिमान ॥६८॥

ताको सदा अभेद है, विभु चेतन तैं तात।
बाध समय निज रूप हूँ, ब्रह्म रूप दरसात ॥६९॥

हे शिष्य ! अब तूं अहं (मैं) शब्द के अर्थ के विवेक=भेद को सुनो, कि जिससे तेरे हृदय के अनेक शंका रूप कलंक=दोष नष्ट हो जायँ ॥ ६७ ॥ यद्यपि "अहं ब्रह्म" यह ज्ञान बुद्धि सहित आभास को होता है,

तथापि वह आभास कूटस्थ का आप अभिमान करता है, अर्थात् अपने को कूटस्थ से अभिन्न समझता है, और अपने को कूटस्थ दृष्टि से ब्रह्म समझता है। और इस अहं शब्दार्थ रूप से भासित जो कूटस्थ और आभास दोनों में से कूटस्थ को तो ब्रह्म के साथ सदा अभेद है ही। परन्तु ज्ञान से बाध काल में आभास का मिथ्या निज स्वरूप भी ब्रह्म स्वरूप ही दीखता है ॥

भाव है कि जैसे घटाकाश और महाकाश को सदा अभेद होता है, तैसे ही कूटस्थ का ब्रह्म के साथ मुख्य सामानाधिकरण्य, वेदान्त शास्त्र में कहा गया है, जिस वस्तु का जिस वस्तु के साथ सदा अभेद हो, उस वस्तु का उस वस्तु के साथ मुख्य सामाधिकरण्य, कहा जाता है, जैसे घटाकाश का महाकाश के साथ सदा अभेद है, अतः घटाकाश महाकाश स्वरूप है। और घटाकाश को महाकाश के साथ मुख्य सामानाधिरण्य रूप सम्बन्ध है। एक विभक्ति वाले दो पद से जहाँ एक अर्थ को बोध कराया जाय, वहाँ सामानाधिकरण्य सम्बन्ध माना जाता है। उसमें भी मुख्यादि भेद होते हैं। घटाकाश महाकाश के समान कूटस्थ और ब्रह्म का मुख्य सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। क्योंकि कूटस्थ का ब्रह्म के साथ सदा अभेद है। अतः अहं (मैं) शब्द से भासित कूटस्थ का ब्रह्म के साथ सदा अभेद है। और आभास का अपने स्वरूप के बाध=निवृत्ति के द्वारा ब्रह्म के साथ अभेद होता है, जैसे कि मुख के प्रतिबिम्ब का स्वरूप के बाध से विम्ब मुख के साथ अभेद होता है। इसीसे वेदान्त में आभास का ( ब्रह्म के साथ ) (बाध सामानाधिकरण्य) कहा है। जिस वस्तु के बाध होने पर जिसके साथ अभेद होता है, उसका उसके साथ बाध सामाधिकरण्य, सम्बन्ध कहा जाता है। जैसे कि प्रतिविम्ब के बाध होने पर, प्रतिबिम्ब मुख ही रहता है, अतः प्रतिबिम्ब का मुख के साथ बाध सामानाधिकरण्य है, अथवा स्थाणु=ठूठ में पुरुष के भ्रम होने के बाद स्थाणु के ज्ञान होने पर पुरुष

स्थाणु है, इस प्रकार पुरुष का स्थाणु के साथ बाध सामानाधिकरण्य, सम्बन्ध होता है । तैसे ही आभास का बाध होने पर ब्रह्म के साथ अभेद होता है ! अतः अहं (मैं) शब्द से भासित आभास भी ब्रह्म हैं भिन्न नहीं, इस प्रकार कूटस्थ को मुख्य सामानाधिकरण्य और आभास को ब्रह्म के साथ बाध सामानाधिकरण्य होने से (अहं ब्रह्मास्मि ) यह ज्ञान यथार्थ होता है, और इससे अज्ञानादि की निवृत्ति पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होती है ।। सिंहो माणवक, इत्यादि गौण सामानाधिकरण्य कहा जाता है । इसका उदाहरण अद्वैत वेदान्त में नहीं माना जाता है । इत्यादि ।। ६७ । ६९ ।।

### ।। शिष्य का प्रश्न ।।

**अहं वृत्ति में भान ह्वै, साक्षी अरु आभास ।**
**सो क्रम ते वा क्रम विना, याको करहु प्रकाश ।।७०।।**

हे भगवन् ! आप ने कहा कि, अहं वृत्ति में साक्षी और आभास दोनों का भान होता है । तहाँ मैं यह नहीं समझता हूँ कि कूटस्थ और आभास का अहं वृत्ति में भान=प्रकाश क्रम से भिन्न२ काल में होता है । अथवा क्रम के बिना एक काल में दोनों का भान होता है । इस अर्थ का मेरे प्रति प्रकाश बोध करावो ।।७०।।

### ।। श्री गुरुरुवाच ।।

**सावधान ह्वै शिष्य सुन, भाखूं उत्तर सार ।**
**सुनत नशै अज्ञान तम, बोध भानु उजियार ।।७१।।**

हे शिष्य ! मैं तेरे प्रश्न का सार स्वरूप उत्तर कहता हूँ, तूं सावधान होकर सुन, क्योंकि इस उत्तर के सुनते ही बोध रूप भानु का उजियार=प्रकाश होकर अज्ञान रूप तम को नष्ट करेगा ।।७१।।

**एक समय ही भान ह्वै, साक्षी अरु आभास।**
**दूजो चेतन को विषय, साक्षी स्वयं प्रकाश।।७२।।**

हे शिष्य ! साक्षी और आभास का अहंवृत्ति में एक काल में ही क्रम के बिना भान होता है। और इस सब प्रकरण में, आभास, शब्द से अन्तःकरण सहित आभास का ग्रहण करना। अतः दूजो=अन्तः करण सहित आभास तो चेतन=कूटस्थ=साक्षी का विषय होकर प्रकाशता है। और साक्षी स्वयं=प्रकाशान्तर की अपेक्षा के विना प्रकाशता है॥ अतः आभास सहित अन्तःकरण की वृत्ति का विषय= उससे प्रकाशित साक्षी नहीं होता है।

भाव है कि बाहर घटादि के ज्ञान काल में, इन्द्रिय द्वारा अन्तः करण की वृत्ति निकल कर घटादि देश में जाती है, और घटादि के समान आकार को प्राप्त होती है, और सो आभास सहित अन्तः करण का परिणाम होने के कारण आभास सहित होती है, अन्तः करण के परिणाम को वृत्ति कहते हैं, और सत्त्व गुण के कार्य होने के कारण अन्तः करण तथा उसकी वृत्ति में स्वच्छता रहती है, अतः उन दोनों में चेतन का आभास अवश्य होता है। आभास सहित अन्तः करण से आभास सहित ही वृत्ति उत्पन्न होती है। और वृत्ति का विषय जो घट है, सो तमोगुण का कार्य है, अतः उसमें अज्ञान कृत आवरण के रहने से वृत्ति द्वारा आवरण की निवृत्ति होने पर वृत्ति निष्ठ चिदाभास से घट का प्रकाश होता है, और साक्षी के स्वयं प्रकाश होने के कारण अहंवृत्ति गत आभास से साक्षी का प्रकाश नहीं होता है॥

यहाँ शंका होती है कि अज्ञान और अज्ञान कृत आवरण चेतन में होता है, घटादि में नहीं, क्योंकि अज्ञान चेतन के आश्रित रहता है, और चेतन को ही विषय करता है। यह वेदान्त का सिद्धान्त है।

और सात अवस्था के प्रसङ्ग में जो अज्ञान का आश्रय रूप आभास सहित अन्तः करण को कहा गया है सो अभिमान की दृष्टि से कहा गया है, क्योंकि, मैं अज्ञानी हूँ, ऐसा अभिमान अन्तः करण सहित आभास को होता है। अतः उसे अज्ञान का आश्रय कहा जाता है, मुख्य आश्रय चेतन है, आभास सहित अन्तः करण नहीं। क्योंकि आभास सहित अन्तः करण अज्ञान का कार्य है। जो जिस का कार्य होता है, सो उसका आश्रय नहीं हो सकता है। अतः चेतन ही अज्ञान का अधिष्ठान रूप आश्रय है। और चेतन ही के स्वरूप का आवरण रूप विषय अज्ञान करता है, क्योंकि स्वरूप से आवृत्त जड़ वस्तु में अज्ञान कृत आवरण का कोई फल नहीं हो सकता है, अतः अज्ञान का आश्रय और विषय चेतन है। जैसे गृह का मध्य अन्धकार का आश्रय और विषय होता है। और जड़ घट में अज्ञान और अज्ञान कृत आवरण का सम्भव नहीं है ॥

इस शंका का समाधान है कि जैसे चेतन स्वरूप से भिन्न अनिर्वाच्य अज्ञान चेतन के आश्रित रहता है, और उससे चेतन आवृत होता हैं, तैसे घट के स्वरूप से भिन्न अज्ञान यद्यपि घट के आश्रित नहीं है। तथापि अज्ञान से घटादिक प्रकाशरहित जड़ आवृत्त स्वरूप ही रचे गए हैं। अतः सदा अन्ध के समान आवृत्त रहते हैं। क्योंकि तमोगुण प्रधान अज्ञान से भूतों की उत्पत्ति द्वारा घटादि उत्पन्न होते हैं। और वह तमोगुण आवरण स्वभाव वाला होता है, अतः घटादिक प्रकाश रहित अन्ध होते हैं, और उनमें अन्धता रूप स्वभाव आवरण कृत होता है, क्योंकि घटादि के अधिष्ठान चेतन आश्रित अज्ञान चेतन को आवृत करता हुवा, स्वभाव से आवृत घटादि को भी आवृत करता है। यद्यपि स्वभाव से आवृत के आवरण का कोई फल नहीं होता है, तथापि आवरण कारक पदार्थ प्रयोजन=

फल की अपेक्षा विना ही, निरावृत के समान आवृत का भी आवरण करता है, सो लोक में प्रसिद्ध है ॥

उस अज्ञान से आवृत्त को व्याप्त करनेवाली आभास सहित अन्तःकरण की घटाकार वृत्ति का वृत्ति भाग तो घट के आवरण को नष्ट करता है, और आभास भाग घट का प्रकाश करता है। इस प्रकार बाहर के विषय में वृत्ति और आभास दोनों का फल होता है ॥

दृष्टान्त=जैसे अन्धकार में कुण्डे से ढका हुवा मृतिका या लोहे का पात्र धरा हो, तहाँ दण्ड से कुण्डे को फोड देने पर भी दीप के विना उस निरावरण पात्र का प्रकाश नहीं होता है, तैसे ही अज्ञान से आवृत्त घट के आवरण के वृत्ति द्वारा नष्ट होने पर भी आभास के बिना घट का प्रकाश नहीं होता है। क्योंकि घट और वृत्ति दोनों जड़ है, वृत्ति के आवरण का नाश मात्र प्रयोजन है। अतः घट का प्रकाशक आभास है। नेत्र के विषय वस्तुओं का प्रकाश की रीति यह कही गई है। श्रवणादि के विषय शब्दादि के प्रकाश की रीति इसी प्रकार समझना चाहिये ( परन्तु कही वृत्ति गमन करती है, कहीं नहीं करती है, सो योग्यता के अनुसार समझना चाहिये ) और वृत्ति तथा योग्य विषय जहाँ एक देश में स्थिर होते हैं। तहाँ विषय का प्रत्यक्ष होता है। और जहाँ भीतर ही शब्दादि से विषयाकार वृत्ति हो, परन्तु वृत्ति का विषय के साथ सम्बन्ध नहीं हो, वहाँ परोक्ष ज्ञान कहा जाता है। यद्यपि स्मृति ज्ञान भी परोक्ष ज्ञान होता है, तथापि यह भेद है कि स्मृति ज्ञान संस्कार जन्य होता है और अनुमिति आदि परोक्ष ज्ञान प्रमाण जन्य होते हैं ॥ ( अतः प्रमाण के प्रसङ्ग से प्रमाणों का निरूपण किया जाता है ) देहात्मवादी चार्वाक एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण को मानता है ॥

कणाद = वैशेषिक दर्शनकार ग्रार सुगत=बुद्ध् मतों के अनुयायी दूसरे अनुमान प्रमाण को भी मानते हैं। क्योंकि एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण

को मानने पर भोजनार्थी कों भोजन में तृप्ति जनकता का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि अभुक्त भोजन में प्रत्यक्ष प्रमाण से तृप्तिजनकता को नहीं समझा है। अतः भुक्त भोजन में अनुभूत तृप्ति जनकता रूप अनुमान से अभुक्त में तृप्ति जनकता के ज्ञान होने के कारण अनुमान प्रमाण भी मानना चाहिये। यह कणाद सुगत अनुयायियों का मत है॥

और कपिल मुनि सांख्यकर्ता, तथा स्मृति कर्ता मनु आदि के अनुसार तीसरा शब्द, प्रमाण भी माना गया है, क्योंकि दो ही प्रमाण को मानने पर देशान्तर में स्थिर किसी वस्तु का निश्चय किसी आप्त वक्ता के वचन से नहीं होना चाहिए, क्योंकि देशान्तर में स्थित वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान से जहाँ नहीं हो सकता, वहाँ शब्द के बिना अन्य ज्ञान का साधन है नहीं। अतः सांख्यादि में प्रत्यक्षादि तीन प्रमाण माने जाते हैं, ये तीन अत्यावश्यक हैं, इन तीनों को ही सुविदित करने की आज्ञा अनुस्मृति में दी गई है॥

न्याय दर्शन कर्ता, गोतम, मुनि के मतानुसार चौथा उपमान प्रमाण माना जाता है। क्योंकि प्रत्यक्षादि तीन ही प्रमाण को मानने पर, जिस पुरुष ने गवय=रोझ को कभी नहीं देखा है, और बन वासी पुरुष से सुना है कि (गौ के सदृश गवय होता है) और वह यदि बन में जाता है, और गवय को देखता है, तो वनवासी पुरुष के वाक्यार्थ के स्मरण होने पर, उस पुरुष को निश्चय होता है, कि यह गवय है। उपमान को नहीं मानने पर यह निश्चय नहीं होना चाहिए, अतः उपमान मन्तव्य है (वस्तुतः उपमान शब्द और प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है)॥

पूर्व मीमांसा का एकदेशी=भट्टके शिष्य प्रभाकर, के मतानुसार पञ्चम=अर्थापत्ति प्रमाण माना जाता है। दिन में भोजन त्यागी

पुरुष में स्थूलता देख कर ज्ञान होता है कि, यह पुरुष रात्रि में भोजन करता है ) तहाँ रात्रि भोजन के बिना, दिन के भोजन त्यागि में स्थूलता के असम्भव से रात्रि भोजन का ज्ञान होता है। अतः रात्रि भोजन का स्थूलता सम्पाद्य=कार्य है। और रात्रि का भोजन स्थूलता का सम्पादक=हेतु है। सम्पादक रात्रि भोजन के ज्ञान के हेतु स्थूलता का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है ( वस्तुतः अग्नि से व्याप्य ऊर्ध्व रेखा वाला धूम रूप कार्य के समान रोगादि के बिना विशेष स्थूलता भोजन से व्याप्त रहता है ) अतः व्याप्य धूम ज्ञान के समान व्याप्य स्थूलता के ज्ञान से व्यापक भोजन की अनुमिति होती है )॥

पूर्व मीमांसक भट्ट छठा अनुपलब्धि प्रमाण भी मानते हैं। वेदान्त ग्रन्थों में भी अनुपलब्धि प्रमाण माना गया है। पदार्थ के ज्ञान को उपलब्धि कहते हैं, ज्ञानाभाव को अनुपलब्धि कहते हैं, गृहादि में जहाँ घटादि की अनुपलब्धि होती है, अर्थात् ज्ञान के साधन प्रकाशादि के रहते, प्रत्यक्षादि योग्य पदार्थ की उपलब्धि= प्रतीति जहाँ नहीं होती है, तहाँ उस पदार्थ के अभाव का निश्चय होता है। अतः उस अभाव के निश्चय का हेतु रूप अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है ( वस्तुतः अनुपलब्धि सहित नेत्रादि से अभाव का निश्चय होता है, यद्यपि अभाव में रूपादि नहीं होने से वह नेत्रादि के योग्य विषय नहीं है, तथापि नेत्रादि योग्य प्रतियोगिक होने से नेत्रादि से उसका प्रत्यक्ष होता है। कहीं अनुमान और शब्द से भी अभाव का निश्चय होता है, अतः अनुपलब्धि प्रमाण नहीं है )॥

॥ प्रमाण और प्रमा का लक्षण ॥

प्रमा ज्ञान के कारण को प्रमाण कहते हैं। स्मृति ज्ञान से भिन्न अबाधित=सत्यार्थ विषयक ज्ञान को प्रमा कहते हैं। स्मृति ज्ञान प्रमा नहीं कही जाती है क्योंकि प्रमाता के आश्रित रहने वाले ज्ञान

को प्रमा कहते हैं। और स्मृति ज्ञान को साक्षी के आश्रित माना गया है। इसी प्रकार भ्रम और संशय को साक्षी के आश्रित माना गया है। अतः स्मृति संशय और भ्रम ये तीनों आभास सहित अविद्या की वृत्ति रूप माने जाते हैं। अन्तःकरण की वृत्ति रूप नहीं, अतः प्रमाता के आश्रित नहीं। अन्तःकरण की वृत्तिरूप ज्ञान प्रमाता के आश्रित होता है, और वही प्रमा कहा जाता है। स्मृति ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति नहीं, अतः प्रमाता के आश्रित भी नहीं, अतः प्रमा के लक्षण में स्मृति से भिन्न कहना चाहिये, क्योंकि अबाधित अर्थ को विषय करने वाली यथार्थ स्मृति भी होती है, सो स्मृति से भिन्न नहीं होती है। अतः सब स्मृति से भिन्न अबाधित अर्थ को विषय करने वाला ज्ञान प्रमा है, इस लक्षण में कोई दोष नहीं है ॥

कोई यथार्थ स्मृति ज्ञान को भी प्रमा मानते हैं, उनके मतानुसार प्रमा के लक्षण में स्मृति ज्ञान से भिन्न कहना नहीं चाहिये। किन्तु अबाधितार्थ विषयक ज्ञान को प्रमा कहते हैं। भ्रान्ति ज्ञानबाधितार्थ को विषय करता है। अतः उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। और जब स्मृति ज्ञान प्रमा है, तब वह भी अन्तःकरण की वृत्ति रूप और प्रमाता के आश्रित है, अविद्या की वृतिरूप और साक्षी के आश्रित नहीं, भ्रमरूप अनुभव से संस्कार द्वारा होने वाली स्मृति सब मत में अविद्या की वृत्तिरूप और साक्षी के आश्रित होती है। इस रीति से यथार्थ स्मृति किसी के मत से अन्तःकरण की वृत्तिरूप है। अतः प्रमाता के आश्रित होती है, किसी के मत से अविद्या की वृत्ति रूप होती है। अतः साक्षी के आश्रित रहती है, प्रमा रूप नहीं होती है। और भ्रम तथा संशयज्ञान सबके मत से अविद्या की वृत्ति और साक्षि के आश्रित होता है। इसमें कोई विवाद नहीं है ॥ सम्प्रदाय के अनुसार विचार करने पर स्मृति ज्ञान अविद्या की वृत्ति और साक्षी के आश्रित सिद्ध होता है, प्रमा रूप

नहीं क्योंकि वेदान्त सम्प्रदाय के ज्ञाताओं ने छह प्रकार के प्रमाज्ञान कहा है, उनमें स्मृति नहीं आती है। और मधुसूदन स्वामी ने भी स्मृति ज्ञान को साक्षी के आश्रित कहा है। अतः स्मृति प्रमा नहीं है ॥

प्रत्यक्ष १ अनुमिति २ उपमिति ३ शाब्दी ४ अर्थापत्ति ५ अभाव, ६ इन नामों वालीछहप्रकारकी प्रमा होती है। इनके करण को प्रमाण कहते हैं। तहाँ प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। असाधारण=विशेष कारण को करण कहते हैं। सर्व कार्य के सामान्य कारण को साधारण कारण कहते हैं, जैसे धर्माधर्म ईश्वरादि सर्व कार्य के कारण हैं सो साधारण कारण कहे जाते हैं। और घटादि के विशेष कारण रूप दण्डादि असाधारण घट के कारण कहाते हैं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा के ईश्वरादि तो साधारण कारण हैं। क्योंकि उनके बिना कोई कार्य नहीं होता है। और नेत्र श्रोतादि इन्द्रिया प्रत्यक्ष प्रमा के असाधारण कारण हैं। अतः प्रत्यक्ष प्रमा के करण हैं, और इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ॥

यद्यपि वेदान्त सिद्धान्त में इन्द्रियों को प्रमा की करणता नहीं कही जा सकती। क्योंकि वेदान्त में प्रमाता १ प्रमाण २, प्रमिति=प्रमा ३ और प्रमेय ४, ये चार चेतन के भेद हैं। अतः प्रमा नाम चेतन का हैं। और चेतन नित्य है। इन्द्रिय जन्य नहीं, अतः इन्द्रिय उसका करण नहीं हो सकता है, तथापि चेतन में प्रमा व्यवहार का सम्पादक=हेतुरूप वृत्ति भी प्रमा कही जाती है। और उसके इन्द्रिय करण हैं, अतः प्रमाण हैं। देह के अन्दर अन्तःकरण से अवच्छिन्न=युक्त चेतन को प्रमाता कहते हैं। और वह अन्तः करण नेत्रादि द्वारा निकल कर विषय पर्यन्त जाता है, और घटादि विषयाकार को प्राप्त होता है, जैसे जलाशय से नाली द्वारा

निकल कर जल क्यारी में जाता है, और क्यारी के समान आकार को प्राप्त होता है, तहाँ शरीर से विषय पर्यन्त जो अन्तःकरण का नाली के समान परिणाम=कार्य होता है, उसको वृत्ति रूप ज्ञान कहते हैं, उससे अवछिन्न=उसमें वृत्ति चेतन को प्रमाण चेतन कहते है। और वृत्ति ज्ञान रूप अन्तःकरण के परिणाम को प्रमाण कहते हैं। और विषयाकार रूपता को प्राप्त वृत्ति से अवच्छिन्न चेतन को प्रमा चेतन कहते हैं, तदाकार वृत्तिमात्र को प्रमा कहते हैं। ज्ञान के विषय घटादि से अवच्छिन्न चेतन को विषय चेतन और प्रमेय चेतन कहते हैं। यह वेदज्ञ आचार्यों की परिभाषा है।

॥ अवच्छेद वाद की रीति से प्रमाता, साक्षी, विशेषण और उपाधि का लक्षण ॥

यहाँ इतना भेद है कि अवच्छेद वादी के मत में अन्तःकरण विशिष्ट ( अन्तःकरण रूप विशेषण वाला ) चेतन प्रमाता और कर्ता भोक्ता है। और अन्तःकरण उपहित चेतन साक्षी है। एकही अन्तःकरण प्रमाता का विशेषण और साक्षी की उपाधि है॥ स्वरूप में जिसका प्रवेश हो, ऐसे व्यावर्तक=भेदक वस्तु को विशेषण कहते हैं। अन्य पदार्थ से एक वस्तु को भिन्न रूप से बोधक को व्यावर्तक कहते हैं। और जिसे भिन्न रूप से समझा जाता हैं, उसे व्यावर्त्य कहते हैं। जैसे नीलघट है, इस स्थान में घट का नीलता विशेषण है, क्योंकि नील घट में नीलता=नील रूप का प्रवेश है। और वह पीत श्वेतादि से घट को भिन्न रूप से बोध कराता है, अतः व्यावर्तक है, विशेषण कहा जाता है, घट विशेष्य=व्यावर्त्य, तथा परिच्छेद्य कहा जाता है, दण्डीपुरुष मेंदण्ड विशेषण है। पुरुष विशेष्य है॥ इसी प्रकार प्रमाता का अन्तः करण विशेषण है, क्योंकि प्रमाता के स्वरूप में अन्तः करण का प्रवेश है, और प्रमेय चेतन से भिन्न स्वरूप से प्रमाता का बोधक होता है। अतः व्यावर्तक

होता है जिस व्यावर्तक वस्तु का व्यावर्त्य के स्वरूप में प्रवेश नहीं हो, और व्यावर्तक हो, सो उपाधि कहा जाता है। जैसे न्याय मत में कर्ण-गोलक से अवच्छिन्न (गोलक मध्यवर्ती) आकाश को श्रोत्रेन्द्रि कहा जाता है। तहाँ गोलक श्रोत्र की उपाधि है। क्योंकि श्रोत्र स्वरूप में गोलक का प्रवेश नहीं हैं। और बाहर के आकाश से श्रोत्र को भिन्न समझाता है। अतः व्यावर्तक है। और अन्नादि के आश्रय घटाकाश का भी घट उपाधि है। क्योंकि अन्नादि के अवकाश दाता घटाकाश के स्वरूप में पार्थिव घट का प्रवेश नहीं है। क्योंकि उसमें अवकाश दातृत्व नहीं है। अतः घटाकाश के स्वरूप में घट का प्रवेश नहीं है, और व्यापक आकाश से घटाकाश का भेदक घट है, अतः घटाकाश का घट उपाधि है। तैसे ही अन्तः करण उपहित साक्षी चेतन का अन्तः करण उपाधि है, क्यों कि अन्तःकरण में साक्षिता नहीं है, अतः साक्षी के स्वरूप में प्रवेश के विना प्रमेय चेतन से साक्षी का व्यावर्तक है। अतः एक ही अन्तःकरण साक्षी की उपाधि हैं, और प्रमाता का विशेषण है। और इस प्रकार अन्तः करण से उपहित चेतन साक्षी है। अन्तः करण विशिष्ट चेतन प्रमाता है, सोई कर्ता भोक्ता संसारी जीव है, यह अवच्छेद वाद की रीति है॥

## ( आभास वाद की रीति )

आभास वाद में आभास सहित अन्तः करण, जीव का विशेषण हैं, और वही साक्षी की उपाधि है। अतः साभास अन्तःकरण विशिष्ट चेतन जीव है, और साभास अन्तःकरण उपहित चेतन साक्षी है। यद्यपि दोनों पक्ष में विशेषण सहित चेतन जीव है, सो संसारी हैं, तथापि विशेष्य भाग रूप चेतन में जन्मादि रूप संसार का सम्भव नहीं है। अतः विशेषण मात्र के जन्मादि धर्मों का विशिष्ट चेतन में भान होता है॥ लोक में भी कहीं विशेषण के धर्म का विशिष्ट में व्यवहार=

कथन होता है । कहीं विशेष्य के धर्म का विशिष्ट में व्यवहार होता है । कहीं विशेषण विशेष्य दोनों के धर्म का विशिष्ट में व्यवहार होता है ।

जैसे दण्ड से घट के नाश होने पर घटाकाश का नाश होता नहीं है, तथापि घटाकाश के विशेषण घट के नाश से विशिष्ट घटाकाश का नाश प्रतीत होता है ।। और कुण्डली पुरुष सोता है, यहाँ कुण्डल रूप विशेषण में शयन के अभाव होते भी विशेष्य रूप पुरुष के शयन का कुण्डल विशिष्ट में भान होता है, और व्यवहार होता है ।। और शस्त्री=शस्त्रधारी पुरुष युद्ध में गया है, इत्यादि स्थान में विशेषण शस्त्र और विशेष्य पुरुष दोनों की गति रूप धर्म=प्राप्ति का विशिष्ट में व्यवहार होता है ।। यहाँ अवच्छेद वाद में अन्तः करण विशेषण है । आभास वाद में साभास अन्तः करण विशेषण है । और दोनों पक्ष में चेतन विशेष्य है, उसमें जन्मादि संसार का सम्भव नहीं है, तथापि भ्रमादि से विशेषण अन्तःकरण वा साभासान्तःकरण के जन्मादि धर्मों का विशिष्ट में भान और व्यवहार होता है, यह आभास और अवच्छेद वाद का भेद है ।।

## ( आभासवाद की श्रेष्ठताप्रदर्शन )

भाष्यकार ने आभासवाद का अङ्गीकार किया है । अतः आभास वाद श्रेष्ठ है । और विद्यारण्य स्वामी ने अवच्छेदवाद में दोष भी कहा है यदि आभास रहित अतःकरण अवच्छिन्न चेतन को प्रमाता माना जाय, तो घटावच्छिन्न चेतन को भी प्रमाता होना चाहिये । क्योंकि जैसे अन्तःकरण भूतों का कार्य है, तैसे घट भी भूतों का कार्य है । और जैसे अन्तःकरण चेतन का अवच्छेदक=व्यावर्तक है, तैसे घट भी चेतन का अवच्छेदक है । अतः अन्तःकरण विशिष्ट के समान घट विशिष्ट चेतन भी प्रमाता होना चाहिए । और अन्तः करण में आभास मानने पर यह दोष नहीं रहता है । क्योंकि अन्तः

करण भूतों के सत्त्वांश का कार्य है, अतः स्वच्छ है, और घटादि भूतों के तमोंश के कार्य हैं, अतः अस्वच्छ हैं। और स्वच्छ पदार्थ ही आभास के योग्य होता है, अस्वच्छ नहीं, जैसे काँच और उसका ढक्कन दोनों पृथिवी के कार्य होते हैं, परन्तु स्वच्छ कांच=दर्पण में मुख का आभास होता है, ढक्कन में नहीं, तैसे ही सत्त्वगुण के कार्य अन्तः करण में चेतन का आभास होता है, और तमो गुण के कार्य शरीरादि घटादि रूप अस्वच्छ वस्तु में चेतन का आभास नहीं होता है ॥

इस रीति से अन्तःकरण में, एक व्यापक चेतन का और दूसरा आभास का, ये द्विविध प्रकाश रहते हैं। शरीरादि घटादि में व्यापक चेतन मात्र का प्रकाश तो रहता है, दूसरा आभास का प्रकाश नहीं। अतः द्विविध प्रकाश सहित अन्तःकरण विशिष्ट चेतन प्रमाता कहा जाता है। एक प्रकाश सहित घटादि विशिष्ट चेतन प्रमाता नहीं ॥ जिनके मत में अन्तःकरण में आभास नहीं, उनके मत में घटादि के समान अन्तःकरण में भी आभास कृत प्रकाश के अभाव से, और विभु चेतन कृत प्रकाश के सर्वत्र तुल्य होने से अन्तःकरण विशिष्ट के समान घटादि विशिष्ट चेतन भी प्रमाता होना चाहिये ॥

वस्तुतः शरीरादि से अन्तःकरण में यही विलक्षणता है कि सत्त्वगुण की कार्यता के कारण स्वच्छता=आभास ग्रहण की योग्यता है। अन्तःकरण से अन्य पदार्थ स्वच्छ नहीं होने के कारण आभास ग्रहण के योग्य नहीं हैं। अतः उनसे विशिष्ट चेतन प्रमात नहीं, किन्तु साभास अन्तःकरण विशिष्ट प्रमाता है ॥ साभास वृत्ति विशिष्ट चेतन प्रमाण चेतन कहा जाता है। विषयाकार वृत्ति में स्थिर चेतन को प्रमा और यथार्थ ज्ञान कहते हैं। उस ज्ञान के साधन इन्द्रिय को प्रमाण कहते हैं। यद्यपि चेतन रूप प्रमा के-

नित्य होने से उसका साधन इन्द्रिय नहीं हो सकती है, तथापि निरूपाधि चेतन में प्रमा व्यवहार के अभाव से प्रमा व्यवहार का हेतु वृत्ति रूप उपाधि के इन्द्रिय जन्य होने के कारण प्रमा को इन्द्रिय जन्य कहा जाता है, और इन्द्रिय को प्रमा का साधन कहा जाता है। प्रमा की उपाधि होने से वृत्ति भी प्रमा कही जाती है, तहाँ सब वृत्ति नहीं, किन्तु शरीर के भीतर से विषय पर्यन्त अतःकरण के परिणाम को ( प्रमाण ) कहते है, वहीं वृत्ति विषयाकार परिणाम को प्राप्त होती है, तब प्रमा कहाती है, अतः प्रमा का प्रमाण वृत्ति से अत्यन्त भेद नहीं है। इस प्रकार बाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान काल में अन्तःकरण की वृत्ति बाहर जाकर विषयाकार को धारण करती है। अन्तरात्मा के ज्ञान काल में वृत्ति बाहर नहीं जाती है, किन्तु शरीर के अन्दर ही आत्माकार को प्राप्त करती है। और उस वृत्ति से आत्माश्रित अज्ञान निवृत्त होता है। और आत्मा अपने प्रकाश से उस वृत्ति में प्रकाशता है, अतः वृत्ति का विषय आत्मा कहा गया है। चिदाभास का विषय नहीं। इस प्रकार साक्षी आत्मा स्वयं प्रकाश रूप से भासता है, यह सिद्ध हुवा ॥ ७२ ॥

॥ शिष्य प्रश्न ॥

**इन्द्रिय के सम्बन्ध बिनु, अहं ब्रह्म यह ज्ञान ।**
**कैसे ह्वै प्रत्यक्ष प्रभु, मो को कहो बखान ॥७३॥**

हे प्रभो ! इन्द्रिय के सम्बन्ध बिना, अहं ब्रह्म, यह ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे होता है, सो मुझे व्याख्यान करके कहो ॥ अर्थात् ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान से अविद्या जाल का नाश होता है, परोक्ष ज्ञान से नहीं, यह पहले कहा गया है। तहाँ शंका होती है, ब्रह्म का

अपरोक्ष ज्ञान हो नहीं सकता है, क्योंकि इन्द्रिय जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, और ब्रह्म का इन्द्रिय जन्य ज्ञान हो नहीं सकता है, क्योंकि नेत्र इन्द्रिय से रूपवान् का तथा नीलादि रूपों का ज्ञान होता है। ब्रह्म ऐसा नहीं है, अतः ब्रह्म का इन्द्रिय जन्य ज्ञान नहीं हो सकता है, रामकृष्णादि की मनुष्याकार मूर्ति यद्यपि रूप वाली होती है, तथापि माया रचित मिथ्या वह मूर्ति ब्रह्म नहीं हो सकती है, और पुराण में रामकृष्णादि को ब्रह्म कहा गया है, सो शरीर दृष्टि से नहीं कहा गया है, किन्तु शरीराधिष्ठान चेतन की दृष्टि से ब्रह्म कहा गया है ।। परन्तु ऐसा मानने पर शंका होती है कि अधिष्ठान दृष्टि से यदि राम कृष्णादि शरीर को ब्रह्म कहा जाय तो सब शरीरों का अधिष्ठान ब्रह्म ही है, अतः रामकृष्णादि शरीरों में सबकी तुल्यता ही सिद्ध होगी, कोई विशेषता नहीं सिद्ध होगी, अतः विशेषता की सिद्धि के लिए रामकृष्णादि शरीरों को भी ब्रह्म मानना चाहिये। परन्तु ऐसा मानना भी नहीं बनता है, क्योंकि शरीर का बाध करके शरीर को ब्रह्म माना जाय तो, बाध करने पर सब शरीर ब्रह्म स्वरूप होता है। और बाध के बिना अन्य शरीरों के समान सावयव रूप क्रिया आदि वाला शरीर का निर्गुण निराकार ब्रह्म के साथ अभेद हो नहीं सकता है। अतः रामकृष्णादि का शरीर ब्रह्म नहीं हो सकता। तौ भी यह भेद है कि जीवों के शरीर पुण्य पाप के अधीन होते हैं, भूतों के कार्य होते हैं। और जीवों को अविद्या बल से अनात्मस्वरूप देहादि में अहं ममादि का अध्यास रहता है। आचार्य के उपदेश से अध्यास की निवृत्ति होती है। और रामकृष्णादि के शरीर अपने पुण्य पाप से रचित नहीं, भूतों के कार्य नहीं, किन्तु जैसे सृष्टि के आदि में जब प्राणियों के कर्म भोग देने के लिए उन्मुख होते हैं, तब आप्तकाम ईश्वर में भी प्राणी कर्मानुसार जगत् की उत्पत्ति का संकल्प होता है कि ( मैं जगत् की उत्पत्ति करूँ ) और

उस संकल्प के अनुसार सृष्टि होती है। इसी प्रकार सृष्टि के बाद (मैं पालन करूँ) ऐसा संकल्प से जगत का पालन होता है, (कर्मानुसार सुख दुःख के सम्बन्ध को पालन कहते हैं)। उस पालन संकल्प के मध्य में उपासकों की उपासना के बल से ईश्वर को संकल्प होता है कि (रामकृष्णादि नाम सहित मूर्ति सब को प्रतीत हो) फिर उस संकल्प से विशेष नामरूप रहित ईश्वर में विशेष नामरूप सहित मूर्ति की उत्पत्ति होती है। सो कर्माधीन नहीं। यद्यपि रामकृष्णादि मूर्ति=देह से साधु असाधु पुरुषों को क्रम से सुख दुःख होते हैं, और जो जिसके सुख दुःख का हेतु होता है, सो उसके पुण्य पाप से रचित होता है। अतः अवतारों के शरीर साधु असाधु=देव असुरादि के पुण्य[1] पाप से रचित होते हैं। क्योंकि उनके सुख दुःख के हेतु होते हैं, अतः अवतारों के शरीर कर्माधीन नहीं, यह कहना नहीं बन सकता है॥

तथापि जैसे जीवों को अपने पूर्व शरीरों में उपार्जित कर्मों के फल उत्तर शरीरों में सुख दुःख होते हैं। तहाँ शरीराभिमानी जीव के शरीर अपने कर्माधीन कहे जाते हैं। तैसे रामकृष्णादि के शरीर यद्यपि साधु असाधु कर्माधीन और उनके सुख दुःख के हेतु होते हैं। तथापि अपने पुण्य पाप के अधीन नहीं, न अपने सुख दुःख के हेतु होते हैं! न भूतों के परिणाम होते हैं, किन्तु साक्षात् माया के परिणाम होते हैं। ऐसा सम्भव है॥ यदि पञ्चीकृत भूतों का परिणाम (कार्य)

---

१ यह उपास्य दृष्टि से वर्णन है, क्योंकि सब शरीरों से अन्य को भी सुख दुख होता है। और (ब्रह्मायेन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे) इत्यादि गरुड़ पुराणादि से स्वकर्म के फल रूप अवतारादि को कहा गया है॥

अवतारों का शरीर हो, तो कृष्ण शरीर में रज्जुकृत बन्धनादि का अभाव शास्त्र में कहा है, सो असङ्गत होगा। यद्यपि भूत रचित शिद्ध योगी के शरीर में भी बन्धनादिक नहीं होते हैं, तथापि योगी के शरीर में प्रथम बन्धनादिक होते हैं, फिर योगाभ्यास के बल से बन्धन दाहादि की योग्यता का नाश होता है। और कृष्णादि के शरीर में योगी के समान योगादि पुरुषार्थ से बन्धनादि का[1] अभाव नहीं; किन्तु उनको शरीर सहज स्वभाव से ही बन्धनादि के योग्य नहीं, अतः भूतों का परिणाम नहीं।। और माण्डूक्य भाष्य की टीका में आनन्द गिरि ने भूतों का परिणाम कहा है, सो स्थूल दृष्टि से अन्य शरीरों के समान प्रतीत होता है, इस अभिप्राय से कहा है। क्योंकि गीता भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि—जीवों पर अनुग्रह करके माया बल से शरीरधारी के समान, परमात्मा कृष्ण रूप प्रतीत होता है। सो जन्मादि रहित है, बसुदेव द्वारा देवकी से उसका जन्म भी माया से प्रतीत होता है, इस प्रकार भाष्यकार ने कृष्ण शरीर को माया का कार्य कहा है। अतः अवतारों के शरीर की उत्पत्ति भूतों से नहीं हाती है। किन्तु साक्षात् माया उन शरीरों का उपादन कारण है। और जीवों की उपाधि मलिन सत्ववाली अविद्या है। अतः जीवों को देहादि में आत्मता की भ्रान्ति हाती है। और रामकृष्णादि की उपाधि सुद्धगुण वाली माया है, अतः उन्हे शरीरादि में आत्मता की भ्रान्ति नहीं होती है, और सर्वज्ञता रहती है, और जीवों में अज्ञान कृत आवरण तथा भ्रान्ति की वर्तमानता से उनकी निवृत्ति के लिए आचार्य द्वारा उपदेश जन्य ज्ञान की अपेक्षा होती है।

---

१ कृष्ण भगवानादि में पुत्रादि के लिये शिव भक्ति तप आदि का पुराण में वर्णन है, अतः कल्पान्तर कृत तप आदि से ही बन्धनादि के अभाव और ऐश्वर्यादि समझना चाहिये, सो अन्यत्र स्पष्ट है।।

आवरणादि के अभाव से अवतारों को उपदेश जन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। किन्तु जीव को अन्तःकरण की वृत्ति के समान, ईश्वर को माया की वृत्ति रूप आत्मज्ञान उपदेशादि के बिना भी होता है। परन्तु उस ज्ञानका कोई फल नहीं होता है, क्योंकि जीवों को घटादि के ज्ञान से आवरण का नाश और घटादि का प्रकाश होता है। और आत्मज्ञान से भी आवरण का नाश होता है। और आत्मा स्वयं प्रकाशता है। तैसे ईश्वर को जो, अहंब्रह्मास्मि, इत्यादि ज्ञान होते हैं, उनसे आवरण का नाश नहीं होता है, क्योंकि वहाँ कभी आवरण रहता ही नहीं है। और आत्मा सदा स्वयं प्रकाश ही है, अतः ईश्वर के ज्ञान का आवरण नाश वा विषय का प्रकाश रूप प्रयोजन नहीं। तो भी जैसे जीवन्मुक्त विद्वान् को निरावरण आत्म विषयक, अहं ब्रह्मास्मि, ऐसी वृत्ति अन्तः करण की होती है, जिसका आवरण भंगादि प्रयोजन नहीं रहता है। तैसे ही ईश्वर को भी आवरण भंगादि प्रयोजन के बिना माया की वृत्ति रूप ( अहंब्रह्मास्मि ) यह ज्ञान उपदेशादि के बिना होता है॥

इस प्रकार राम कृष्णादि को जीवों से विलक्षणता ईश्वरता है। तो भी उनका शरीर माया रचित, मिथ्या है, सत्य ब्रह्म नहीं, और रूपादि सहित, माया से रचित, होने से नेत्रादि के विषय उनके शरीर होते हैं। ब्रह्म नेत्रादि का विषय नहीं होता है, क्योंकि स्पर्श और स्पर्श के आश्रय को त्वक् विषय करता है, ब्रह्म ऐसा नहीं हैं। रसना से रसका, घ्राण से गन्ध का, श्रोत्र से शब्द का ज्ञान होता है। ब्रह्मरसादि स्वरूप नहीं, और कर्मेन्द्रिय तो ज्ञान का साधन ही नहीं। अतः ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, सोई प्रत्यक्ष और अपरोक्ष कहा जाता है, और ब्रह्म का किसी इन्द्रिय से ज्ञान होता नहीं, किन्तु शब्द से ज्ञान होता है, अतः परोक्ष ही हो सकता है, प्रत्यक्ष नहीं, और परोक्ष ब्रह्म

ज्ञान से अविद्या जाल की निवृत्ति नहीं हो सकती है। यह शिष्य का प्रश्न है ॥७३॥

॥ गुरुरुवाच ॥

**इन्द्रिय बिनु प्रत्यक्ष नहिं, सिष यह नियम न जान।**
**बिनु इन्द्रिय प्रत्यक्ष ह्वै, जैसे सुख दुःख ज्ञान ॥७४॥**

हे शिष्य ! इन्द्रिय के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, यह नियम नहीं समझो, क्योंकि बाह्य इन्द्रिय के बिना भी जैसे सुख और दुःख का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, तैसे ही इन्द्रिय के बिना भी आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अतः यह नियम नहीं है कि जो इन्द्रिय जन्य ज्ञान हो सो प्रत्यक्ष होता है, किन्तु विषय से सम्बन्ध पूर्वक जहाँ वृत्ति विषयाकार होती है, तहाँ ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, यह नियम है (अर्थात्[1] योग्य विषय चेतन और वृत्ति चेतन का अभेद प्रत्यक्ष का लक्षण है) सो विषय से वृत्ति का सम्बन्ध कहीं इन्दिय द्वारा होता है, और कहीं शब्द से होता है। जैसे, दशम तूं है, इस शब्द से दशम को जो अन्तः करण की वृत्ति होती है, सो दशम के साथ सम्बन्ध पूर्वक दशमाकार होती है, अतः शब्द जन्य भी दशम का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। तैसे ही प्रमाता में सुख दुःख होते हैं, और सुखाकार दुःखाकार वृत्ति भी प्रमाता में होती है। अतः वृत्ति के साथ सुख दुःख के सम्बन्ध से सुख दुःख का प्रत्यक्ष होता है। सुख दुःख के नष्ट होने पर जो वृत्ति होती है, सो स्मृति होती है, प्रत्यक्ष नहीं। यद्यपि अन्तःकरण के धर्म सुख दुःखादि साक्षीभास्य होते हैं, तथापि सुखाकारादि वृत्ति द्वारा ही

---

१ धर्माधर्मादि प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं, अतः शब्दादि से धर्मादि के ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होते है, और वृत्ति चेतन से धर्मादि चेतन का अभेद रहता हैं ॥

साक्षी उनका प्रकाश करता है। क्योंकि साक्षीभास्य को भी साक्षी वृत्ति के बिना नहीं प्रकाशता है। किन्तु शुक्ति रजतादि को अविद्या की वृत्ति द्वारा प्रकाशता है, सुखादि को अन्तःकरण की वृत्तिद्वारा प्रकाशता है। अतः साक्षीभास्य पदार्थ के ज्ञान में भी वृत्ति की अपेक्षा होती है। सो वृत्ति कहीं अविद्या की होती है, कहीं अन्तःकरण की होती है। और वह अन्तःकरण की वृत्ति जहाँ इन्द्रियादि बाह्य साधन द्वारा होती है। तहाँ उसका विषय साक्षीभास्य नहीं कहा जाता है। सुखादि विषयक वृत्ति की उत्पत्ति में बाह्य इन्द्रियादि साधन नहीं होते हैं। किन्तु जब सुखादि उत्पन्न होता हैं, उसी काल में अन्य साधन की अपेक्षा के बिना सुखकारादि अन्तःकरण की वृत्ति होती हैं। और उन वृत्तियों में स्थिर साक्षी सुखादि को प्रकाशता है। अतः सुखादि साक्षीभास्य कहे जाते हैं॥

बाह्यघटादि के साथ वृत्ति का सम्बन्ध नेत्रादि द्वारा होता है। अतः घटादि साक्षीभास्य नहीं। और सुखादि वृत्ति के समान ब्रह्माकार वृत्ति भी बाहर नहीं जाती है किन्तु शरीर के अन्दर ही उस वृत्ति को ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है। अतः ब्रह्मज्ञान भी सुखादि ज्ञान के समान प्रत्यक्ष होता है। परन्तु सुखादि के ज्ञान रूप वृत्ति में बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं होने के कारण सुखादि साक्षिभास्य हैं। और ब्रह्माकार अन्तःकरण की वृत्ति में गुरुद्वारा उपदेश का श्रोत्र से सम्बन्ध रूप बाह्य साधन की अपेक्षा होती है। अतः ब्रह्म ज्ञान साक्षिभास्य नहीं, इस प्रकार जहाँ विषय से वृत्ति का सम्बन्ध हो, तहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। और अहं ब्रह्मास्मि, इस वृत्ति का स्वविषय ब्रह्म से सम्बन्ध है। अतः यह ब्रह्मज्ञान प्रत्यक्ष हो सकता है॥

जहाँ धूम देख कर अग्नि का ज्ञान होता है। तहाँ नेत्रद्वारा धूम से वृत्ति का सम्बन्ध होने के कारण धूम का प्रत्यक्ष होता है,

अग्नि का नहीं। क्योंकि अनुमान से अन्दर में ही अग्नि की वृत्ति होती है। इस प्रकार शब्द या अनुमान से दूर, भूत भावी विषय का ज्ञान होता है, सो परोक्ष कहा जाता है, क्योंकि वहाँ विषय के साथ वृत्ति का सम्बन्ध नहीं होता है। और इन्द्रियजन्य ही ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि सुखादि का ज्ञान इन्द्रिय जन्य नहीं। और प्रत्यक्ष होता हैं। तथा दशम का शब्द जन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही होता है। इसी प्रकार सद्गुरु द्वारा श्रुतमहावाक्यादि रूप शब्द से उत्पन्न होने वाला ब्रह्मज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है ॥७४॥

**गुरु को अस उपदेश सुनि, तत्त्वदृष्टि बुधिमन्त।**
**ब्रह्मरूप लखि आतमा, कियो भेद भ्रम अन्त ॥ ७५ ॥**

**अहं ब्रह्म या वृति में, निरावरण ह्वै भान।**
**दादू आदू रूप सो, यूं हम लियो पिछान ॥ ७६ ॥**

इति श्री विचार सागर=उत्तमाधिकारि=उपदेश निरूपण नामक चतुर्थ तरङ्ग ॥ ४ ॥

गुरु के इस उक्तरीति वाले उपदेशों को सुनकर बुद्धिमान= पूर्ण विवेक युक्त तत्त्व दृष्टि ने ब्रह्म स्वरूप अपने आत्मा को समझ कर भेद के भ्रम को अन्त=नष्ठ किया ॥ ७५ ॥

(अहंब्रह्मास्मि) इस प्रकार के अन्तःकरण की वृत्तिं में जो निरावरण==शुद्ध ब्रह्मात्मा भासित=व्यक्त होता है सोइ सबके आदू=आदि अधिष्ठान ब्रह्म स्वरूप दादू गुरु हैं। इस प्रकार हमने निश्चल दास जी शिष्य ने समझ लिया है। यद्यपि गुरु के साथ अपने अभेद का चिन्तन शिष्य नहीं करता है, तथापि निरावरण के भान होंने पर सर्वात्मा के एक भासने से स्वयं गुरु के परमार्थिक स्वरूप से शिष्य

के पारमार्थिक स्वरूप अभिन्न भासता है, यही गुरु स्वरूपता की प्राप्ति कही जाती है ।। ७६ ।।

ब्रह्मरूप गुरु रूपता, सत्त्वापत्ति स्वरूप ।
उत्तम लहत विचार से, पड़त नाहिं भवकूप ।। १ ।।
गुरुवर बचन प्रताप से, भेद भरम करि अन्त ।
सोवत नित्य समाधि से, निज स्वरूप में सन्त ।। २ ।।

ॐ शम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।। ४ ।।

# ॥ विचारसागर ॥ पञ्चम तरंग ॥

## ॥ मध्यम अधिकारी उपदेश निरूपण ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं साक्षिणं प्रणमाम्यहम् ।
अद्वयं केवलं देवं निर्गुणं संभजे गुरुम् ॥ १ ॥

वन्दौं सद्गुरु सन्त को, जिनकी युक्ति सदुक्ति ।
संशय भ्रम मद नाशि के, देत सिद्ध सुख मुक्ति ॥१॥

प्रथम तरङ्ग से तृतीय तरङ्ग तक इस ग्रन्थ में विवेकादि और गुरु भक्ति==सेवा आदि रूप ज्ञान के साधनों का वर्णन=निरूपण करके चतुर्थ तरङ्ग में उन साधनों से सुयुक्त उत्तम ज्ञान के अधिकारी के लिये उपदेश दिया गया है, उत्तम अधिकारी में प्राक्तन कर्म सत्सङ्गादि जन्य पूर्ण विवेक जनित पूर्ण विराग शम दमादि रहते हैं, अतः पूर्ण विरागादि के लिये विषय स्त्री पुत्र धनादि में दोष दर्शाने की आवश्यकता नहीं होती है, और मध्यम अधिकारी में पूर्ण विवेक के अभाव से पूर्ण विरागादि के लिये विषय स्त्री पुत्रादि में दोष दर्शाने की आवश्यकता होती है, अत एव गीता योग वासिष्ठादि में भी दोष दर्शाया गया है, तथा ऐतरेयादि श्रुतियों में गर्भ जन्मादि का वर्णन किया गया है, और इस पञ्चम तरङ्ग में दोष दर्शाने ही के लिये हेय और वीभत्सरूप से विषय वर्णन किया गया है, अतः उस वर्णन को अयुक्त समझना नहीं चाहिये"

पूर्व=चतुर्थ तरङ्ग में कहा गया है कि "गुरुमुख द्वारा सुने हुए वेद वाक्य से अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होता है" उस को सुनकर अदृष्टि नामक दूसरा शिष्य शंका करता है कि—

॥ चौपाई ॥

वेद रु गुरु जो मिथ्या कहिये । तिनते भव दुख नश्यो न चहिये ।।
जैसे मिथ्या मरुथल को जल । प्यास नाश को नहिं तामें बल ।।१।।
सत्य वेद गुरु कहैं तु द्वैत । भयो गयो सिद्धान्त अद्वैत ।
यूं शङ्कर मत पेखि अशुद्धा । तज्यो सकल मध्वादि प्रबुद्धा ।।२।।

वेद और गुरु को यदि मिथ्या=असत्य कहा जाय, अर्थात् वेद गुरु यदि असत्य हों, तो उनसे जन्मादि रूप संसार दुःख का नाश नहीं होना चाहिये, अर्थात् उनसे मोक्ष रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि जैसे मिथ्या मरुथल के जल में प्यास मिटाने का बल नहीं रहता है, तैसे ही मिथ्या वेदादि में मोक्षप्रद बल नहीं रह सकता है ॥१॥

यदि वेद और गुरु को सत्य कहैं, अर्थात् ये सत्य हों, तो द्वैत=भेद सिद्ध भयो=भया, और अद्वैत सिद्धान्त गया, इस प्रकार दोनों रीति से अद्वैत ज्ञान नहीं हो सकने के कारण शङ्कराचार्य से वर्णित वेदान्त मत को अशुद्ध समझ कर, रामानुजाचार्य, विष्णु स्वामी, निम्बादित्याचार्य, और मध्वाचार्यादि प्रबुद्ध=विद्वान् सब लोगों ने उक्त मत को त्यागा है ।।२।।

यह शंका भगवन् मुहि[1] उपजै । उत्तर देहु दयाल न[2] कुपिजै ।।
गुरु बोले सिष की सुनि वानी । शंकर को मत परम प्रमानी[3] ।।३।।
चार यार[4] मध्वादिक जे हैं । वेद विरूद्ध कहत सब ते हैं ।।
या[5] में व्यास बचन सुनि लीजै । शंकर मतहि प्रमान करीजै ।।४।।

---

१ मुझे उत्पन्न होती है ।। २ क्रुद्ध नहीं होइये ।। ३ प्रामाणिक ।। ४ मित्र=वैष्णवता मूलक प्रेम युक्त ।। ५ इस अर्थ में प्रमाण रूप । ( चतुर्भिः सह शिष्यैस्तु शङ्करोऽवतरिष्यति । व्याकुर्वन् व्याससूत्रार्थं श्रुतेरर्थं यथोचिवान् ।। श्रुतेर्न्यायः स एवार्थः शङ्करः सवितानन: । ( वायुपुराण ) ।।

कलि में वेद अर्थ बहु करि हैं। श्री शंकर[1] शिव तब अवतरि हैं ।।
जैन बुद्ध मत मूल उखारै। गङ्गा ते प्रभु मूर्ति निकारै ।। ५ ।।
जैसे भानु उदय उजियारो। दूरि करै जग में अँधियारो ।।
सब बस्तुहि ज्यूं को त्यूं भासै। संशय और विपर्यय नाशै ।।६।।
वेद अर्थ में त्यूं अज्ञाना। नाशि हैं श्री शङ्कर व्याख्याना ।।
करिहैं ते उपदेश यथारथ। नाशहि संशय अरु अयथारथ ।।७।।
और जु वेद अर्थ कूं करिहैं। ते शठ वृथा परिश्रम धरिहै ।।
यूं पुराण में व्यास कही है। शङ्कर मत में मान यही है ।।८।।
मध्वादिक को मत न प्रमानी। यह हम व्यास बचन ते जानी ।।
और प्रमाण कहूं सो सुनिये। वालमीकरिषि मुख्य जु गिनिये ।९।
तिन मुनि कियो ग्रन्थ वासिष्ठा। तामें मत अद्वैत प्रतिष्ठा (स्पष्टा)
श्री शङ्कर अद्वैत हि गान्यो। तिन को मत यह हेतु प्रमान्यो१०
बालमीकरिषि वचन विरुद्धम्। भेद वाद लखि सकल अशुद्धम्११

सब प्रकरण का भाव है कि व्यास भगवान ने पुराण में कथा कहीं है कि जब कलियुग में वेद के अर्थ को लोग नाना प्रकार से करेगें, तब कृपालु शिव जी श्री शङ्कर नाम धारण करके अवतार लेगें, और उस रूप से बद्रीनाथ की मूर्ति का देव नदी=गङ्गा से उद्धार, स्वस्थान में स्थापन, जैन बुद्धमत का खंडन और वेद का यथार्थ=सत्य व्याख्यान करेगें ।। ५ ।। जिससे जैसे सूर्योदय से बाह्य वस्तु के यथार्थ ज्ञान अन्ध

---

१ करिष्यत्यवताराणि शङ्करो नीललोहितः। श्रौतस्मार्तप्रतिष्ठार्थं भक्तानां हितकाम्यया ।।१।। उपदेक्ष्यति तज्ज्ञानं शिष्याणां ब्रह्मसंज्ञितम् सर्ववेदान्तसारं हि धर्मान् वेदनिदर्शनान् ।। २ ।। ये तं प्रीत्या निषेवन्ते येन केनोपचारतः। विजित्य कलिजान् दोषान् यान्ति ते परमं पदम् ।।३।। अनायासेन सुमहत् पुण्यं ते यन्ति मानवाः। अनेकदोषदुष्टस्य कलेरेष महान् गुणः ।। ४ ।। कूर्मपु. पूर्वखं. अ. ३० ।।

कार के अभाव द्वारा होता है, और सूर्योदय के बिना अज्ञान संशय और भ्रम रहते हैं, तैसे ही वेदार्थ विषयक जो अज्ञानादि हैं, उनको श्रीशंकर का व्यख्यान नष्ट करेगा। क्योंकि ते=वे श्री शंकर यथार्थ व्याख्यान उपदेश करेगें, और संशय तथा अयथारथ भ्रम को नष्ट करेगें ॥६-७॥ इत्यादिक श्री व्यासजी के बचनों से श्रीशंकराचार्य के वचन प्रमाण रूप सिद्ध होते हैं। और मध्वादिक का भेद मत सत्य एकात्म ज्ञान के लिए अप्रमाण रूप हैं, अधिकारी विशेष के प्रति भक्ति उपासना विशेष के ज्ञान मात्र के लिए सभी प्रमाण रूप है ॥ अतः ज्ञानार्थक रूप से भेदवाद का व्याख्यान व्यर्थ है ॥ और उपनिषद्, गीता, ब्रह्म सूत्र, ये तीन जो वेदान्त के प्रस्थान हैं, तिन के स्वमतानुसार व्याख्यान यद्यपि मध्वादि ने किसी प्रकार खैंच कर किये हैं, तथापि व्यासवचन के अनुसार श्री शंकर कृत व्याख्यान ही यथार्थ है, मध्वादि कृत नहीं ॥ और आदि कवि सर्वज्ञ बालमीक रिषि ने उत्तर रामायण योग वासिष्ठ नामक ग्रन्थ किया है, तहाँ अद्वैत मत में प्रधान दृष्टि सृष्टि वाद का ही अनेक इतिहासों से प्रतिपादन किया है, अतः बालमीक बचनानुसार अद्वैत मत प्रामाणिक हैं, उससे विरुद्ध भेद मत अप्रामाणिक है ॥८-११॥ इस प्रकार सर्वज्ञ ऋषि मुनि बचनों से विरोध के कारण भेदवाद को अप्रमाण कहा गया है, और युक्ति से भी भेद वाद विरुद्ध है, सो खंडनादिक ग्रन्थों में श्री हर्षादिकों ने प्रतिपादन किया है, सो युक्ति कठिन है, अतः भेद के खण्डन की युक्ति यहाँ नहीं लिखी गई है। और ऋषि मुनि बचनों से विरुद्ध भेद मत मेंजैन मत की नाई=तुल्य अप्रामाणिकता के निश्चय होने पर युक्ति से खण्डन करने की अपेक्षा आस्तिक अधिकारी को नहीं रहती है, यह अर्थ तीन चौपाई द्वारा कहा जाता है।

—॥ चौपाई ॥—

**किये ग्रन्थ श्री हर्ष जु खण्डन। खण्डन भेद एकता मण्डन॥**
**लिख्यो तहाँ यह बहु विस्तारा। भेद वाद नहिं युक्ति सहारा।१२।**

श्री हर्ष नामक विद्वान्=कवि ने जो खण्डनखंडखाद्य ( खंडन ही खांड का भक्ष्य ) नामक ग्रन्थ किया है, उसमें भेद का खण्डन और एकता=अद्वैत का मण्डन=प्रतिपादन किया है. और बहुत विस्तार से यह लिखा है कि भेद वाद युक्ति को नहीं सह सकता है, अतः सत्य भेद वाद युक्ति विरुद्ध भी है. श्रुति विरुद्ध तो है ही ॥ १२ ॥

**और भेद धिक्कार जु ग्रन्था। तहाँ भेद खण्डन को पन्था ॥**
**कठिन दुरूह[1] तर्क हैं ते अति । नहिं पैठिहि सिष तिन में ते मति।१३**
**याते कही न ते तुहि उक्ती । करै जु भेदहि खण्डन युक्ती ॥**
**अप्रमाण मत भेद लख्यो जब । खण्डन में युक्ति न चहिय तब ।१४।**

वेद वचन से भी विरुद्ध भेद मत को कहा जाता है कि—

**भेद प्रतीति महा दुख दाता । यम[2] कठ में यह टेरत ताता ॥**
**याते भेद वाद चित[3] त्यागहु । इक अद्वैत वाद अनुरागहु ॥१५॥**

मृत्योः समृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ बृहदारण्यक ४।४।१९
द्वितीयाद् वै भयं भवति ॥ बृहदा. १।४।२॥
अन्याऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव
स देवनाम् । बृहदा. १।४।१०॥

---

१ दुःख से ऊह=तर्क करने योग्य ॥ २ यमराज रूप गुरु ने नचिकेता नामक शिष्य के प्रति कठ नामक श्रुति=उपनिषद में यह टेरत=कहा है । मृत्योः समृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति । कठ० २।४।११॥ ३ चित्त से त्यागो, तथा चिति चेतन सत्य स्वरूप में भेद वाद को त्यागो जड़ माया में मिथ्या भेद समझो । क्योंकि जो इस चिति स्वरूप में नाना के समान भी देखता है सो मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ तथा उसको दूसरे से अवश्य भय होता है ॥ वह परमात्मा अन्य है मैं अन्य हूँ, इस प्रकार जो समझता है, सो सत्य को नहीं जानता है, अतः वह मानो देवताओं का पशु ही है, इत्यादि श्रुतियाँ भेद की निन्दा करती हैं ॥

जो द्वितीय कूं मति में धारै । भय ताकूं यह वेद पुकारै ॥
ज्ञेय ध्येय मोते कछु औरा । लखै सु पशु यह वेद ढँढोरा॥१६।

सिष याते मध्वादिक वानी । सुनी सु विसरहु अति दुखदानी ॥
द्वैत बचन तब हिय में जौलो । ह्वै साक्षात् अद्वैत न तौलो ॥१७

॥ भछु की कथा और स्त्री पुत्रादि के दोषों का प्रदर्शन ॥

द्वैत वचन को स्मरन जु होवै । ह्वै साक्षात् तु ताहि विगोवै ॥
पूर्व स्मृती साक्षात् विनाशत । सुन इक अस तुहि कथा प्रकाशत

राजा[1] को इक भछू मन्त्री । राज काज सब ताके तन्त्री ॥
और मुसाहिब[2] मन्त्री जेते । करै ईर्षा[3] तासू ते ते ॥१६॥

करि न सकत भछू की हाना । महाराज निज जिय प्रिय जाना ॥
तब सब मिलि यह रच्यो उपाया । धारी[4] दौर दङ्गा मचवाया ।२०।

सो सुनि राजहि करी कचहरी । लिये बुलाय मुसाहिब[5] जहरी ॥
तिन सूं कह्यो वेग चढि जावहु । दौरत धारि सुधूम[6] नशावहु।२१

तब सब मिलि उत्तर यह दीना । सदा एक भछु हि तुम चीना ॥
मरण लिए अब हमहि पठावतु । भछू कूं कछु क्यूं नं चढ़ावतु२२

तब बोल्यो भछू कर जोरी । महाराज सुनु विनती मोरी ॥
आज्ञा होय मोहि यह रौरी[7] । मारूं सकल धारि जो दौरी २३।

---

१ एक राजा को एक भछू नामक मन्त्री था, और राज्य के सब कार्य उसके तन्त्री=आधीन था ॥ २ कार्य कर्त्ता ॥ ३ ईर्ष्या=उसके उत्कर्ष का असहन=द्वेष, ते ते=वे सब ॥ ४ नगर के धारी=धाड़ा वाले लुटेरे को ग्राम में दौड़ा कर दङ्गा=उपद्रव करवाया ॥ ५ तीव्र योधारूप सेनापति आदि ॥ ६ उपद्रव ॥ ७ आप की ॥

तब भल्लू कूं बोल्यो राजा। तुम चढि जाहु समारहु काजा ॥
ते जात हि भल्लू सब मारे। वनक[1] कृषीबल किये सुखारे२४
भल्लू विजय सुन्यो तिन जबही। राजा पै भाख्यो यह तबही ॥
भल्लू मर्‍यो न सुधर्‍यो काजा। मिथ्या वचन सुनत ही राजा२५
और प्रधान[2] मुसाहिव कीनो। छत्र रु पीनस[3] पंखा दीनो ॥
बन्दोबस्त तिन कीने आपनहु। सुनै न राजा भल्लू सुपनहु ॥२६॥
सब वृत्तान्त भल्लू तब सुनिके। रूप तपस्वि धर्‍यो यह[4] गुनिके ॥
राजा पै मुहि जान न दैहैं। गये द्वार लग प्राणहु लैहैं ॥२७॥
अब लग सबहि पदारथ भोगे। देह रु इन्द्रिय रहे अरोगे ॥
तिय[5] जो चारि चतुष्पद सोहत। चारि फूल फल खग मन सोहत२८

॥ दोहा ॥

करि[6] कर उरु मृग खुर पुरज, केहरि सी कटि मान।
लोचन चपल तुरंग से, वरनै परम[7] सुजान ॥ १ ॥

---

१ वैश्य=व्यापारी कृषिकर्ता को ॥ २ अन्य मुसाहिव को प्रधान मन्त्री किया ॥ ३ पालकी ॥

४ विचार करके ॥ ५ तिय=स्त्री जो वक्ष्यमाण रीति से चार चतुष्पद=पशु, चार फूल, चार फल, और चार खग=पक्षी के समान शोभति है ॥ ६ करी=हाथी के कर=सूंड के तुल्य उरु=जंघा, मृग खुर तुल्य पुरज=नव द्वार युक्त देह रूप पुर के जन्म के स्थान योनि कही जाती है ॥ ७ परम सुजान, मतिधाम आदि कथन से सूचित किया गया है कि यह वर्णन कल्पित का अनुवाद रूप किया गया है, सो दोषदर्शन कराने के लिये (अलङ्कृत्य शिरश्छेदन न्याय) से ही किया गया है, उपादेय दृष्टि से नहीं, मध्यम अधिकारी के लिये दोष दर्शन कराया गया है ॥

कमल बदन अलसी[1] कुसुम, चिबुक चिह्न मति धाम ।
तिल प्रसून सी नासिका, चम्पक[2] तनु अभिराम ॥ २ ॥
बिम्ब[3] अधर दारिम[4] दसन, उरज[5] बिल्ल से धीर ।
कोहर[6] सी एडी कहत, कोविद मति गम्भीर ॥ ३ ॥
है मराल सी मन्द गति, कण्ठ कपोत सुढार ।
पिक सी वाणी अति मधुर, मोर पुच्छ से बार ॥४॥

॥ चौपाई ॥

गङ्ग[7] पयोनिधि कबहु न त्यगत । जाते रसिक सुमन अनुरागत ॥
विधि तिलोत्तमा अपर बनाई । हन्यो सुन्द जिन सो न सुहाई ।२९
मिहिंदी जावक कर पद रागा । तिनको मैं किय निमिष न त्यागा ॥
और भोग तिनके उपकरना । भोगे सबे निकट भौ मरना ॥३०॥
अहो मूढ को मम सम जग में । भौ लम्पट अब लग मैं भग में ॥
गीलो मलिन मूत्र ते निसिदिन । स्रवत मांसमय रुधिर जुछत बिन३१
चर्म लपेट्यो मांस मलीना । ऊपरी बार अशुद्ध अलीना ॥
इनमें कौन पदारथ सुन्दर । अति अपवित्र ग्लानी को मन्दिर३२
तिय की जंघ जघन्य सदा ही । रम्भा करि कर उपमित जाही ॥
आर्द्र[8] मूत को मनु पतनारो । रुधिर मांस त्वक् अस्थि पसारो३३

---

१ तीसी के फूल के समान चिबुक=दाढ़ी के चिह्न होते हैं ॥
२ चम्पा के फूल के समान शरीर अभिराम=सुन्दर=गौर ॥
३ तिलकोर ॥ ४ अनार दाना तुल्य दांत ॥ ५ स्तन॥ ६ सलगम ॥

७ अब 'दोष दर्शाया जाता है कि जैसे अगाध जल का आश्रय समुद्र गङ्गा को कब ही स्वभाव से ही नहीं त्यागता है, तैसे ही स्त्री आदि में शोभन मन वाला रागी जीव स्वयं परमानन्द स्वरूप होता हुवा भी जिसमें अनुराग कर लेता है उसको नहीं त्यागता है,

प्रायः कलि में विपत्ति दुःख काल में वैराग्य होता है, सत्सङ्गादि में प्रवृत्ति होती है विवेक से नहीं। अतः विपत्ति से विरक्त हो कर भर्तृ कहता है कि मेहदी और जावक=महावर का राग=लाली जिसके कर और पैर में ही थे, हृदय में मेरे विषयक वा धर्म विश्वंभर विषयक राग=प्रेमभक्ति आदि जिसमें नहीं थे, उन स्त्रियों को भी मैं ने मोह वश अब तक निमिष मात्र भी नहीं त्यागा था, और भी जो उन भोगों के उपकारक हैं, उन सबको मैंने भोगा, और भोग में ही मरण पास में आ गया ॥ ३० ॥

आगे भर्तृ ने पश्चाताप करता हुआ संसार की दशा का वर्णन किया है ॥ लम्पट=आसक्त। छत्त=कटे फटे के बिना ॥ अलीन= अपवित्र ॥ जघन्य=निन्दित=निकृष्ट ॥ रम्भा=केला का स्तम्भ ॥ पतनारा=नाली ॥ ३१-३३ ॥

**लगत जुनीके स्थूल नितम्बा[1] । तिनके मध्य मलिन मल बम्बा ॥**
**तट ताके ते अतिदुर्गन्धा । ह्वै आसक्त तहाँ सो अन्धा ॥३४॥**

---

क्योंकि उसको सुन्दर मानता है, परन्तु वह सुन्दर नहीं है ॥ क्योंकि जिससे पर=उत्तम अन्य नहीं हो, उस अपर=सर्वोत्तम तिलोत्तमा को ब्रह्मा जी ने स्वयं रचा, फिर जिसने सुन्द निसुन्द को नष्ट किया, सो भी घातक होने से सोहाई=सुन्दर नहीं कही जा सकती, तो घात=आत्म विमुखता का हेतु रूप अन्य स्त्री आदि कौन वस्तु सुन्दर कही जा सकती है ॥ सुन्द उपसुन्द=निसुन्द नामक दो दैत्य ने तप करके परस्पर मृत्यु के विना अमरत्व वर को ब्रह्मा जी से प्राप्त करके संसार में उपद्रव करने लगे, तब ब्रह्मा जी ने तिलोत्तमा को रच कर उनके पास भेजा, फिर उसके लिये दोनों परस्पर लड़ कर एक वार ही मर गये, विशेष महाभारत में द्रष्टव्य है ॥२९॥

१ कटि का पाश्चात् भाग ॥

अधर[1] जो थूक लार से भीजत । तजि ग्लानी निज मुख में दीजत ॥
दृष्टमदा नारी मदिरा भजि । शुद्ध अशुद्ध विवेक दियो तजि ॥३५॥
कहत नारि के अङ्ग जु नीके । करत बिचार लगत यूं फीके ॥
कपट[2] कूट को आकर नारि । मैं जानी अब तजन विचारी ॥३६

१ कपट=दम्भ=माया के कूट=समूह की आकर रूप नारी को मैंने अब जान ली है. अतः अब उपरतता के कारण वह स्त्री त्यागने के लिये विचारी गई है ॥ ३६ ॥

नहिं स्त्री पुरुष कहिय कोइ जीवा । नहिं पशु पक्षि देव नहिं क्लीवा॥[3]
देह माहि ये सकल विभेदा । मल गुण दोष त्रिविध भव खेदा ॥
कारण देह अविद्या माही । मल दुख बीजहुँ रहत सदाही ॥१॥
सूक्ष्म देह में अङ्कुर होवै । स्थूल माहिं दुख बन संयोवै ॥
यों बिचारि भर्तृ निजरागा । त्यागा गहिकर दृढ़ वैरागा ॥२॥

॥ भर्तृ बचन ॥

कलाकन्द दधि पायस पेरा । तन्दुल घृत व्यञ्जन बहुतेरा ॥
और त्रिविध भोजन जे कीने । तिन सबके रसना रस लीने ॥३७

---

१ ओष्ठ थूक और लार से जो भीजते रहते हैं, उन्हें भी ग्लानि को त्याग कर अविवेकी कामी अपने मुख में देते हैं, परन्तु मध्यम अधिकारी को भी सर्वथा, इन व्यवहारों में ग्लानी कर्त्तव्य है, इस कथन से ( दृगनारी लखि है जिय ग्लाना ) इस वर्णित उपरति की कर्तव्यता को दर्शायी गयी है, क्योंकि उपरति के बिना दृष्टमदा, देखते ही मद करने वाली नारी को सेव कर मनुष्य, मनुष्यता रूप, शुद्ध अशुद्ध के विवेकादि को भी त्याग देता है ॥ ३४=३५ ॥

२ नपुंसक ॥ ३ मिश्री मेवा आदि से रचित पाक विशेष ॥ पायस=खीर ॥ तन्दुल=तण्डुल=चावल ॥

अब लौं भई न तृप्ति जु याकूं । याते वृथा पोषना ताकूँ ॥
छुधा विनाशहि बन फल कन्दो । ह्वै क्यूं पराधीन यह बन्दा ॥३८
गुहा महल बन बाग घनेरा । क्यूं राजा को ह्वै हूँ चेरा ॥
सैज शिला अरु निज भुज तकिया ।
निर्झर[1] जल कर पात्र न रुकिया ॥ ३९ ॥

( सुखविभेदप्रदर्शनपूर्वक—एकान्तनिवासमहिमा )

बैठि इकन्त होय सुछन्दा । लहिये भच्छूं परमानन्दा ॥
बिनु इकान्त न आनन्द कबहू । मिलै[2] अब्धिलौं पृथ्वी सबहू ॥४०॥
दोहा=पृथ्वीपति निरोग युव, दृढ स्थूल बलवन्त ।
विद्यायुत तिहि भूप में, मानुष सुख को अन्त ॥५॥

॥ चौपाई ॥

जे मानव गन्धर्व कहावत । ता नृपते शतगुन सुख पावत ॥
होत देव गन्धर्व जु औरा । तिन ते तहँ सतगुन सुख व्यौरा[3] ॥४१॥
सुख गन्धर्वदेव को जोहै । तातैं शतगुन पितरन को है ॥
पुनि अजान देव में तिनतैं । सौगुन कर्मदेव में जिन तैं ॥४२॥
मुख्यदेव जेहैं पुनि तिन में । कर्मदेव तैं सौगुन जिन में ॥

ग्यारह रुद्र, बाहर आदित्य, और आठ वसु ये इकतीस मुख्य देव कहे जाते हैं ॥

जो त्रिलोकपति इन्द्र कहीजै । तामें पुनि सौगुन गिनि लीजै ॥४३॥
सब देवन को गुरु वृहस्पति । लहै इन्द्र ते शत गुण सुखगति ॥
जाको नाम प्रजापति भाखत । गुरू ते सुख सौगुन सो राखत ॥४४॥

---

१ झरना ॥ कर=हाथ । रुकिया=मृतिका के पात्र कुरवा आदि भी नहीं ॥ २ समुद्र पर्यन्त ॥ ३ व्यवहार ॥

ताहू ते सौगुन ब्रह्म हि[1] सुख । लहै न रञ्चक सो कबहू ँ दुख ॥
इतने या क्रमते सुख पावत । तैत्तिरीय श्रुति यू ँ समुझावत ॥४५॥
सोरठा=राजा ते ब्रह्मान्त, कह्यो जो सुख सगरो लहै ।
रहत सदा एकान्त, काम दग्ध[2] जाको न हिय ॥१॥

॥ चौपाई ॥ ( स्त्री आदि के संग से दुःख वर्णन )

ह्वै एकान्त देश में अस सुख । युवति पुत्र धन सङ्ग सदा दुख ॥
युवति कुरूप कुबोलिनि जाके । सदा शोक हिय ह्वै यह ताके ॥४६॥
प्रभु पुरीष[3] पण्डा यह रण्डा । दिय मोहि कौन पाप को दण्डा ॥
बोलत बैन व्याल कामिनि के । भेड भैंसि न्योरि नागिनि के ॥४७॥
भूत भावती ऊठनि[4] कोहै । बोल खरी को सुनि खर मोहै ॥
रैनि जो ऊँचे स्वरहि उचारत । स्यार हजारन सुनत पुकारत ॥४८॥
निरपराध तिय बिन वैरागा । तजत न बनत पाप[5] जिय लागा ॥
रहत दुखित यू ँनिशिदिन पिय मन । तिय कुबोल सुनि लखि
कुरूप तन ॥४९॥
कामिनि ह्वै जु सुरूप सुबानी । सो कुरूप ते ह्वै दुखदानी ।
चमक[6] चामकी पियहि पियारी । अर्थ धर्म नशि मोक्ष बिगारी ॥५०

---

१ ब्रह्मा को ॥ २ जिसके हृदय में काम जन्य दग्ध=दाह=ताप नहीं है, अर्थात् जिसके काम दग्ध= नष्ट हो गये हैं, अतः हृदय में काम नहीं हैं ॥

३ मल का पिण्ड रूप रण्डा=स्त्री ॥ व्याल=सर्प ॥ नागिनी= हस्तिनि=वा सर्पिनी विशेष ॥ ४ क्रुद्ध होने पर भूत की भावना वाली हो कर ऊठती हैं ॥ तो भी उसकी बोली=बात सुन कर मनुष्य मोहित होता है, जैसे कि खरी की बोली से खर=गदहा मोहता है ॥ ५ पूर्व जन्म का पाप ऐसी स्त्री रूप से जीव को मिला है ॥ ६ चमक युक्त चाम वाली ॥

मीठे वैन जहर युत लड़वा। खाय गमाय बुद्धि ह्वै भड़वा।।
और कछू स्वप्नहु नहिं देखै। काम अन्ध इक कामिनि लेखै ।।५१।।
धन कछु मिलै जु बाहिर घर में। सो सब खरचै कामिनि धर में।।
भूषण वस्त्र ताहि पहिरावै। गुरु पितु मातु यादिहुँ नहिं आवै ।।५२।।
पायस पान मिठाई मेवा। देय भक्ति ते तिय निज देवा।।
नेह-नाथ-नाथ्यो नहि छूटै। तिय किसान पिय बैलहि कूटै[1] ।।५३।।
ज्यूँ सूवा पिंजरे में बधुवा। सिखयो बोलत शुद्ध अशुधवा।।
तैसे जो कछु नारि सिखावत। सो गुरु पितु मातु ही सुनावत ५४
जैसे मोर मोरनी आगे। नाचि रिझाय आप अनुरागै।।
तैसे विविध वेष करि तियको। मन रीझाय रीझत मनपियको ४५
जब दुहून को मन अनुराग्यो। तब हि मदन मदिरा मद जाग्यो।।
भये बावरे बसन हु त्यागे। अति उन्मत्त घुरन पुनि लागे ५६
प्रेत रूप धरि नग्न अमंगल। भिरि फिरि भिरत मेष मन[2]दङ्गल।।
ज्यूं लोटत मद्यपि मतवारो। गिनत मलीन गलिन न नारो।५७।
त्यूं नर नारी मदन मद अंधे। अति मलीन अंगन में बन्धे।।
करत मदन मद भ्रम जे मनकूं। ह्वै अचरज सुनि त्यागी जनकूं ५८
नशै मदन मद ते,मति नर की। लखत न ऊँच नीच पर घर की।।
तियहुँ बावरी मदन बनाई। क्रिया दुखद जिहि ह्वै सुखदाई।५९।
प्रबल काम मदिरा मद जागै। तब द्विजतिय धानक[3] ते लागै।।
पिये मदन मदिरा नर[4] नारी। ऐसे करत अनंत खुवारी।।६०।।
काम दोष यूं नरहि विगोवत। प्रकट सुन्दरी सो तिय जोवत।।
याते अति सुरूप तिय दुखदा। ताको त्याग कहत मुनि सुखदा६१

---

१ कष्ट देवी है।।

२ मन रूप मेष=भेंडा के दंगल=युद्ध में।। ३ हीन जाति विशेष
४ जो युवती अनुभवति प्रसव आति, दारुण दुख उपजै। ह्वै अनुकूल
विसारि शूल सठ, पुनि खल पति हि भजै।। (गो. तुलसी दास जी)।।

जो सुरूप तिय में अनुरागत । विष सम दुखद पेखि नहिं भागत।।
उभय लोक की करत सु हानी । मुनि जन गन गुन साख बखानी६२
"धर्म विमुख जो कामि विमूढा । तथा नारि जो धर्म न रूढा ।।
तिनकी सकल कथा यह गाई । सद् गृहस्थ नाहीं अस भाई ।३।।
विधि अनुसार करहिं ते प्रीति । धर्म न त्यागहि तजहि अनीति ।
न्यायार्जित धन धर्म हुँ राखी । करि उपकार भजहिं प्रभु साखी४।
राखहिं ब्रह्मचर्य निज योग्यम् । सो गृहस्थ पावहि शिव भोग्यम् ।
याते ब्रह्मचर्य हित साँची । कहत कथा सो मन धरु बाँची"।।५।
जो नानाविध भोजन खावै । रस ताको फल बिन्दु उपावै ।।
जीवन बिन्दु अधीन सबन को । नशत शोक बिंदु हुँ ते मनको६३
ह्वै जब जन को मन मलवासी । करत शोक अतिधरत उदासी ।।
रुधिर निवास करत मन जबहू । चञ्चल अधिक रजोगुण तबहू६४
जब मन करत बिन्दु में वासा । तबै शोक चञ्चलता नाशा ।।
पुनि आपहि बलवत जन जानै । ह्वै प्रसन्न शुभ कारज ठानै ।६५।।
बिन्दु अधिक होवै जा जन में । सुन्दर कान्ति रूप ता तन में ।।
बिन्दु हु को तन में उजियारो[१] । नशै बिन्दु तन मनु हतियारो६६
जाको बिन्दु न कबहू नाशै । बलि[२] न पलित तिहि तन परकाशै
योगी करत खेचरी[३] मुद्रा । ताते बिन्दु राखि ह्वै भद्रा[४] ।।६७।।
अष्ट सिद्धि जे धारत योगी ।
बिन्दु खसै हारत ते भोगी ।।
अस अति उत्तम बिन्दु जु जग में ।
तिहि तिय छीनि लेत निज भग में ।।६८।।

---

१ कान्ति=शोभा=प्रकाश ।। २ वलि=चर्मसंकोचादि । पलित =वाल में सफेदी ।। ३ मन सहित जिह्वा की ऊर्ध्वगति रूप आकार क्रिया विशेष ।। ४ शुभ=सुखी मुक्त ।।

ज्यूं किसान बेलन में ऊँख हि। पेरत लेत निचोरि पियूखहि[१]।
बार बार बेलन में धारहिं। ह्वै असार दथ्या तब जारहि ॥६९॥

ऊख के टुकड़े को बाँध कर वेलन=कोल्हू में देते हैं, उसको पञ्जाब में दथ्या कहते हैं ॥

त्यूं तिय भीचि सुजन में पीको। भरत योनि घटं खीचि[२] अमीको॥
पुनि पुनि करत क्रिया नित तौलो। शेष बिन्दु को बिन्दु न जौलो
कियो असार नारि नर देहा। खीचि फुलेल फूल ज्यूं खेहा॥
भौ अकाम सब ताहि जरावै। सूके वैन मुरार[३] लगावै ॥७१॥
ह्वै जु सरूप जोर धन भारी। ता नर पै नारी बलिहारी॥
करि सुरूप धन बल को अन्ता। कहत ताहि तूं[४] काको कन्ता ७२
तिहि पुनि मिलन चहै जु अनाड़ी[५]। कर धर[६] पै धरत हुं दे गारी।
नाक चढ़ाय आँखिहू मोरै। जाय न पति सेजहु के धोरै[७] ॥७३॥
कोटि वज्र सघात जु करिये।
सबको सार खीचि इक धरिये॥
तिय[८] के हिय सम सो न कोठरा।
रिषि मुनि गन यह देत ढढोरा ॥७४॥
करत गुमान हटत तिय ज्यूं ज्यूं।
चिपटत शठ[९] मति जन मन त्यूं त्यूं॥
कबहुक ताको वांछित करिके।
मरण अन्त छोड़त न पकरिके॥

---

१ पियूष=अमृत=पय तुल्य रस ॥ २ अमृत तुल्य जीवन का हेतु वीर्य को ॥ ३ अग्नि ॥ ४ काम वश व्यभिचार करने वाली इस प्रकार कहती है ॥ ५ व्यभिचारी ॥ ६ धड़=देह पर ॥ ७ धौरे=समीप में ॥ ८ पातिव्रत्य सत्य धर्म रहित स्त्री ॥ ९ कामी व्यभिचारी=कुटिल ॥

पढ्यो पुराण वेद[1] स्मृति गीता । तर्क निपुण पुनि किनहु न जीता॥
करत अधीन ताहि तिय ऐसे । बाजीगर बन्दर कूं जैसे ॥७६॥
सब कछु मन भावत करवावत ।
पढे पशुहि भल भाँति नचावत ॥
उक्ति युक्ति सब तब ही बिसरै ।
जब पण्डित पढि तिय पै ढिसरै ॥७७॥
जब कबहू सुमरत यह वेदा ।
तब तिय में मानत कछु खेदा ॥
तिहि त्यागन[2] की इच्छा धारै ।
पुनि तिय नैन सैन सर सारै ॥७८॥
जहर कटाक्ष नैन सर बोरै ।
तानि कमान भौंह जुग जोरै ॥
मारत सारत हिय सब जन को ।
विज्ञहु बचत न धन शठ गन को ॥७९॥

विज्ञ=विद्वान् भी विवेकादि के बिना दुष्ट स्त्री के फन्दे से नहीं बचते हैं, तो शठ गन को धन=धन्य होने की बात कहाँ हैं ॥

भयो न तिय में तीव्र विरागा ।
यूं मतिमन्द करत पुनि रागा ॥
करत विविध आज्ञा ज्यूं चाकर ।
हुकुम करै बैठी मनु ठाकर[3] ॥ ८० ॥

---

१ वेदादि को पढ़ने वाले भी कोई शठ काम और कामिनी को नहीं जीत सके ॥ २ विवेकादि बिना दुःखादि बुद्धि से राग रहते भी राजस तामस त्याग करना चाहते हैं । अतः फिर कामादि के वश में शास्त्रज्ञ भी होते हैं ॥ ३ ठाकुर=स्वामी ॥

जे नर नारि नयन शर बीधे ।
तिन के हिये होत नहिं सीधे[1] ॥
भलो बुरो सुख दुख सब विसरत ।
ते कैसे भव दुख ते निसरत ॥ ८१ ॥
नारि बुरी[2] वेश्या अरु पर की ।
तीजी नरक निसेनी घर की ॥
तजत विवेकी तिहुं में नेहा[3] ।
करै नेह तिहि शठ मुख खेहा ॥ ८२ ॥

॥ दोहा ॥

अर्थ धर्म अरु मोक्ष कूं, नारि विगारै ऐन[4] ।
सब अनर्थ को मूल लखि, तजै ताहि ह्वै चैन[5] ॥ ६ ॥
पुत्र सदा दुःख देत यूं, बिना प्राप्ति दुःख एक ।
गर्भ समय दुख जन्म दुख, मरै तु दुख अनेक ॥ ७ ॥

॥ चौपाई ॥

गर्भ धरत जौं लो नहिं नारी । दुख दम्पति[6] मन तौलों भारी ॥
ह्वै जु गर्भ यह चिन्ता नाशै । पुत्री होय कि पुत्र प्रकाशै ॥८३॥
गर्भ गिरन के हेतु अनन्ता । तिनते डरत करत अति चिन्ता ॥
ह्वै जु पुत नव मास विहानै । जननी जनक अधिक दुख सानै ॥८४
नव ग्रह में इक द्वै नहिं बिगरै । अस जन को[7] जन्मन जग सगरै ॥
विगरै ग्रह की निसदिन चिन्ता । करत मातु पितु बैठि इकन्ता ॥८५

---

१ शुद्ध=सरल=कपट रहित ॥ २ नरक रूप ॥ ३ स्नेह=प्रेम आसक्ति संगादि ॥

४ अवश्य ॥ ५ आनन्द शान्ति ॥ ६ पतिपत्नी दोनों के ॥ ७ न जन्म जग, यह पाठान्तर है नव ग्रह में एक दो नहीं बिगरे रहें ऐसा जन्म नहीं होता है ॥

शिशु उदास ह्वै जब तजि बोबा[१] । तब दोऊ मिलि लागत रोवा ॥
यूं चिन्तत कछु गये महीने । दाँत पूत के निकसे झीने ॥८६॥
मरत बाल बहु निकसत दन्ता । तब यह चिन्ता दुखतिय कन्ता॥
जिये दूबरो दुखते बारो[२] । देखि चुहारो[३] धरत उतारो ॥८७॥
म्लेच्छ चमार चूहरे कोरी । तिनते झरवावत द्विज[४] धारी ॥
सइयद ख्वाजा पीर फकीरा । धोकत[५] जोरत हाथ अधीरा ॥८८
जाकूं हिन्दु कबहुं नहिं मानै । पुत्र हेतु तिहि इष्ट पिछानै ॥
भैरो भूत मनावत नाना । धरत शिवाबलि[६] भूमि मशाना ॥८९
धानक[७] को डमरू धरि बाजै । कर जोरत पूजत नहिं लाजै ॥
और जन्त्र ताबीज घनेरे । लिखि मढ़वाय पूत गर[८] गेरै ॥९०॥
निज कुल में एक अच्युत[९] पूजा । किनहु न सुपनहु सुमर्‌यो दूजा॥
सो कुल नेम पूत हित त्याग्यो । व्यभिचारन ज्यूं जहँ तहँ लाग्यो ॥९१
होत शीतला को जब निकसन । नशत मातु पितु मन को विकसन ॥
स्नान क्रिया तजि रहत मलीना । परम देव गदहा को कीना ॥९२
मोरि[१०] बाग बकसहु शिशु मोरा । गदहा मातु चराऊँ तोरा ॥
यूं कहि चना गोद में धारै । विनती करि गदहा कूं चारै ॥९३॥
अस अनन्त दुख ते शिशु पारन । युवा होत लौ और हजारन ॥
उमर पूत की ह्वै जो थोरी । मरि है करहु उपाय करोरी ॥९४॥

---

१ स्तन ॥ २ लड़का = बच्चा दुख से दुबला होकर भी जीवे ॥ ३ चुहार = हीन जाति विशेष वा चौराहे को देख कर उतारा = बच्चे के शिर से कुछ वस्तु न्योछ कर धरते हैं ॥ ४ ब्राह्मण की स्त्री ॥ ५ विनय करते हैं ॥ ६ बलिदान विशेष चौराहे भूमि वा श्मशान में धरते हैं ॥ ७ धानक = हीन जाति विशेष डमरू घर में बजाता है ॥ ८ गले में डारते देते हैं ॥ ९ अच्युत = विष्णु = सात्विक देव ॥ १० मेरी विनती रूप वचन से ।

मरै मातु पितु कूटहिं माथा। मानि आप कूं दीन अनाथा॥
हाय-हाय करि निशिदिन रोवैं। करि धिक-धिक निज जन्म विगोवैं॥९५
पूत मरण को ह्वै दुख जैसो। लखत सपूत अपूत न तैसो॥
जो जीवै तो होतहि तरुना। लगत नारि के पोषन भरना॥९६॥

सपूत=जीवित पुत्र वाला, और अपूत=पुत्र रहित, पुत्र मरण जन्य दुःख को मृत पुत्र वाले के समान नहीं समझते हैं॥

जिन अनेक यत्ननि प्रतिपारौ। तिनको जल प्यावन है भारौ॥
रजनी सेज पै सिखवै नारी। तब पितु मातु देत मुहि गारी ९७
ह्वै सपूत तो प्रातहि उठि कै। नवैं दूर ते माथ न[1] गठि कै॥
चहैं मातु पितु आवै नेरै[2]। पूत न सन्मुख आँखिहुँ हेरै[3] ९८
ह्वै कुपूत तौ उठतहिं प्राता। वचन गारि सम बकि असुहाता॥
जुदौ होय ले सब घर को धन। दे पितु मातुहि इक तिनको तन९९
फेरि सँभारत कबहुँ न तिनको। पोषत सब दिन तिय निज तनको।
देखि लेत पितु मातु उसासा[4]। या विधि पुत्र सदा दुखरासा[5] १००
पाप रचित पुत्रन की बाता। कहिया जो कलि अति विख्याता।
राम भीष्म सरवन सम पूता। होंहि न अस कलि हूँ अजगूता।१।

दोहा

करि विचार यूं देखिये, पुत्र सदा दुख रूप।
सुख चाहत जे पुत्र ते, ते मूढन के भूप॥ ८॥
"पुत्र रहित की गति नहीं, यह पशु सम का ज्ञान।
धर्म ज्ञान सद् भक्ति से, सुगति लखत मतिमान"॥१॥

---

१ समीप में नहीं जाकर॥ २ पास में॥ ३ आख से भी नहीं देखता है। ४ ऊर्ध्व श्वास॥ ५ राशि=समूह॥

तजि तिय पूत[1] जु धन चहै, ताके मुख में धूर ।
धन जोरन रक्षा करन, खरच नाश दुख मूर ॥९॥

॥ चौपाई ॥

जो चाहै माया[2] बहु जोरी । करै अनर्थ सु लाख करोरी ॥
जाति धर्म कुल धर्म सु त्यागै । जो धन कूं जोरन जन लागे १०१
बिना भाग तदपि न धन जुरिहैं। जुरै तु रच्छा करि करि मरिहैं ॥
खरचत धन घटिहैं यह चिन्ता । नाशै निशदिन ताप अनन्ता१०२
सदा करत यूं दुख धन मन कूं । चहै ताहि धिक धिक तिहि जनकूं
युवति पूत धन लखि दुख दाता । तज्यो भर्छु ममता को नाता१०३

॥ कुण्डलिया छन्द ॥

भर्छू बन एकान्त में, गयो कियो चित शान्त ।
भयो नयो दीवान तिन, सुन्यो सकल वृत्तान्त[3] ॥
सुन्यो सकल वृत्तान्त, चिन्त[4] यह उपजी ताके ।
जो नृप जीवत सुनै, मिलै बा काहू नाके[5] ॥
तो झूठे हम होंहिं, भूप दे सब कूं दण्डा ।
याते सब मिलि कहौं, भर्छु भौ प्रेत प्रचण्डा ॥ १ ॥

दोहा

करि सलाह यह परस्पर, गये कचहरी बीच ।
सबहि कही यह भूपते, भर्छु प्रेत भौ नीच ॥१०॥

---

१ स्त्री पुत्र को त्याग कर संन्यासी आदि होकर जो धन चाहता है, सो तो सदा व्यर्थ कष्ट ही सहता है, सद् गृहस्थ मात्र को न्यार्जित धन की आवश्यकता होती है ॥ २ गृहस्थ भी जो माया मय अन्यार्याजित बहुत धन को जोरना चाहता है सो बहुत अनर्थ करता है ॥ ३ वार्ता=भर्छूं की प्रवृत्ति ॥ ४ चिन्ता=स्मृति ॥ ५ बन के मार्गमें ॥

राख लगाये देह में, मिलि जाहि बतरात[1]।
तिहि मारत सो नर वचत, जो तिहि देखि परात ॥११॥
॥ परात=भाग जाय, मिले नहीं ॥
सुनि भूपहु निश्चय कियो, भर्छु मरि भौ प्रेत।
साच झूठ भूप न लखत, ह्वै जु प्रमाद अचेत ॥१२॥
कछु दिन बीते भूप तब, मारन गयो शिकार।
पैठ्यो गिरि बन सघन में, जँह मृगराज हजार ॥१३॥
तपत तहाँ इक तरु तरै, भर्छु निज दीवान।
पेखि ताहि भाज्यो उलटि, मानि प्रेत दुखदान ॥१४॥

इन्दव छन्द

भर्छु मर्‍यो अरु प्रेत भयो यह, वाक्य असत्यहुं सत्य पिछाना।
देखि लियो निज आँखिन जीवत, तौहुँ परेत हुँ मानि भगाना॥
बञ्चक ते सुनि द्वैत तथा मति, में विश्वास करैं जु अजाना॥
ब्रह्म अद्वैत लखै परतच्छहुं, तौहु न ताहिं हिये ठहराना ॥२॥

दोहा—भेद वचन विश्वास करि, सुनत जु कोउ अजान।
सो जन दुख भुगतै सदा, ह्वै न ब्रह्म को ज्ञान ॥१५॥
याते सुनै जु भेद के, वचन लखै सु असत्य।
तब ही ताकूं ज्ञान ह्वै, महावाक्य ते सत्य ॥१६॥

॥ चौपाई ॥ ( गुरु का उपदेश और कथा )

शिष तैं सुनि जो भेद कहानी। जान झूठ ते नरक निसानी॥
तिनके कहनहार सब झूठे। पुरुषारथ सुख ते शठ रूठे ॥१०४॥
तिनको संग न कबहू कीजै।
ह्वै जो संग न बचन सुनीजै।
जो कहुँ सुनै तु सुनतहि त्यागहु।
म्लेच्छ[2] जैन वचसम लखि भागहु ।१०५।

---

१ बात करे॥ २ शौच स्नानादि सत् क्रिया से रहित हिंसकादि। अनीश्वरवादी॥

जो मिथ्या ह्वै दैशिक वेदा । कैसे करही भव दुख छेदा ॥
याको अब उत्तर सुनि लीजै । मिथ्या दुख मिथ्या ते छीजै।१०६।
वेद रु गुरू सत्य जो होवै । तौ मिथ्या भव दुख नहिं खोवै ।
या में इक दृष्टान्त सुनाऊँ । जाते तब सन्देह नशाऊँ ।।१०७।।
सुरपति इन्द्र स्वर्ग में जैसो । प्रबल प्रताप भूप इक तैसो ॥
भीम समान् शूर बहु तेरे । तिनके चहुंधा डेरे गेरे[1] ।।१०८।।
जोधा ले निज निजहथियार । खरे रहे तिहि द्वार हजारन ।।
अन्दिर[2] मन्दिर ड्योढ़ी ठाढे । लिये खडग कोशन ते काढ़े ।१०९।
ऊँचो महल अटारी जामें । फूल सैज सोवै नृप तामें ।।
पंछी हूँ पौचन नहिं पावै । तहाँ और कैसे चलि जावै ।।११०।।
तहाँ भूप देख्यो अस सुपना । पकर्यो पैर गादरी[3] अपना ।।
भूप छुड़ायो चाहत निजपग। तजत न गादरि पकरि जु पगरग।१११
तब राजा यूं खरो[4] पुकारै, । हैको अस जो गादरि मारै ।।
जोधा जो ठाढ़े निज द्वारा । तिन रञ्चकहु न दियो सहारा ।।११२।।
तब नृप दण्ड लियो निजकर में । आपुहि मार्यो स्यारनिसिर में ।
लगत दण्ड भौ ताको अन्ता । तब निसरे पगरग ते दन्ता ।।११३।।
दाँत लगे गाढ़े नृप पग में । यूं लँगरात सुचालत मग में ।।
तब चाल्यो ले लाठी कर में । पहुँच्यो घावरिया[5] के घर में ।११४।
ताहि कह्यो फोहा[6] अस दीजै। घाव पाँव को तुरत भरीजै ।।
घावरिया नृप ते यह भाख्यो । फोहा नहिं तयार घर राख्यो ।११५
जो तूं दे पैसा इक मोकूं । तौ तयार करि देहूँ तोकूं ।।
तब उलट्यो नृप लाठी टेका । नहिं दैन कूं कौड़िहु एका ।११६।।

---

१ डेरा दिये थे ।। २ प्रत्येक महलों के दरवाजे पर पहारे दार खड़े थे ।। ३ गिदरी ।। ४ ऊँच स्वर।। ५ घाव की औषधि करने वाले ।। ६ मलहम पट्टी ।।

लाग्यो सोच करन टरि घर ते। बूझैं बात कौन बिनु जरते[१] ॥
जो मैं होत धनी बड़ भागा। आबत घर घावरिया भागा ॥११७।
मोहि निकम्मा जानि कँगाला। घर ते तुरत रोग ज्यूं टाला ॥
यार्हां को कछु दोष न दीजै। बिनु स्वारथ कोकिहि न[२] पतीजै११८
मातु पिता बांधव सुत नारी। करत प्यार स्वारथ ते भारी ॥
जो नहिं स्वारथ सिद्धी पावैं। तौ इनको देख्यौहु न भावैं।११९।
जा बिनु घरी एक नहिं रहते। दुख अपार बिछुरे सब लहते ॥
जब देखैं आयो घर पौरी[३]। घर के मिलत भाजि[४] भरि कौरी।१२।

विधि अधीन कोढ़ी सो होवै।
सब अङ्गनि में पानी चोवै ॥
अरु[५] जरि परी आँगुरी जाके।
भिन-भिनात मुख माखी ताके ॥१२१॥
कहत ताहि ते घर के प्यारे।
मरि पापी अब तो हतियारे ॥
जिहि देखत अँखियाँ न अघानी।
तिहि लखि ग्लानि वमन ज्यूं आनी ॥१२२॥

जो तियहिय लागत पति प्यारो। किय न चहत पल उरते न्यारो ॥
ताकी पवन वचाओ लौरै[६]। भिरै जु वसन तु नाक सकौरै ॥१२३॥

जिहि पितु मातु गोद में लेते।
सकुचत तिहि करते कछु देते ॥
मिलत भ्रात जो भरि भुज कोरी।
सो बतरात बीच दै डोरी[७] ॥१२४॥

---

१ द्रव्य के बिना ॥ २ कोई प्रतीति=विश्वास नहीं करता है ॥ ३ द्वार के सीढ़ी पर ॥ ४ दौर कर अंक भर के मिलते है ॥

५ गल कर गिरगई ॥ ६ इच्छा करती है कि इसका पवन नहीं लगेगा ॥ ७ अन्तर=अन्तर रख कर ॥

ऐसे जग स्वारथ को सारो।
बिनु स्वारथ को काको प्यारो ॥
मुहि स्वारथ योग्य न विधि कीनो।
याते इन फोहा नहिं दीनो ॥१२५॥
यूं चिन्तत इक मुनि तिहि भेंट्यो। तिन दै जरी घाव दुख मेट्यो॥
निद्रा ते जाग्यो नृप जबही। घाव दरद सुनि नाश्यो तबही॥१२६॥
सिष तुहि यह दृष्टान्त प्रकाश्यो।
लखि मिथ्या ते मिथ्या नाश्यो ॥
मिथ्या दुख देख्यो जब राजा।
साँच समाज न किय कछु काजा ॥१२७॥

टीका—सर्व प्रकरण का अर्थ स्पष्ट है। भाव है कि संसार रूप दुख मिथ्या है, अतः उसकी निवृत्ति के साधन वेद और गुरु मिथ्या ही होना चाहिये, क्योंकि मिथ्या के नाश के लिये सत्य साधन की अपेक्षा नहीं होती है। और सत्य साधन हो तो उनसे मिथ्या का नाश नहीं हो सकता है। जैसे राजा के समीप में मिथ्या गादरी=गिदरी स्वप्न में पहूंची। किसी सत्य योद्धा से रुकी नहीं, और राजा ने पुकारा, तव किसी से भी मरी नहीं, और राजा के पास में अनेक सत्य अस्त्र शस्त्र धरे रहे, परन्तु मिथ्या दण्ड से मरी। और राजा को मिथ्या घाव हुआ, तब कोई साँचा वैद्य जर्राह[1] पाया नहीं, किन्तु मिथ्या जर्राह के पास में गया, तो उसने पैसा माँगा, तो अनन्त साँचे खजाने धरे ही रहे, परन्तु एक पैसा भी राजा को मिला नहीं, अतः कोई भी सत्य साधन राजा के दुख के नाश में समर्थ नहीं हुवा, किन्तु मिथ्या मुनि ने मिथ्याजरी देकर मिथ्या दुख का नाश किया। इस प्रकार का स्वप्न सबको अनुभव सिद्ध है। और जाग्रत

१ घाव का चिकित्सक ॥

काल के पदार्थों का स्वप्न में किसी को कभी उपयोग=फल होता नहीं है। तैसेही मिथ्या संसार दुःख का नाश मिथ्यावेद और गुरु से होता है, उसके लिये सत्यवेद और गुरु अपेक्षित नहीं है ॥१२७॥

जैसे मरुस्थल के मिथ्या जल से तृषा=प्यास का नाश नहीं होता है, तैसे ही मिथ्या वेद और गुरु से संसार दुःख का नाश नहीं हो सकता है, और वेद गुरु को मिथ्या मान कर उनसे संसार दुःख का नाश माना जाय, तो मरुभूमि के जल से भी तृषा का नाश होना चाहिये,, यह शंका शिष्य ने की थी, उसका समाधान है कि—

॥ चौपाई ॥

**यद्यपि मिथ्या मरुथल पानी। ताते किनहुं न प्यास बुझानी॥**
**तदपि विषम दृष्टान्त सु तेरो। सत्ता भेद दुहुन में हेरो ॥ १२८॥**

टीका—यद्यपि जैसे मिथ्या मरुभूमि के पानी से किसी ने प्यास नहीं बुझाई, और मिथ्या गुरु तथा वेद से दुःख के नाश के समान मिथ्या जल से प्यास का नाश होना चाहिये, सो होता नहीं। तैसे मिथ्या गुरु और वेद से संसार दुःख का नाश नहीं हो सकता है, तदपि=तथापि तेरा=शिष्य का दृष्टान्त विषम है, क्योंकि मरुस्थल का जल और प्यास इन दुहुन=दोनों में सत्ता का भेद है, उस भेद को हेरो=देखो=समझो ॥ १२८ ॥

**सम सत्ता भव दुख गुरु वेदा। यूं गुरु वेद करत भव छेदा॥**
**आपस में सम सत्ता जिनकी।**
**लखि[1] साधक बाधकता तिनकी॥१२९॥**

---

१ माया अविद्यादि द्वारा अधिष्ठान रूप सत्य ब्रह्म भी व्यवहार प्रतिभास का साधक बाधक होता है। अविद्यादि की निवृत्ति द्वारा व्यावहारिक प्रतिभास का बाधक होता है, तथा प्रातिभासिक पदार्थ ज्ञानादि द्वारा भय कम्प धातु क्षोभादि का हेतु होता है, परन्तु साक्षात् साधकता बाधकता समसत्ता में ही होती है, ज्ञान की हेतुता असत्य में भी रहती है, इत्यादि भाव है।'

टीका=भव दुख और गुरु वेद की सम=एक व्यावहारिक सत्ता=वर्तमानता है, अतः गुरु और वेद से भव दुख का छेद= नाश होता है। क्योंकि जिनकी आपस में सम सत्ता होती है, उन की आपस में=परस्पर साधकता और बाधकता भी है। जैसे मृतिका और घट की समसत्ता है, अतः मृतिका घट का साधक=कारण है, अग्नि और काष्ठ की समसत्ता है, तहाँ अग्नि काष्ठ का बाधक= नाशक है। मरुस्थल के जल और प्यास की समसत्ता नहीं, अतः मरुस्थल का जल प्यास का बाधक नहीं ॥

( त्रिविध सत्ता )

इस स्थान में यह रहस्य=गूढ़ बात=तात्पर्य है कि चेतन में परमार्थ=पारमार्थिक सत्य सत्ता है। और चेतन से भिन्न मिथ्या पदार्थों में दो प्रकार की सत्ता है, तहाँ एक व्यवहार=व्यावहारिक सत्ता, और दूसरी प्रतिभास=प्रातिभासिक सत्ता है। जिस पदार्थ का ब्रह्म ज्ञान के बिना बाध नहीं हो, किन्तु ब्रह्म ज्ञान से ही बाध हो, उस पदार्थ में व्यवहार सत्ता कही जाती है। सो व्यवहार सत्ता ईश्वरीय सृष्टि में है, क्योंकि देह इन्द्रियादि रूप ईश्वरीय सृष्टि का बाध ब्रह्म ज्ञान के बिना नहीं होता है, यद्यपि ईश्वरीय सृष्टि के पदार्थों का नाश तो ब्रह्म ज्ञान के बिना भी होता है। तथापि ब्रह्म ज्ञान के बिना बाध नहीं होता है, क्योंकि अपरोक्ष मिथ्या निश्चय का नाम बाध है, ईश्वरीय सृष्टि के पदार्थ विषयक सो निश्चय, अद्वैत ब्रह्म ज्ञान से प्रथम किसी को होता नहीं है। ब्रह्म ज्ञान के अनन्तर ही वह निश्चय होता है, अतः मूला अविद्या के कार्य जाग्रत् के पदार्थ रूप ईश्वर सृष्टि में व्यवहार सत्ता है। जन्म मरण बन्ध मोक्ष आदि व्यवहार को सिद्ध करने वाली सत्ता=स्थिति को व्यवहार सत्ता कहते हैं ॥

ब्रह्म ज्ञान के बिना ही जिनका बोध हो, उन पदार्थों में प्रतिभास सत्ता कही जाती है, जैसे ब्रह्म ज्ञान के बिना ही शुक्ति, जेवरी, मरुस्थल

के ज्ञान से रूपा, सर्प, जल आदि का बाध होता है, अतः उसमें प्रतिभास=प्रातभासिक सत्ता है, प्रतीतिमात्र=प्रतीति काल में भासित सत्ता=प्रतिभास सत्ता कही जाती है। और तूला=व्यष्टि=अंश रूप अविद्या के कार्य रूपाआदि की प्रतीतिमात्र ही सत्ता है, अतः प्रतिभास सत्ता है, जिसका तीनों काल में बाध नहीं हो, उसकी परमार्थ=पारमार्थिक सत्ता कही जाती है, चेतनात्मा का कभी बाध नहीं होता है, अतः चेतन की परमार्थ सत्ता है ॥

इस रीति से वेद गुरु और संसार दुःख की एक व्यवहार सत्ता होने से आपस में समसत्ता है, अतः[1] मिथ्या वेद गुरु से मिथ्या भव दुःख का नाश होता है। और क्षुधा पिपासा=भूख प्यास प्राण के धर्म हैं। प्राण और उसके धर्मों का ब्रह्म ज्ञान के बिना बाध नहीं होता है, अतः पिपासा की व्यवहार सत्ता है। और मरुस्थल के जल का ब्रह्मज्ञान के बिना ही मरुस्थल के ज्ञान से बाध होने के कारण मरुस्थल के जल की प्रतिभास सत्ता है, अतः प्यास और मरुस्थल के जल की समसत्ता नहीं होने के कारण उस जल से प्यास का नाश नहीं होता है ॥

उक्त रीति से दार्ष्टान्त=दृष्टान्त से ज्ञातव्य, में बाधक नाशक वेदगुरु और बाध्य=नाशांह संसार दुख की सत्ता एक है। दृष्टान्त में मरुजल और प्यास की सत्ता का भेद है, अतः दृष्टान्त विषम है, दार्ष्टान्त के सम=तुल्य नहीं है ॥ १२६ ॥

---

१ वस्तुतः ज्ञानी गुरु अपने को कूटस्थ सत्य प्रत्यगात्मा स्वरूप जानते हैं, उत्तम श्रद्धालु शिष्य गुरु को सत्य ईश्वर स्वरूप समझता है। और गुरुशिष्य दोनों ही वेद को अनादि निधन ज्ञान स्वरूप शास्त्रादि से समझते हैं, अतः यहाँ मध्यम अधिकारी की दृष्टि के अनुसार ही गुरु ने वेद गुरु को व्यक्ति दृष्टि से मिथ्या कहा है ॥

**ब्रह्म भिन्न मिथ्या सब भाखौ । तिन को भेद हेतु किहि राखौ ॥**
**उपज्यो यह मोकूं सन्देहा । प्रभु ताको अब कीजै छेहा ॥१३०॥**

टीका—हे प्रभु ! ब्रह्म से भिन्न सब को आप मिथ्या कहते हो, फिर उन मिथ्या पदार्थों में, शुक्तिरूपा, रज्जुसर्प, मरुस्थल जल आदिक का ब्रह्मज्ञान के बिना ही बाध, और संसार दुःख का ब्रह्मज्ञान से बाधरूप यह भेद किस हेतु से रखते हो ॥ १३० ॥

**सकल अविद्या कारज मिथ्या । शिष तामें रञ्चकहु न तथ्या ॥**
**जा अज्ञान से उपजत जोई । ताके ज्ञान बाध तिहि होई ॥१३१॥**

टीका—हे शिष्य ! यद्यपि ब्रह्म से भिन्न सकल वस्तु अविद्या का कार्य हैं, अतः मिथ्या हैं, उनमें रञ्चक=लेशमात्र भी तथ्य सत्य नहीं है, तथापि जिस के अज्ञान से जो उत्पन्न होता है, उसके ज्ञान से उसका बाध होता है ॥ शुक्ति, रज्जु, मरुस्थल आदि के अज्ञान से रूपा सर्प जल आदि उत्पन्न होते हैं, अतः उनका बाध शुक्ति रज्जु मरु आदि के ज्ञान से होता है । और ब्रह्म के अज्ञान से जन्मादि रूप संसार दुःख उत्पन्न होता है. अतः उसका बाध ब्रह्म ज्ञान से होता ॥१३१॥

**दोहा=भगवन् ब्रह्म अज्ञान ते, जो उपजे संसार ।**
**सो किहि क्रम ते होत है, कहो मोहि निरधार ॥१७॥**

"टिप्पणी=महाप्रलय के बाद ब्रह्म के अज्ञान रूप माया से जन्य संसार की उत्पत्ति का क्रम प्रत्यक्षादि से तो समझा नहीं जा सकता है, अतः वेदादि से क्रम ज्ञेय है, और उपनिषद् में कहीं आकाशादि क्रम से कहीं तेज आदि क्रम से सृष्टि कही गई है, अतः क्रम को निरधार=निश्चय निर्णय करके मुझे कहो यह प्रश्न है ॥१७॥"

॥ चौपाई ॥

जैसे स्वप्न होत बिनु क्रम ते । त्यूं मिथ्या जग भासत भ्रमते ॥
जो ताको[1] क्रम जान्यो लौरै । सो मरुथल जल वसन निचौरै ॥१३२॥

दोहा—उपनिषदन में बहुत विधि, जग उत्पत्ति प्रकार ।
अभिप्राय तिनको यही, चेतन भिन्न असार ॥ १८ ॥

टीका—यद्यपि उपनिषदों में जगत् को उत्पत्ति अनेक प्रकार से कही गई है, तहाँ छान्दोग्य में, सत् स्वरूप परमात्मा से अग्नि जल, पृथ्वी की क्रम से उत्पत्ति कही गई है, और तैत्तिरीय में आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी रूप पाँच भूतों की आकाशादि क्रम से उत्पत्ति का वर्णन है, और कहीं क्रम के बिना सब की परमात्मा से उत्पत्ति वर्णित है, अतः वेद में जगत् की उपत्ति अनेक प्रकार से वर्णित है, तथापि वेद का क्रम में तात्पर्य नहीं है, किन्तु तहाँ वेद का यह अभिप्राय है कि जगत् मिथ्या है, जो जगत् कुछ सत्य पदार्थ होता, तो उसकी उत्पत्ति को अनेक प्रकार से वेद नहीं कहता, और अनेक प्रकार से उत्पत्ति कही हैं, अतः जगत् की उत्पत्ति के प्रतिपादन में वेदों का अभिप्राय नहीं है, किन्तु अद्वैत ब्रह्म को जिज्ञासु के प्रति समझाने के लिये, जगत् के निषेधार्थक मिथ्या जगत् का कथञ्चित आरोप=कल्पना वेद ने किया है ॥

दृष्टान्त—जैसे विनोद के लिए दारु=बारूद का हस्ती उड़ाने के लिए बनाते हैं, तहाँ यदि उसके कान पूछ टेढ़े हों, तो उन्हें सीधे करने के लिए यत्न नहीं करते, तैसे अद्वैत ज्ञान के लिए प्रपञ्च का निषेधार्थक प्रपञ्च का आरोप किया गया है, अतः प्रपञ्च की उत्पत्ति क्रम को

---

१ जो कोइ उस भ्रम से भासित जगत् के सत्य "निश्चित" क्रम को जानने के लिये लौर=इच्छा करता है, सो मानो मरुस्थल के जल में वस्त्र धोने की इच्छा करता है ॥

एक रूप से कहने के लिए वेद में यत्न नहीं किया गया है ।। और एक रूप से उत्पत्ति नहीं कही गई, अतः प्रपञ्च के निषेध में वेद का अभिप्राय समझा जाता है । प्रपञ्च की उत्पत्ति में नहीं ॥

और सूत्रकार=व्यास भगवान् तथा भाष्यकार = शङ्कराचार्य ने वेदान्त सूत्र के द्वितीय अध्याय में उत्पत्ति बोधक श्रुतियों के विरोध को दूर करके जो एक रूप से तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार उत्पत्ति में सब उपनिषद का तात्पर्य कहा है । सो मन्द जिज्ञासु के लिए कहा है, क्योंकि जो उत्पत्ति बोधक वाक्यों के पूर्व वर्णित तात्पर्य को नहीं समझता है, उस मन्द जिज्ञासु को उपनिषदों में नाना प्रकार से जगत् उत्पत्ति को देख सुन कर भ्रम हो सकता है कि उपनिषदों को परस्पर विरोध है । उस भ्रम को दूर करने के लिए सब उपनिषद में एक रूप से जगत् की उत्पत्ति के प्रतिपादन के प्रकार को सूत्र और भाष्य में कहा गया है । ( वस्तुतः स्वप्न के पिता पुत्रादिगत प्रातिभाषिक क्रम के समान आकाशादि रूप व्यावहारिक पदार्थों में व्यावहारिक उत्पत्ति क्रम अवश्य है, उसी का सूत्र भाष्यकारों ने श्रुति के तात्पर्य के अनुसार वर्णन किया है ) ।

और जिसको ब्रह्म विचार से यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता, उसको लय चिन्तन से अद्वैत ब्रह्म में बुद्धि की स्थिति होती है, अतः लय चिन्तन के लिए भी उत्पत्ति क्रम कहा गया है, जिस क्रम से उत्पत्ति कही गई है, उससे विपरीत क्रम से लयचिन्तन करे, तो अद्वैत ब्रह्म में बुद्धि पहुँचती है । उस लय चिन्तन का प्रकार को वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने पञ्चीकरण में कहा है ॥ १८ ॥

यह विचारसागर ग्रन्थ प्रायः उत्तम जिज्ञासु के लिए है, अतः जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का प्रकार नहीं लिखा गया है, परन्तु सागर रूप सागरनामक है, अतः संक्षेप से प्रकार दिखाया जाता है, तहाँ शुद्ध ब्रह्म से तो जगत् की उत्पत्ति होती नहीं है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म असङ्ग और

अक्रिय है, अतः माया विशिष्ट ( युक्त ) ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति होती है ( तहाँ माया उपादान होती है, चिदंश अधिष्ठान रूप निमित्त होता है ) इसलिए माया और ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं कि—

॥ कवित्त ॥ ( जीवेश्वर माया और माया के आश्रय का विचार )

जीव ईश भेद हीन चेतन स्वरूप माँहि,
माया सो अनादि एक सान्त ताहि मानिये !
सत औ असत से विलक्षण स्वरूप ताको,
ताहि को अविद्या औ अज्ञान हूं बखानिये ॥
चेतन सामान्य न विरोधी ताको साधक है,
वृत्ति में आरूढ[1] वा विरोधी वृत्ति जानिये ।
माया में आभास अधिष्ठान अरु माया मिलि,
ईश सर्वज्ञ जग हेतु पहिचानिये ॥ १ ॥

टीका=जीव ईश्वर रूप भेद रहित शुद्ध चेतन ( ब्रह्म ) के आश्रित माया है, सो अनादि=उत्पत्ति रहित है, क्योंकि यदि माया की उत्पत्ति मानी जाय, तो माया के कार्य प्रपञ्च से तो पिता से पुत्र की उत्पत्ति के समान माया की उत्पत्ति जगत् से हो नहीं सकती है अतः चेतन से ही माया की उत्पत्ति को मानना होगा ।

तहाँ चेतन में जीवभाव=जीवत्व और ईश्वरभाव=ईशत्व माया के कार्य=आधीन हैं, माया की सिद्धि के बिना जीव ईश्वर का स्वरूप असिद्ध है, अतः जीव चेतन वा ईश्वर चेतन से माया की उत्पत्ति कहना असम्भव है । और शुद्ध चेतन असङ्ग है तथा अक्रिय और निर्विकार है, उससे माया की उत्पत्ति मानने पर वह विकारी सिद्ध होगा ।

---

१ प्राप्त स्थिर विषयाकार वृत्ति का साक्षी । वा साक्षी से प्रकाशित वृत्ति ।
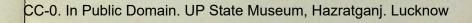
और शुद्ध चेतन से माया की उत्पत्ति हो तो मोक्ष दशा में भी फिर माया उत्पन्न होगी। अतः मोक्ष के लिए साधनानुष्ठान निष्फल होगा ।।

इस रीति से माया उत्पत्ति रहित=अनादि और एक है, परन्तु सान्त=अन्तवाली है, क्योंकि ज्ञान से माया का अन्त=नाश होता है। अतः सत असत से विलक्षण है, जिसका बाध तीनों काल में नहीं हो, उसको सत कहते हैं, ऐसा चेतन है! माया का ज्ञान से बाध होता है, अतः सत से विलक्षण है। तीनों काल में जिनकी प्रतीति=ज्ञान नहीं हो, सो शशशृङ्ग, बन्ध्यापुत्र, आकाश पुष्पादि असत कहे जाते हैं, ज्ञान से पूर्वकाल में माया और उसके कार्य सत प्रतीत होते हैं। जाग्रत काल में "मैं अज्ञानी हूँ ब्रह्म को नहीं जानता हूँ" इस रीति से माया प्रतीत होती है और स्वप्न में जो नाना पदार्थ प्रतीत होते हैं, उनका उत्पादान कारण माया है। और सुषुप्ति के अनन्तर=बाद अज्ञान की इस वक्ष्यमाण रीति से स्मृति प्रतीति होती है कि "मैंने सुख सोया परन्तु कुछ भी जाना नहीं" सो स्मृति अज्ञात वस्तु की होती नहीं, अतः सुषुप्ति में अज्ञान का भान=ज्ञान होता है, और वह अज्ञान तथा माया एक ही है, उनका भेद नहीं। इस रीति से तीनों अवस्था में माया की प्रतीति होती है, अतः असत् शशशृङ्गादि से विलक्षण है। इस प्रकार सत असत से विलक्षण जो माया उसका कार्य भी सत असत से विलक्षण है, और सत असत से विलक्षण को ही अद्वैत मतमें मिथ्या और अनिर्वचनीय कहते हैं। अतः माया और मया के कार्य से द्वैत=सत्यभेद की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि जैसे चेतन सतस्वरूप है, तैसे ही माया और उसका कार्य हो, तो सत्य द्वैत हो। और सो माया और उसका कार्य सत असत से विलक्षण मिथ्या है। उससे सत्य द्वैत नहीं हो सकता, जैसे कि स्वप्न के मिथ्या पदार्थ से सत्य द्वैत नहीं होता है ।।

जीव-ईश्वर-विभाग रहित शुद्ध ब्रह्म के आश्रित माया रहती है,

और शुद्ध-ब्रह्म का ही आच्छादन करती है, जैसे गृह के आश्रित रहने वाला अन्धकार गृह का आच्छादन करता है। इस पक्ष=सिद्धान्त को स्वाश्रय स्वविषय पक्ष कहते हैं, क्योंकि स्व=शुद्ध ब्रह्म ही इस पक्ष में माया का आश्रय और विषय=माया से आच्छादित माना गया है॥ संक्षेप शारीरक, विवरण, वेदान्त मुक्तावली, अद्वैतसिद्धि, अद्वैतदीपिका आदि ग्रन्थकारों ने स्वाश्रय स्वविषय ही अज्ञान=माया को माना है॥

और वाचस्पति मिश्र का यह मत है कि-अज्ञान जीव के आश्रित है, और ब्रह्म को विषय करता है। "अज्ञानी मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ" इस प्रतीति में, मैं शब्द के अर्थ जीव को अज्ञानी कहने से जीव ही अज्ञान का आश्रय भासित=प्रतीत होता है, और ब्रह्म को नहीं जानता हूँ,, इस कथन से अज्ञान का विषय ब्रह्म प्रतीत होता है इस रीति से जीव के आश्रित रहने वाला अज्ञान ब्रह्म को विषय=आच्छादन करता=ढाँपता है। सो अज्ञान एक नहीं, किन्तु अनन्त है। क्योंकि यदि एक अज्ञान माना जाय, तो एक के ज्ञान से एक अज्ञान की निवृत्ति होने पर, अन्य जीवों को अज्ञान और उसके कार्य संसार की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। यदि ऐसा कहा जाय कि आज तक अभी किसी को ज्ञान हुआ नहीं है, तो आगे भी किसी को ज्ञान हो नहीं सकता, अतः श्रवणादि साधन और उनके विधायक शास्त्र निष्फल होंगे। अतः अनन्त जीवों के आश्रित अनन्त अज्ञान हैं, और उन अज्ञानों से कल्पित अनन्त ईश्वर और अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, जिस जीवको ज्ञान होता है, उसके अज्ञान, ईश्वर और ब्रह्माण्ड बन्ध की निवृत्ति होती है। अन्य अज्ञ को बन्ध रहता है॥

यह वाचस्पति मिश्र का मत है, सो समीचीन=ठीक नहीं है, क्योंकि "ईश्वर जीव के अज्ञान से कल्पित है,, यह कहना श्रुति स्मृति पुराण से विरुद्ध है। और अनन्त ईश्वर तथा सब जीवों में

सृष्टि का भेद" भी विरुद्ध है। अतः नाना अज्ञान मानना असङ्गत है, और नाना अज्ञान मान कर ईश्वर और सृष्टि को एक एक माना जाय तो बन नहीं सकता; क्योंकि जीव ईश्वर और प्रपञ्च=सृष्टि अज्ञान से कल्पित=सिद्ध हैं। अतः अनन्त अज्ञान मानने पर एक एक अज्ञान से कल्पित जीव के समान ईश्वर और प्रपञ्च भी अनन्त ही सिद्ध होगें। इसी से वाचस्पति मिश्र ने अनन्त ईश्वर और सृष्टि कही है। अतः अज्ञान एक है, यह मत समीचीन है॥

सो एक अज्ञान भी जीव के आश्रित नहीं है, क्योंकि जीवभाव अज्ञान का कार्य है, अतः अज्ञान शुद्ध ब्रह्म के आश्रित है। क्योंकि वह अज्ञान कभी स्वतन्त्र नहीं रहता है, अतः निराश्रय अज्ञान से तो जीव भाव नहीं हो सकता है, किन्तु प्रथम किसी के आश्रित अज्ञान हो, तब अज्ञान का कार्य जीव भाव हो सकता है॥

और जीवत्व के समान ईश्वरता भी अज्ञान=माया का कार्य है, अतः ईश्वर के आश्रित भी अज्ञान नहीं, किन्तु शुद्ध ब्रह्म के आश्रित अनादि अज्ञान है। और अनादि ब्रह्म चेतन तथा अज्ञान के अनादि सम्बन्ध से जीव भाव और ईश्वर भाव भी अनादि है, परन्तु अनादि भी जीवेश्वर भाव अज्ञान के आधीन हैं, अतः अज्ञान के कार्य कहे जाते हैं॥

यद्यपि "मैं अज्ञानी हूँ" इस प्रकार जीव के आश्रित अज्ञान प्रतीत होता है, तथापि ब्रह्म के आश्रित अज्ञान का ही जीव को अभिमान होता है कि "मैं अज्ञानी हूँ" परन्तु जीव अज्ञान का कार्य है, अतः अज्ञान का अधिष्ठान रूप आश्रय जीव हो नहीं सकता, किन्तु शुद्ध ब्रह्म अधिष्ठान रूप आश्रय है॥ और अधिष्ठान ब्रह्म के आश्रित अज्ञान ब्रह्म को ही आवृत करता है, तिस के अनन्तर "मैं अज्ञानी हूँ" इस प्रकार अज्ञान का अभिमानी रूप आश्रय जीव होता है, इस रीति से स्वाश्रय स्वविषय अज्ञान है॥

सो अज्ञान यद्यपि एक है, और ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है, परन्तु जिस अन्तःकरण में ज्ञान होता है, उस अन्तःकरण से अवच्छिन्न=व्यावृत्त=युक्त चेतन प्रमाता में स्थित अज्ञान के अंश की निवृत्ति उस ज्ञान से होती है, और उस अन्तःकरण वाला प्रमाता=जीव ही मुक्त होता है, और जिस अन्तःकरण वाला जीव को ज्ञान नहीं होता, तहाँ अज्ञान का अंश और बन्ध रहता है। इस रीति से एक अज्ञान पक्ष में बन्ध मोक्षादि का व्यवहार सिद्ध होता है ॥ कीसी को वाचस्पतिमिश्र की रीति से नाना अज्ञानवाद ही बुद्धि में प्रविष्ट=निश्चित हो तो वह भी अद्वैत ज्ञान का उपाय है। उसके खण्डन में आग्रह नहीं है, अतः जैसे जिज्ञासु को अद्वैत का बोध हो, तैसे बुद्धि की स्थिति करे ॥ शुद्ध ब्रह्म के आश्रित रहनेवाली माया को अविद्या और अज्ञान भी कहते हैं। अचिन्त्य शक्ति रूप और युक्ति से असाध्य होने से माया कही जाती है, विद्या से नष्ट होने के कारण अविद्या कहाती है। स्वरूप के आच्छादन करने से अज्ञान कहा जाता है ॥ और जिस चेतन के आश्रित माया रहती है, सो सामान्य चेतन उसका विरोधी नहीं है, किन्तु वह माया को सत्ता स्फुरण देने वाला होने के कारण माया का साधक है, और ज्ञानाकार वृत्ति में आरूढ़=स्थिर चेतन, अथवा चेतन सहित वृत्ति को उस माया के विरोधी रूप समझना चाहिये ॥

कवित्त के तीन पाद से माया का स्वरूप कहा गया है, "माया में आभास" इत्यादि चतुर्थ पाद से ईश्वर का स्वरूप कहा है कि-शुद्ध सत्त्वगुण सहित माया, और माया का अधिष्ठान चेतन, तथा माया में चिदाभास, ये तीन का संघ ईश्वर कहा जाता है। सो ईश्वर सर्वज्ञ और और जगत् का हेतु=कारण है ॥

तहाँ उपादान और निमित्त रूप दो प्रकार का कारण होता है, जिस कारण का कार्य के स्वरूप में प्रवेश हो, और जिसके बिना

कार्य की स्थिति नहीं हो, सो उपादान कारण कहा जाता है। जैसे मृत्तिका घट का उपादान कारण है, क्योंकि घट के स्वरूप में उसका प्रवेश रहता है, उसके बिना घट की स्थिति नहीं होती है। और जिसका कार्य में प्रवेश नहीं हो, किन्तु कार्य से भिन्न स्थिर रह कर कार्य को सिद्ध करे, और जिसके नाश से भी सिद्ध कार्य नष्ट नहीं हो, सो कार्य का निमित्त कारण कहा जाता है। जैसे घट के कुलाल दण्ड चक्र आदिक निमित्त कारण होते हैं, क्योंकि घट के स्वरूप में इनका प्रवेश नहीं होता, और घट से भिन्न स्थिर होकर घट की उत्पत्ति मात्र का हेतु होते हैं, उपादान के समान घट की स्थिति और लय के हेतु तथा अधार नहीं होते हैं, अतः घट की उत्पत्ति के बाद कुलालादि के नाश से घट नष्ट नहीं होता है, इस प्रकार उपादान और निमित्त दो प्रकार के कारण भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु जगत के उपादान और निमित्त दोनों प्रकार का कारण एक ईश्वर ही है। जैसे कि एक ही मकरी जाले का उपादान और निमित्त कारण होती है। यदि कहा जाय कि मकरी का जड़ शरीर जाले का उपादान कारण होता है, शरीर गत चेतन भाग निमित्त कारण होता है, अतः एक ईश्वर की उपादान निमित्त उभयकारणता में कोई दृष्टान्त नहीं है, तो कहा जाता है कि ईश्वर का शरीर रूप जड माया जगत् का उपादान कारण, और चेतन भाग निमित्त कारण है, इस प्रकार एक ही ईश्वर जगत का उभय कारण हैं, और उसमें मकरी का दृष्टान्त है, और मुख्य दृष्टान्त स्वप्न है ॥ १ ॥

जिस समय जीवों के कर्म अदृष्ट फल देने के लिये उन्मुख=व्यक्त=प्रवृत्त नहीं होते हैं, उस समय प्रलय होता है, और जब जीवों के कर्म फल देने के लिए प्रवृत्त=सम्मुख होते हैं, तब सृष्टि होती है, अतः इस रीति से जीव कर्मों के आधीन सृष्टि है। इसलिये जीव के स्वरूप को कहते हैं कि—

**दोहा—मलिन सत्त्व अज्ञान में, जो चेतन आभास।**
**अधिष्ठान युत जीव सो, करत कर्म फल आस ॥१९॥**

**टीका**—जो सत्त्व गुण, रजोगुण तमोगुण दोनों को दबावे, उसको शुद्ध सत्त्वगुण कहते हैं, और रजोगुण तोमोगुण से जो आप दब जाय, उसको मलिन सत्त्वगुण कहते हैं। उस मलिन सत्त्वगुण सहित अज्ञान के अंश में चेतन का आभास, और अज्ञानांश, तथा उसका अधिष्ठान कूटस्थ चेतन, इन मिले हुए तीनों के समूह को जीव कहते हैं। सो जीव कर्म करता है, और कर्मफल की आशा करता है ॥१९॥ ( ईश्वर से सृष्टि का विचार ) उक्त जीवों के कर्मों के अनुसार ही ऊँच नीच भोगों के लिये ईश्वर सृष्टि रचता है अतः ईश्वर में विषम दृष्टि और क्रूरता दोष नहीं है, यदि कहा जाय की सबसे प्रथम की सृष्टि से पूर्व काल में कर्म नहीं था, तो भी ईश्वर ने ऊँच नीच शरीर और भोगों को रचा, अतः ईश्वर विषम दृष्टि वाला है, तो सो कहना ठीक=उचित नहीं। क्योंकि संसार प्रवाह रूप से अनादि है, तहाँ उत्तर उत्तर सृष्टि में पूर्व सृष्टि के कर्म हेतु होते हैं। सबसे प्रथम कोई सृष्टि नहीं होती है, अतः ईश्वर निर्दोष है। क्योंकि—

**कवित्त—जीवन के पूर्व सृष्टि कर्म अनुसार ईश,**
**इच्छा होय जीव भोग जग उपजाइये।**
**नभ वायु तेज जल भूमि भूत रचै तहाँ,**
**शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध गुण गाइये॥**
**सत्त्व अंश पञ्चन को मेलि उपजत सत्त्व,**
**रजोगुण अश मिलि प्राण त्यूं उपाइये।**
**एक एक भूत सत्त्व अंश ज्ञान इन्द्रि रचौ,**
**कर्म इन्द्रि रजो गुण अंश ते लखाइये ॥२॥**

**टीका**—जीवों के कर्म जब भोग देने से उदासीन=विमुख होते हैं, तब प्रलय होता हैं, और प्रलय में सब पदार्थों के संस्कार ( बीज-

शक्ति ) माया में रहते हैं, अतः जीवों के बाकी ( अभुक्त ) कर्म भी सूक्ष्म स्वरूप से माया में रहते हैं ।

जब कर्म भोग देने के लिये सम्मुख होते हैं, तब ईश्वर को यह इच्छा होती है कि "जीवों के भोग के लिये जगत उपजाया जाय" ऐसी ईश्वर की इच्छा से माया तमोगुण की प्रधानता वाली हो जाती हैं, उस तमोगुण प्रधान माया से नभ, वायु, तेज जल और भूमि ये पाँच भूत रचे जाते हैं, और उन भूतों में क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण होते हैं ।।

तहाँ माया से शब्द सहित आकाश की उत्पत्ति होती है, आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है, अतः वायु आकाश का कार्य है, इसलिये आकाश का शब्द गुण वायु में होता है । अपना गुण स्पर्श होता है । वायु से तेज की उत्पत्ति होती हैं, और उसमें आकाश का शब्द वायु का स्पर्श गुण रहता है, अपना रूप गुण रहता है, तेज से जल की उत्पत्ति होती है, तहाँ आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श तेज का रूप गुण होता है, और अपना रस होता है । जल से पृथ्वी होती है, तहाँ आकाशादि के शब्द, स्पर्श, रूप, और रस प्राप्त होते हैं, अपना गुण गन्ध होता है । आकाश में प्रतिध्वनि रूप शब्द है ( कहीं प्रतिध्वनि को शब्द का प्रतिबिम्ब भी कहते हैं ) वायु में शीशी शब्द और उष्ण, शीत कठित से विलक्षण स्पर्श है । अग्निरूप तेज में भुक भुक शब्द, उष्ण स्पर्श और भास्वर=प्रकाशमय रूप है । जल में चुल चुल शब्द, शीत स्पर्श, शुक्ल रूप और मधुर रस है । क्षार, कटु आदि पृथिवी=पार्थिव वस्तु के सम्भन्ध से जल क्षार कटु आदि प्रतीत होता है, परन्तु जल का मधुर ही रस है, सो हरड आदि को खाकर जल पीने से व्यक्त=प्रकट होता है । पृथिवी में कट कट शब्द, उष्णादि से विलक्षण कठिन, कोमलादि स्पर्श । श्वेत, रक्त, कृष्ण, पीत, हरित आदि रूप मधुर, अम्ल,

क्षार, कटु, कषाय, तिक्त रस। सुगन्ध और दुर्गन्ध रूप दो प्रकार के गन्ध ये सब गुण हैं। इस रीति से आकाश में एक, वायु में दो, तेज में तीन, जल में चार और भूमि में पाँच गुण है, तहाँ एक एक अपना है, अधिक कारण के हैं॥

और सबका मूल कारण ईश्वर है, उसमें माया और चेतन दो भाग है, तहाँ माया में मिथ्यात्व=अनिर्वाच्यता है, सो सब भूत (आकाशादि) में अनुगत है। और चेतन की सत्ता तथा स्फूर्ति सब भूतों में है (कवित्त के दो पाद का यह अर्थ है)॥

पाँचो भूतों के सत्त्व गुण अंश मिलकर सत्त्व नामक=अन्तःकारण को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि अन्तः करण ज्ञान का हेतु हैं, और ज्ञान की उत्पत्ति सत्त्व गुण से होती है, ऐसा माना गया है, अतः अन्तःकरण भूतों के सत्त्वगुण का कार्य सिद्ध होता है, और पाँच भूतों के कार्य पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अन्तः करण सहायक है, इस कारण से भी पाँच भूतों के मिलित सत्त्वांश से अन्तःकरण की उत्पत्ति कही गई है। और देह के अन्तर=भीतर रहता हुवा करण=ज्ञान का साधन है, अतः अन्तःकरण कहा जाता है। भूतों के सत्त्वगुण के कार्य होने से अन्तःकरण का सत्त्व भी नाम है। अन्तःकरण के परिणामों को वृत्ति कहते हैं, सो अन्तःकरण की वृत्ति चार प्रकार की होती है। तहाँ पदार्थ के भले बुरे आदि स्वरूपों को निश्चय करने वाली वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। संकल्प विकल्प रूप वृत्ति को मन कहते हैं, चिन्ता रूप वृत्ति को चित्त कहते हैं। "अहं" इस स्वरूप वाली वृत्ति अभिमान =अहंकार कहाती है॥

पाँचों भूतों के मिलित रजोगुण अंश से प्राण की उत्पत्ति होती है, सो प्राण क्रिया के भेद, और स्थान के भेद से पाँच प्रकार का होता है। हृदय स्थान और क्षुधा पिपासा रूप क्रिया=कार्य वाले, प्राण को प्राण ही कहते हैं, गुदा स्थान और मलमूत्र को अधः=नीचे

प्राप्त करने वाले प्राण को अपान कहते हैं, नाभि स्थान और भुक्त पीत अन्न जल को पचने योग्य सम करने वाले को समान कहते हैं। कण्ठ स्थान और श्वास क्रिया वाले को उदान कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर रूप स्थान और रस मेलन क्रिया वाले को व्यान कहते हैं। और कहीं नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये पाँच प्राण अधिक कहे गये हैं। और उद्गार, निमेष, छींक, जृम्भा और मृतक शरीर को को फुलाना, ये पाँच उनकी क्रम से क्रिया ( व्यापार=कार्य ) कही गई हैं। और पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश के रजोगुण अंशों से एक एक की क्रम से उत्पत्ति कही गई है, और अपान, समान, प्राण, उदान, व्यान, इनकी भी पृथिवी आदि एक एक के रजोगुण अंश से ही उत्पत्ति कही गई है। परन्तु अद्वैत सिद्धान्त में यह प्रक्रिया नहीं है, क्योंकि विद्यारण्य स्वामी ने तथा पञ्चीकरण में वार्तिककार ने सूक्ष्म शरीर में और पाँच कोशों में नाग, कूर्म आदि का ग्रहण नहीं किया है, और अपानादि पाँच प्राणों की उत्पत्ति भी भूतों के मिले रजोगुण अंश से कही है॥ अतः एक एक के रजोगुण अंश से अपानादि की उत्पत्ति का कथन, तथा सूक्ष्म शरीर में नाग कूर्मादि का ग्रहण असङ्गत है, पाँच प्राण का ही सूक्ष्म शरीर में ग्रहण है॥ और प्राण विक्षेप रूप है, और विक्षेप स्वभाव रजोगुण का है, अतः भूतों के रजोगुण अंश से प्राण की उत्पत्ति कही गई है। यह तृतीय पाद का अर्थ है॥

एक एक भूत का सत्त्वगुण अंश पाँच ज्ञानेन्द्रिय को रचता है। एक एक का रजोगुण अंश कर्मेन्द्रियों को रचता है, आकाश के सत्त्व-गुण से श्रोत, वायु के सत्त्वांश से त्वक्, तेज के सत्त्वांश से नेत्र, जल के सत्त्वांश से रसना, पृथिवी के सत्त्वांश से घ्राण होता है॥ ये पाँच इन्द्रिय ज्ञान के साधन है, अतः इनको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। और ज्ञान सत्त्वगुण से होता है, अतः भूतों के सत्त्वगुण से इनकी उत्पत्ति

कही गई है। तहाँ श्रोत्रेन्द्रिय आकाश के गुण शब्द को ग्रहण करती है, अतः उसकी उत्पत्ति आकाश से मानी गई है, तैसे ही जो इन्द्रिय जिस भूत के गुण को ग्रहण करती है, उस भूत से उसकी उत्पत्ति मानी जाती है।

आकाश के रजोगुण अंश से वाक् की, वायु के रजो अंश से पाणि की, तेज के रजो अंश से पाद की, जल के रजो अंश से उपस्थ की, और भूमि के रजोगुण अंश से गुदा की उत्पत्ति होती है। स्त्री पुरुष के भगलिङ्ग वृत्ति इन्द्रिय को उपस्थ कहते हैं। क्रिया रजोगुण से होती है, अतः भूतों के रजोगुण अंश से इनकी उत्पत्ति मानी गई है ॥

॥ सवैया छन्द ॥

( सूक्ष्मसृष्टि और पञ्चीकरण से स्थूल सृष्टि प्रकार )

भूत अपञ्चीकृत औ कारज, इतनी सूक्ष्म सृष्टि पिछाने।
पञ्चीकृत भूतन ते उपज्यो, स्थूल पसारो सारो मान ॥
कारण सूक्ष्म स्थूल देह अरु, पञ्च कोश इन ही में जान।
करि विवेक लखि आतम न्यारो, मुञ्ज इषीकाते ज्यूं भान ॥३॥

टीका=अपञ्चीकृत भूत और उनके कार्य अन्तःकरण, प्राण, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय, इन सबको सूक्ष्म सृष्टि कहते हैं। सूक्ष्म सृष्टि ( कार्य ) का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता है, क्योंकि नेत्र नासिका आदि इन्द्रियों के गोलक=स्थान में स्थित इन्द्रियाँ किसी के इन्द्रियों के विषय नहीं होती हैं ॥

सूक्ष्म सृष्टि के अनन्तर ईश्वर की इच्छा से स्थूल सृष्टि के लिये भूतों का पञ्चीकरण होता है, सो पञ्चीकरण दो रीति से कहा गया है। तहाँ एक एक सूक्ष्म भूत के दो-दो सम भाग हुए, फिर सब भूत के एक एक आधे २ भाग ज्यों का त्यों रहे, और सब के दूसरें आधे-

आधे भाग चार-चार भाग हुए, और अपने आधे-आधे भागों को छोड़ कर अन्य के आधे आधे भागों में छोटे-छोटे चारो भाग मिले ( मिलाए गए ) जिससे सब भूतों में अर्धभाग अपना और अर्धभाग अन्य भूतों के मिलने से पञ्चीकरण ( अपञ्च को पञ्चकरण ) हुवा, इस प्रकार एक पञ्चीकरण कहा गया है ॥ और दूसरा प्रकार है कि, एक एक भूत के दो-दो भाग हुए, सों सम नहीं, किन्तु एक भाग चार अंश का, एक भाग पञ्चम एक अंश का हुवा, इस रीति से न्यून और अधिक ( छोटे बड़े ) दो-दो भाग हुए, तिन सबके अधिक भाग ज्यों के त्यों रहे, और छोटे एक एक भागों के पाँच पाँच भाग होकर अपने भाग सहित सब के बड़े भागों में मिले ( मिलाये गये ) अतः ऐसे पञ्चीकरण हुवा। प्रथम रीति से स्थूल भूतों में अपना अंश अर्ध, और अन्य का अंश अर्ध रहता है। और दूसरे पक्ष में अपने अंश इक्किश, और अन्य के अंश चार रहते हैं। दूसरे पक्ष की सुगम रीति यह है कि एक एक भूत के पचीस पचीस भाग हुए, फिर उनमें इक्किश-इक्किश भाग और चार-चार भाग विभक्त= पृथक हुए। फिर चार-चार भागों में से एक एक भाग अपने इक्किश भागों को छोड़कर अन्य के इक्किश-इक्किश भागों में मिले। इस प्रकार से दो प्रकार वाला पञ्चीकरण कहा गया है। एक एक भूत में अन्य-अन्य चार भूत को मिलाकर विशेष स्वरूप करने का नाम पञ्चीकरण है। जिन भूतों का पञ्चीकरण किया गया हो, उनको पञ्चीकृत कहते हैं ॥

उन पञ्चीकृत भूतों से स्थूल ब्रह्माण्ड होता है, उस ब्रह्माण्ड के अन्तरगत, भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोंक, और सत्यलोक, ये सात भुवन ऊपर के होते हैं। और अतल, सुतल, पाताल, वितल, रसातल, तलातल और महातल, ये सात लोक नीचे के होते हैं। और उन चतुर्दश लोकों में जीवों के भोग के योग्य

अन्नादि, भोग के स्थान और देव मनुष्य पशु आदि स्थूल शरीर होते हैं, यह संक्षेप से सृष्टि का निरूपण किया गया है। क्योंकि माया के कार्य का विस्तार से निरूपण किया जाय, तो कोटि ब्रह्मा की उमर=आयु द्वारा भी मायाकृत पदार्थों के निरूपण का अन्त नहीं हो सकता। इस प्रकार वाल्मीक मुनि ने अनेक इतिहासों द्वारा योगवासिष्ठ में निरूपण किया है (यह सवैया के दो पाद का अर्थ है)॥

## ( पाँचकोश प्रदर्शन )

तृतीय पाद का अर्थ यह है कि–इनही में-माया और उसके कार्य में ही तीन शरीर और पाँच कोश हैं। तहाँ शुद्ध सत्त्व गुण सहित माया ईश्वर का कारण शरीर है और मलिन सत्त्वगुण सहित अविद्या का अंश जीव का कारण शरीर है। उत्तर शरीर के आरम्भक पाँच सूक्ष्म भूत, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, इनका समूह जीव का सूक्ष्म शरीर है। सब जीवों के सूक्ष्म शरीरों का समूह ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है। सम्पूर्ण स्थूल ब्रह्माण्ड ईश्वर का स्थूल शरीर है, जीवों के व्यष्टि स्थूल शरीर प्रसिद्ध है। इन तीन शरीरों में ही पाँच कोश हैं, तहाँ कारण शरीर को आनन्दमय कोश कहते हैं। विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय ये तीन कोश सूक्ष्म शरीर में रहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और निश्चयात्मक अन्तःकरण की वृत्ति रूप बुद्धि को विज्ञानमय कोशकहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और संकल्प विकल्प रूप अन्तःकरण की वृत्तिरूप मन को मनोमय कोश कहते हैं, कर्मेन्द्रिय सहित प्राणों को प्राणमय कोश कहते हैं, स्थूल शरीर कोअन्नमय कोश कहते हैं, इसी रीति से तीन शरीर में ही पाँच कोश हैं। तहाँ ईश्वर के शरीर में ईश्वर के कोश हैं। और जीव के शरीर में जीव के कोश हैं। कोश म्यान का नाम है। म्यान के समान पाँच कोश आत्मा के स्वरूप को आच्छादित करते हैं। अतः अन्नमयादि

को कोश कहते हैं। अनेक मन्दमति पुरुष पञ्चकोश गत किसी एक पदार्थ को आत्मा मानकर मुख्य साक्षी स्वरूप आत्मा से विमुख ही रहते हैं, अतः सिद्ध होता हैं कि अन्नमयादि आत्म स्वरूप को आच्छादित करते हैं ।।

## ( अन्नमय कोशात्मवादियों का मत )

यहाँ कितने पामर=नीच तो विरोचन मत के अनुसार स्थूल शरीर रूप अन्नमय को आत्मा कहते हैं। और युक्ति कहते हैं कि जिसमें जिस विषयक अहं बुद्धि हो सो आत्मा है, और सो अहं बुद्धि ज्ञान स्थूल शरीर में होती है, क्योंकि मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ ऐसी प्रतीति सबको होती है, और मनुष्यता, ब्राह्मणत्वादि स्थूल शरीर में ही रहता है, अतः स्थूल शरीर ही अहं बुद्धि के विषय होने से आत्मा है।

अथवा जिसमें मुख्य प्रीति हो, सो आत्मा है। स्त्री पुत्र धन पशु आदिक स्थूल शरीर के उपकारक हों, तब उनमें प्रीति होती है, और शरीर के उपकारक नहीं हों, तो प्रीति नहीं होती है, तहाँ जिस शरीर के लिए अन्य पदार्थों में प्रीति होती है, उस स्थूल शरीर में मुख्य प्रीति रहती है, अतः स्थूल शरीर ही आत्मा है, और वस्त्र, भूषण स्नान, भोजनादि द्वारा स्थूल शरीर का शृंगार पोषण ही परम पुरुषार्थ है, यह असुर स्वामी विरोचन का सिद्धान्त हैं ।।

## ( इन्द्रियात्मवादी )

और कोई कहते हैं कि स्थूल शरीर ही आत्मा नहीं है, किन्तु स्थूल शरीर में जिसके रहने से जीवन का व्यवहार होता है, नहीं रहने से मरण होता है। सो आत्मा स्थूल देह से भिन्न है। जीवन मरण इन्द्रियों के आधीन है। जब तक शरीर में इन्द्रियों की स्थिति

रहती है, तब तक जीवन रहता है, और जब कोई इन्द्रिय नहीं रहता है, तब मरण होता है। "और मैं देखता हूँ" मैं सुनता हूँ" मैं बोलता हूँ" इस प्रकार से इन्द्रियों में (इन्द्रिय विषयक) अहं बुद्धि ज्ञान भी होता है। अतः इन्द्रिय ही आत्मा है ।।

### ( प्राणात्मवादी )

और हिरण्य गर्भ के उपासक प्राण को आत्मा कहते है। और उसमें युक्ति कहते हैं, कि मरण के समय मूर्छा (बदहोसी) के होने पर मुमूर्षु (मरणहार) के सम्बन्धी पुत्रादि, प्राण के शेष रहते जीवन समझते (जानते) हैं, और प्राण के नहीं रहने पर मरण समझते हैं। और शरीर में नेत्रेन्द्रिय के बिना अन्ध शरीर रहता है, श्रोत्र के बिना बधिर शरीर रहता है, वाक् के बिना मूक रहता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के बिना भी तत्तद् व्यापार के बिना शरीर स्थिर रहता है परन्तु प्राण के बिना तत्काल ही अमंगल रूप भयंकर होकर नष्ट होता है। और "मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ" इत्यादि प्रतीति से भी इन्द्रियों से भिन्न ही आत्मा सिद्ध होता है, क्योंकि यदि ऐसी प्रतीति हो कि "नेत्र स्वरूप मैं देखता हूँ "श्रवणस्वरूप मैं सुनता हूँ" इत्यादि, तो इन्द्रिय ही आत्मा सिद्ध हों। परन्तु नेत्रवाला मैं देखता हूँ, श्रोत्रवाला सुनता हूँ "इत्यादि प्रतीति होती है, अतः इन्द्रियों से भिन्न ही आत्मा सिद्ध होता है। और सुषुप्ति में सब इन्द्रियों के अभाव लय होते भी प्राण की स्थिति से जीवन का व्यवहार होता है, अतः जीवन मरण भी इन्द्रियों के आधीन नहीं है, किन्तु प्राण के आधीन है, क्योंकि स्थूल शरीर से प्राण के वियोग को ही मरण कहते हैं, अतः जीवन मरण जिस प्राण के आधीन है, सो प्राण ही आत्मा है ।।

### ( मन आत्मवाद )

और कोई कहते हैं कि प्राण जड़ है, अतः घट के समान अनात्मा

है, और बन्ध मोक्ष मन के आधीन है, क्योंकि विषयों में आसक्त मन बन्धन का हेतु हैं, और विषय वासना रहित मन ही मोक्ष का हेतु है, और मन के सम्बन्ध से ही इन्द्रियाँ ज्ञानों के हेतु हैं, क्योंकि मन के सम्बन्ध के बिना इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता है, अतः सब व्यवहारों का हेतु मन है, और वही आत्मा है ॥

## ( बुद्धि आत्मवाद )

और क्षणिक विज्ञानात्मवादी बौद्ध कहते है कि मन का व्यापार बुद्धि के आधीन होता है, क्योंकि बुद्धि का ही आकार विशेष मन होता है, अतः क्षणिक विज्ञान रूप बुद्धि ही आत्मा है, मन नहीं। उन विज्ञान वादियों का यह अभिप्राय है कि सम्पूर्ण पदार्थ विज्ञान के ही आकार हैं। और सो विज्ञान प्रकाश रूप हैं, और क्षणक्षण में उसके उत्पत्ति नाश होते हैं, तहाँ पूर्व, पूर्व विज्ञान के समान उत्तर उत्तर विज्ञान की उत्पत्ति होने से पूर्व २ विज्ञानों का नाश होता है, अतः नदी के प्रवाह के समान विज्ञान की धारा बनी रहती है, सो विज्ञान की धारा दो प्रकार की होती है, एक आलय विज्ञानधारा होती है, दूसरी प्रवृत्ति विज्ञान धारा होती है, तहाँ "अहं अहं" ऐसी धारा को आलय कहते हैं, और उसी को बुद्धि कहते हैं, और "यह घट है, यह शरीर है" ऐसी विज्ञान धारा को प्रवृत्ति विज्ञान धारा कहते हैं। आलय विज्ञान धारा से प्रवृत्ति विज्ञानधारा की उत्पत्ति होती है। मन का स्वरूप भी प्रवृत्ति विज्ञानधारा में होता है, अतः आलय विज्ञान धारा रूप बुद्धि का मन कार्य होता है। और सो बुद्धि ही आत्मा है तहाँ आलय विज्ञान धारा में प्रवृत्ति विज्ञान धारा के लय चिन्तन से निर्विशेष क्षणिक विज्ञानधारा की स्थिति, ही मोक्ष होता है। इस रीति से बुद्धि को ही क्षणिक और प्रकाश रूप कल्पना करके विज्ञान वादी आत्मा कहते हैं ॥

## ( आनन्द मयात्मवाद )

और पूर्वमीमांसा का वार्तिककार=कुमारिल भट्ट का कथन है कि विद्युत तुल्य क्षणिक स्वरूप आत्मा नहीं है, किन्तु जड़ चेतन उभय स्वरूपवाला स्थिर स्वरूप आत्मा है, भट्ट का यह अभिप्राय है कि सुषुप्ति से जाग कर मनुष्य यह कहता है कि "मैं जड़ हो कर सोया" अतः आत्मा जड़ स्वरूप है, और जागने पर स्मृति होती है, अज्ञात वस्तु की स्मृति होती नहीं, और आत्म स्वरूप से भिन्न सुषुप्ति में ज्ञान के साधन नहीं रहते हैं, अतः सुषुप्ति में ज्ञान के साधन नहीं रहते हैं, अतः सुषुप्ति में स्मृति का हेतु जो जड़ता का ज्ञान रहता है, सो आत्मा है, सो आत्मा का स्वरूप ही रहता है। इस रीति से खद्योत के समान प्रकाश अप्रकाश उभय स्वरूप आत्मा है। ज्ञान रूपता से प्रकाश रूप है, जड़ता से अप्रकाश रूप है, सो प्रकाश अप्रकाश स्वरूप आनन्दमय कोश है, क्योंकि सुषुप्ति में चेतन के आभास सहित अज्ञान को आनन्दमय कोश कहते हैं, तहाँ आभास प्रकाश रूप और अज्ञान अप्रकाश रूप रहता है, अतः भट्टमत में आनन्दमय कोश आत्मा माना जाता है ॥

## ( शून्यात्मवाद )

शून्यवादी बौद्ध कहते हैं कि आत्मा निरंश है, अतः एक आत्मा को प्रकाश अप्रकाश उभय रूप कहना नहीं बन सकता, खद्योत का तो एक अंश प्रकाश रूप, दूसरा अंश अप्रकाश रूप रहता है। उसके समान अंश रहित आत्मा में उभय रूप कहना असङ्गत है। क्योंकि उभय रूपता की सिद्धि के लिये आत्मा को सांश मानना होगा। और सांश ( अंशवाले ) घटादि रूप पदार्थ उत्पत्ति नाश वाले होते हैं, तैसे ही सांश आत्मा को भी उत्पत्ति नाश वाला ही मानना होगा, और उत्पत्ति नाश वाला पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व और नाश के अनन्तर

असत्=अविद्यमान रहता है। और जो आदि अन्त में असत् रहता है, सो मध्य में भी वस्तुतः असत रहता है, सत्य नहीं, अतः आत्मा असत स्वरूप है, तैसे ही आत्मा से भिन्न भी सब पदार्थ उत्पत्तिनाश-वाले हैं, अतः असत् रूप है, इस रीति से आत्मा अनात्मा सब वस्तु के असत् होने से शून्य ही परमतत्त्व है, यह माध्यमिक शून्यवादी बौद्ध का मत है।

वह शून्यवादी भी अज्ञान रूप आनन्दमय को आत्मा कहता है। क्योंकि एक ही अज्ञान तीन रूपसे प्रतीत होता है। तहाँ अद्वैत शास्त्र के संस्कार रहित मूढ को तो जगत् रूप परिणाम को प्राप्त अज्ञान सत्य प्रतीत होता है। और अद्वैत शास्त्र के अनुसार युक्ति में निपुण पण्डितों को सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय रूप अज्ञान और उसका कार्य जगत् प्रतीत होता है। ज्ञान निष्ठा को प्राप्त जीवन्मुक्त विद्वान् को कार्य सहित अज्ञान तुच्छ रूप प्रतीत होता है, तुच्छ, असत् और शून्य ये तीनों शब्द एक ही अर्थ को कहते हैं॥

इस रीति से जीवन्मुक्त को तुच्छ रूप प्रतीत होनेवाले अज्ञान में मोहित शून्यवादी परम पुरुषार्थ को नहीं जानते हैं, किन्तु तुच्छ रूप आनन्दमय कोश को ही आत्मा कहते हैं॥

### ( प्रभाकर नैयायिकादिमत )

और पूर्वमीमांसा का एक देशी प्रभाकर और नैयायिक कहते हैं कि आत्मा शून्य रूप नहीं, क्योंकि जो आत्मा को शून्य रूप मानता हो, उसको पूछा जाय कि, तुम शून्य रूप आत्मा का अनुभव किये हो, या नहीं। यदि कहे कि "शून्य का अनुभव मैंने किया है" तो वह अनुभव कर्ता आत्मा शून्य से विलक्षण सिद्ध होता है, यदि कहे कि शून्य का अनुभव नहीं किया है, तो शून्य का अनुभाव सिद्ध होता है।

इस रीति से शून्य से विलक्षण अनुभवकर्ता आत्मा है, उस आत्मा के साथ मनके संयोग से अनुभवादि रूप ज्ञान होता है, उस ज्ञान गुण से आत्मा चेतन कहा जाता है, और स्वरूप से जड़ है। ज्ञान के समान सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि गुण भी आत्मा में रहते हैं ॥

इस प्रकार मानने वाले प्रभाकरादि के मत में भी आनन्दमय कोश ही आत्मा सिद्ध होता है, और विज्ञानमय कोश में वर्तमान बुद्धि आत्मा का ज्ञान गुण उन्हे प्रतीत होता है। क्योंकि आनन्दमय कोश में चेतन गूढ=आवृत रहता है, विवेक रहित को नहीं भासता है। और प्रभाकर तथा नैयायिक आत्मा को सुषुप्ति में ज्ञानहीन=जड मानकर, सदा स्वरूप[1] से जड कहते हैं। अतः गूढ चेतन वाला आनन्दमय में ही उन्हें आत्मता की भ्रान्ति है। और आत्मस्वरूप नित्य ज्ञान को जीव में नहीं मानते हैं, किन्तु अनित्य मानते हैं, सो अनित्य ज्ञान वेदान्त सिद्धान्त में अन्तःकरण की वृत्ति बुद्धि रूप माना गया है। इस प्रकार से उक्त मत में आनन्दमयकोश आत्मा है, और बुद्धि उसका गुण है ॥

यह मत भी समीचीन नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न घटादि रूप जड़वस्तु अनित्य हैं, यदि आत्मा भी ज्ञान स्वरूप नहीं है, तो घटादि के समान जड़ होने से अनित्य ही होगा, और आत्मा के अनित्य रहने पर मोक्षार्थक साधन निष्फल होगें ॥

इस रीति से वेदान्तवाक्यों में विश्वास रहित बहिर्मुख मनुष्य पाँच कोशों में ही किसी पदार्थ को आत्मा मानते हैं, और मुख्यात्म-

---

१ वस्तुः ज्ञान का संस्कार=सूक्ष्म स्वरूप सुषुप्ति में भी माना जाता है कि जिससे स्मृति होती है। अतः न्याय मत से सर्वथा जड़ आत्मा नहीं कहा जा सकता है ॥

स्वरूप साक्षी को नहीं जानते हैं। अतः आत्मा के आच्छादक होने से अन्नमयादि को कोश कहते हैं ॥

जीव के पञ्चकोश जीव के यथार्थ स्वरूप साक्षी को जैसे आच्छादन करते हैं। तैसे ईश्वर के समष्टि पञ्चकोश ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को आच्छादन करते हैं। क्योंकि ईश्वर का यथार्थ स्वरूप तो तत्पद का लक्ष्य ( शुद्ध निर्गुण ब्रह्म ) है। उसको त्यागकर कोई तो माया रूप आनन्दमय कोश से विशिष्ट=युक्त तत्पद का वाच्य अन्तर्यामी को ही परम तत्त्व कहते हैं। तैसे हिरण्यगर्भ, वैश्वानर, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, गणेश, देवी और सूर्यादि में तथा असि, कुदाल, पीपल, अर्क, वंश=वाँस पर्यन्त पदार्थों में परमात्म भ्रान्ति मनुष्य करते हैं। यद्यपि सब पदार्थों में लक्ष्य भाग सर्वसाक्षी परमात्मा से भिन्न नहीं है, तथापि तत्तत् उन उपाधियों से युक्त=सहित को परमात्मा मानते हैं, सो उनकी भ्रान्ति है ॥

इस रीति से पंचकोश से आवृत जीव और ईश्वर के परमार्थ स्वरूप से विमुख होकर, तथा देहादि में आत्म भ्रान्ति करके अज्ञप्राणी पुण्य पाप कर्म करते हैं। और अन्तर्यामी से वांसादि पर्यन्त को ईश्वर मानकर, उनकी आराधना=सेवा पूजा से सुख चाहते हैं। तहाँ जैसी उपाधि की आराधना करते हैं, उसके अनुसार ही उनको फल होता है, क्योंकि कारण सूक्ष्म स्थूल सब प्रपञ्च ईश्वर के तीन शरीर के अन्तर्भूत हैं। तहाँ उपासना के अनुसार सबसे फल होता है। मोक्ष ब्रह्म ज्ञान के बिना कर्म वा उपासना से नहीं होता है, अतः मोक्ष की इच्छा हो तो जीव और ईश्वर के स्वरूप को विवेक द्वारा पंचकोशों से पृथक् करे ( समझे )। दृष्टान्त=जैसे मुंजु और इषीका=तूली मिली रहती हैं, तहाँ कण्डे को तोड़कर तूली को मुंज से पृथक् करते हैं, तैसे विवेक द्वारा जीवेश्वर के स्वरूप को कोशों से पृथक जाने ॥ यह सवैया का अर्थ है ॥३॥

॥ सवैया ॥ ( आत्मविवेक वर्णन )

स्थूल देह का भान न होवै, स्वप्न माहिं लख आतम ज्ञान।
सूक्ष्म भान सुषुप्ति समै नहिं, सुख स्वरूप है आतम भान॥
भासै भये समाधि अवस्था, निरावरण आतम न अज्ञान।
ऐसे तीन देह व्यभिचारी, आतम अनुगत न्यारो जान॥४॥

टीका="उक्त विवेक की रीति यह है कि" स्वप्न अवस्था में स्थूल देह का भान नहीं होता है, और आत्मा का भान=प्रकाश होता है, तैसे ही सुषुप्ति अवस्था में सूक्ष्म शरीर का ज्ञान नहीं होता है, और सुख स्वरूप आत्मा का भान होता है ( सुख स्वरूप से आत्मा सुषुप्ति में प्रतीत होता है ) यदि सुषुप्ति में सुख का ज्ञान नहीं हो, तो "मैं सुख से सोया" ऐसी स्मृति जागने पर नहीं होना चाहिये। अतः सुषुप्ति में सुख का ज्ञान होता है, सुषुप्ति में भासित सुख विषय जन्य तो है नहीं, किन्तु आत्म स्वरूप ही है, और वह सुख स्वरूप आत्मा स्वयं प्रकाश है, अतः सुषुप्ति में सुखरूप से स्वयं भासता है। और निदिध्यासन के फल रूप निर्विकल्प समाधि अवस्था में निरावरण=अज्ञानकृत आवरण रहित आत्मा भासता है, और कारण शरीर रूप अज्ञान न=नहीं भासता है, इस प्रकार तीन देह व्यभिचारी=अव्यापक हैं, अतः एक अवस्था में ही भासते हैं अन्य में नहीं, और आत्मा अनुगत=व्यापक है, अतः सर्वावस्था में भासता इस व्यापकता अव्यापकता के विवेक से आत्मा को तीन देह से न्यारा=भिन्न समझना चाहिये॥

तहाँ स्थूल शरीर अन्नमय कोश है। कारण शरीर आनन्दमय कोश है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय ये तीन कोश सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत हैं, अतः तीन शरीर के विवेक से पाँच कोश का ही विवेक होता है। जैसे जीव का स्वरूप पाँच कोश से पृथक् है, तैसे ईश्वर का स्वरूप भी समष्टि कोशों से पृथक है। और चतुर्थ तरङ्ग में

चतुर्विध आकाश के दृष्टान्तर द्वारा जीवेश्वर के लक्ष्य स्वरूप का विवेक विस्तार से कहा गया है, उत्तर तरङ्ग में अस्ति भाति प्रिय स्वरूप के निरूपण में तथा महावाक्यों के अर्थनिरूपण में आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करेगें। अतः यहाँ संक्षेप से ही आत्मविवेक कहा गया है ॥४॥

उक्त रीति से पञ्च कोशों से भिन्न आत्मा को जानने पर भी जीव कृतकृत्य=जीवन्मुक्त नहीं होता है, किन्तु जीव ब्रह्म के अभेद के निश्चय के लिये, फिर भी विचार कर्तव्य रहता है, अतः कर्तव्यता का अभाव रूप कृतकृत्यता की सिद्धि के लिये महावाक्यार्थ का उपदेश करते हैं कि—

## सवैया

पञ्चकोश ते आतम न्यारो, जानि सु जानहु ब्रह्म स्वरूप।<br>
ताते भिन्न जु दीखै सुनिये, सो मानहु मिथ्या भ्रम कूप ॥<br>
मिथ्या अधिष्ठान न बिगारै, स्वप्न भीख न दरिद्री भूप।<br>
सब कछु कर्ता तऊ अकर्ता, तब अस अद्भुत रूप अनूप ॥५॥

टीका=हे शिष्य ! पञ्च कोश से आत्मा को न्यारा जानकर, सु= सो आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, यह जानो ॥ इस उपदेश में शंका होती है कि जीवात्मा पुण्य पाप कर्ता है, जिससे स्वर्ग नरक मृत्यु लोक में नाना प्रकार के सुखदुख भोगता है, उसकी ब्रह्म से एकता बन नहीं सकती है। इस शंका का समाधान "ताते भिन्न जु दीखै" इत्यादि तीन पद से कहते हैं कि, उस ब्रह्म स्वरूप आत्मा से भिन्न जो दीखता है, और शास्त्र से जो स्वर्ग नरक पुण्य पापादि सुने जाते हैं, उन सब को मिथ्या भ्रम स्वरूप मानो। और मिथ्या वस्तु अधिष्ठान को नहीं बिगाड़ती है। जैसे स्वप्न के मिथ्या भीख=भिक्षाटन से भूप दरिद्र नहीं होता है, मरुस्थल के मिथ्या जल से भूमि गीली नहीं होती है,

न मिथ्या सर्प से रज्जु सविष होता है । अतः सत्ता स्फूर्ति द्वारा "सब कर्ता" सम्पूर्ण मिथ्या शुभ अशुभ क्रियाओं का कर्ता है "तऊ,, तो भी परमार्थ से अकर्ता है । ऐसा "तब" तेरा अद्भुत=आश्चर्य स्वरूप अनूप=उपमा रहित है ॥

इसका यह भाव है कि ब्रह्म से अभिन्न तेरे स्वरूप में स्थूल सूक्ष्म शरीर और उनकी शुभाशुभ क्रिया, तथा उनके फल जन्म मरण स्वर्ग नरक सुख दुःख ये सब अविद्या से कल्पित हैं, उन कल्पित सामग्रियों से तेरा ब्रह्मभाव बिगड़ता नहीं है, अतः ज्ञान से प्रथम भी आत्मा ब्रह्म स्वरूप ही है । उस असंग आत्मा में तीनों काल में शरीर और उनके धर्मों का सम्बन्ध नहीं है, अतः आत्मा नित्यमुक्त है, उसका ब्रह्म से कभी भेद नहीं है ॥ ५ ॥

यदि कहो कि आत्मा नित्यमुक्त सदा ब्रह्म स्वरूप हो तो ज्ञान के श्रवणादि रूप साधन व्यर्थ होंगे, तो इसका समाधान सुनो ॥

॥ इन्दव छन्द ॥

**नाहिं खपुष्प समान प्रपञ्च तु, ईश कहाँ करता जु कहावै ।**
**साक्ष्य नहीं इमि साक्षि स्वरूप न, दृश्य नहीं दृक काहि जनावै ॥**
**बन्ध हु होइ तु मोक्ष बनै अरु, होय अज्ञान तु ज्ञान नशावै ।**
**जानि यही कर्तव्य तजै सब, निश्चल होतहि निश्चल पावै ॥६॥**

**टीका**=जीवन्मुक्त विद्वान्=ज्ञानी की दृष्टि में अज्ञान और उसका कार्य तुच्छ है, सो जीवन्मुक्त का निश्चय बताते हैं कि हे शिष्य यह प्रपञ्च खपुष्प=आकाश फूल के समान होने के कारण नहीं है, अतः इसका कर्ता ईश्वर भी नहीं है । और साक्षी के विषय अज्ञानादि को साक्ष्य कहते हैं. सो साक्ष्य नहीं है, अतः साक्षी भी नहीं है । और दृश्य के प्रकाशक को दृक्=द्रष्टा कहते हैं । और प्रकाशने योग्य देहादि दृश्य कहे जाते हैं, सो दृश्य देहादि नहीं है अतः दृक भी नहीं

है । यद्यपि कूटस्थ एक चेतन को साक्षी और दृक् कहते हैं, उसका निषेध नहीं हो सकता, तथापि साक्ष्य की अपेक्षा से साक्षी, और दृश्य की अपेक्षा से दृक् नाम चेतन के होते हैं, अतः साक्ष्य और दृश्य के अभाव=मिथ्यात्व से साक्षी और दृक् नाम मात्र का निषेध करते हैं, स्वरूप का नहीं ॥

और बन्ध हो तो बन्ध की निवृत्ति रूप मोक्ष हो । बन्ध नहीं, अतः मोक्ष भी नहीं । अज्ञान हो, तो उसका ज्ञान से नाश हो, अज्ञान नहीं, अतः उसका नाशक ज्ञान भी नहीं । यह जान कर सब कर्तव्य को तजै=मुझे यह करने योग्य है, इस बुद्धि को त्यागे; क्योंकि यह लोक और परलोक तो तुच्छ हैं, अतः उनके लिए कोई कर्तव्य नहीं हैं, और आत्मा में बन्ध नहीं है, अतः मोक्ष के लिए भी कर्तव्य नहीं । इस रीति से आत्मा को नित्य- मुक्त ब्रह्मस्वरूप जाककर जब निश्चल हो=सब कर्तव्य को त्यागे, तब निश्चल=निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूप विदेह मोक्ष को प्राप्त करता है ॥

इसका यह अभिप्राय है कि यद्यपि ज्ञान से प्रथम भी आत्मा नित्युमुक्त ब्रह्मस्वरूप ही रहता है, तथापि ज्ञान से प्रथम आत्मा को कर्ता भोक्ता मिथ्या मानकर सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति के लिए अज्ञानी अनेक साधन करते हैं, उनसे क्लेश ही पाते हैं, फिर ज्ञानाधिकारी को जब उत्तम आचार्य मिलते है, तब वेदान्त वाक्यों का उपदेश करते हैं, फिर उन वाक्यों के श्रवण से ऐसा ज्ञान होता है कि "मैं कर्ता भोक्ता नहीं" किन्तु मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ अतः मुझे किञ्चित भी कर्तव्य नहीं है ऐसा जानना ही श्रवणादि का फल है; ब्रह्म की प्राप्ति वेदान्त श्रवण का फल नहीं, क्योंकि अपना स्वरूप ही ब्रह्म है, अतः नित्य प्राप्त है ॥ ६ ॥

**दोहा=यही चिह्न अज्ञान को, जो मानै कर्तव्य ।**

सोई ज्ञानी सुघर नर, नहिं जाकूं भवितव्य ॥२॥

टीका—जो कर्तव्य को मानना हैं। सो अज्ञान का चिह्न है, जिसको भवितव्य नहीं है। अन्य स्वरूप होने की इच्छा नहीं है, उसको सुन्दर ज्ञानी कहते हैं, वही पूर्ण ज्ञानी है ॥२०॥

॥ इन्दव छन्द ॥

एक अखण्डित ब्रह्म असङ्ग, अजन्म अदृश्य अरूप अनामै[1]।
मूल[2] अज्ञान न सूक्षम स्थूल, समष्टि न व्यष्टि पनो नहिं तामै ॥
ईश न सूत्र[3] विराट न प्राज्ञ न, तैजस विश्व स्वरूप न तामै।
भोग न योग न बन्ध न मोक्ष, नहीं कछु[4] वामें रु है सब वामें॥७॥
जाग्रत में जु प्रपञ्च प्रभासत, सो सब बुद्धि विलास[5] बन्यो है।
ज्यूं सुपने महँ भोग्य न भोग, तऊँ इक चित्र विचित्र जन्यो[6] है ॥
लीन सुषूपति में मति होतहि, भेद भगै इक रूप[7] सुन्यो है।
बुद्धि रच्यो जु मनोरथ[8] मात्रसु, निश्चल बुद्धि[9] प्रकाश भन्यो है॥८॥

॥ सवैया छन्द ॥

जाके हिये ज्ञान उजियारो, तम अँधियारों[10] खरो विनाश।
सदा असङ्ग एक रस आतम, ब्रह्म रूप सो स्वयं प्रकाश ॥
ना कछु भयो न है न ह्वै हैं, जगत मनोरथ मात्र विलास।
ताकी प्राप्ति निवृत्ति न चाहत, ज्यूं ज्ञानी के कोउ न आस ॥९॥

---

१ नाम रहित ॥ २ कारण शरीर रूप अज्ञान ॥ ३ हिरण्यगर्भ ॥ ४ असंग होने से ब्रह्म में कुछ नहीं है। और अधिष्ठान आधार होने से सब उसमें है, तथा मिथ्या होने से ब्रह्म में वस्तुतः नहीं है, परन्तु मायिक है ॥ ५ कार्य = लीला ॥ ६ प्रतीत होता हे ॥ ७ शास्त्र से सुना गया है ॥ ८ इच्छा मात्र = मनोमय ॥ ९ उस बुद्धि को प्रकाशक निश्चल = निष्क्रिय ब्रह्म को कहा गया है। अतः ब्रह्म के प्रकाश से जड़ बुद्धि द्वारा भी कार्य प्रपञ्च होता है ॥ १० खर = तीक्ष्ण = कठिन तम = अविद्या रूप अन्धकार।

देखे सुनै[1] न सुनै न देखै, सब रस गहै लेत न स्वाद ।
सूँघि परसि परसै न सूँघै, बैन न बोलै करै विवाद ॥
ग्रहि न ग्रहै मल तजै न त्यागै, चलै नहीं अरु धावत पाद ।
भोगै युवति सदा संन्यासी, शिष लख यह अद्भुत सम्वाद ॥१०॥

उक्त कथन का यह अभिप्राय है कि—

निज[2] विषयन में इन्द्रिय वर्ते, तिन ते मेरो नाहीं सङ्ग ।
मैं इन्द्रिय नहि मम इन्द्रिय नहिं, मैं साक्षी कूटस्थ असङ्ग ॥
त्यागहु विषय कि भोगहु इन्द्रिय, मोकूं लगै न रञ्चक रङ्ग ।
यह निश्चय ज्ञानी को जाते, कर्ता दीखै करै न अङ्ग ॥११॥

---

१ जीव के स्वप्न कालिक प्रातिभासिक, जाग्रत कालिक व्यावहारिक और समाधिमोक्ष=कालिक तथा सदा सर्वाधिष्ठान रूप पारमार्थिक ये तीन स्वरूप हैं, तहाँ पारमार्थिक स्वरूप की सत्ता स्फूर्ति से ही अन्य दो स्वरूप में देखना सुनना और बोलना ग्रहणादि रूप व्यापार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से होते हैं। अतः वह पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्मात्मा ही मानो देखना सुनना आदि व्यापार करता है। और वस्तुतः नित्य ज्ञान स्वरूप निष्क्रिय होने के कारण कोई व्यापार नहीं करता है, और ब्रह्मात्मा मायात्मक बुद्धि रूप युवती को सदा भोगता है गीता अ० १३।१४ में ब्रह्म को गुणभोक्तृ कहा गया है। बुद्धि की भोगात्मा वृत्तियों को प्रकाशता है, और स्वरूप से सदा संन्यासी=उदासीन=असङ्ग रहता है, सांख्य में भी इसी प्रकार आत्मा को भोक्ता कहा गया है। यह अर्थ "निश्चल बुद्धि प्रकाश भन्यों है" इस वाक्य से प्रथम सूचित किया गया है ॥ यह परमार्थ की कथा है, व्यावहारिक सन्यासी व्यवहार में युवति के भोग से पतित होगा ॥

हे अङ्ग ! प्रिय ! अन्य अर्थ स्पष्ट है ॥११॥

इस उक्त रीति से आचार्य ने शिष्य को गोप्य तत्त्व=सत्यात्मा का उपदेश किया, तो भी शिष्य के मुख को अत्यन्त प्रसन्न नहीं देख कर, यह समझा=जानाकि शिष्य कृतार्थ नहीं हुवा है, यदि कृतार्थ हुआ होता, तो इसका मुख प्रसन्न होता, अतः फिर स्थूल रीति से उपदेश करने के लिये लयचिन्तन का कथन करते हैं कि—

॥ सवैया छन्द ॥ ( लयचिन्तन का प्रकार )

माटी को कारजघट जैसे, माटी ताके बाहरि माहिं ।
जल ते फेन तरंग बुदबुदा, उपजत जल ते जुदे सुनाहिं ॥
ऐसे जो जाको है कारज, कारण रूप पिछानहु ताहि ।
कारण ईस सकल को सो मैं, लय चिन्तन जानहु विध याहि॥१२॥

---

२ यह ( नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् भ० गीता० अ० ५।८ ) इत्यादि वचनो के अनुसार, योगयुक्त, विशुद्ध विजित मन वाले, जितेन्द्रिय, सर्वात्म स्वरूप निजात्मदर्शी ज्ञानी की स्थिति और निश्चय का वर्णन किया गया है कि, स्वेच्छा परेच्छा अनिच्छा पूर्वक प्रारब्धानुसार शारीरिक ऐन्द्रियक सब योग्य व्यवहार करते हुए भी प्रबल राग वासना मूलक कोई व्यापार ज्ञानी नहीं करता है, प्रारब्ध बल से प्रदग्ध राग द्वारा ही दैहिक व्यवहार ज्ञानी का होता है। उसको भी ज्ञानी देह और इन्द्रियों में समझता है, आत्मा में नहीं, अतः विविदिषु वाविद्वत्संन्यास वाला ज्ञानी भिक्षाटनादि उपदेशादि मात्र करता है, सांसारिक भोग नहीं, गृहस्थ ज्ञानी भी मन से संन्यासी होता हुआ भी देह से कर्म करता है, राग वासना अभिमान पूर्वक व्यापार भोगादि करने वाले संन्यासी तो पतित होते हैं, और वे शास्त्र सम्मत ज्ञानी नहीं हैं, ( रागो लिङ्गमबोधस्य ) इत्यादि अभियुक्त वचन हैं ॥

टीका=जैसे माटी के कार्य के बाहर भीतर माटी मात्र रहती है, अतः माटी का सब कार्य माटी स्वरूप ही रहता है, और फेन आदि जल के कार्य जल स्वरूप रहते हैं, इसी प्रकार जो जिसका कार्य है, सो उस उपादन कारण से भिन्न नहीं है, किन्तु सब कार्य अपने उपादान कारण स्वरूप ही है। और सब संसार का मूल कारण मायी ईश्वर है, अतः सब संसार ईश्वर स्वरूप से भिन्न नहीं, किन्तु सब स्वरूप ईश्वर ही है, और "सो ईश्वर मैं हूँ" इस रीति से लयचिन्तन को (कार्य को कारण रूप से चिन्तन को) समझकर, तू लय-चिन्तन कर ॥

कर्तव्य लयचिन्तन का संक्षेप से यह क्रम है कि-सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पञ्चीकृत भतों का कार्य है, तहाँ पृथिवी का कार्य पृथ्वी रूप, जलका कार्य जल स्वरूप है, इसी प्रकार जो जिसका कार्य है, सो उस कारण स्वरूप है, इस रीति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पञ्चीकृत भूत स्वरूप है ॥ तैसे ही पञ्चीकृत भूत भी अपञ्चीकृत भूतों के कार्य हैं, अतः अञ्चीकृत भूत स्वरूप हैं, पृथक् नहीं। और अन्तःकरणादि सूक्ष्म सृष्टि भी अपञ्चीकृत भूतों के कार्य होने से अपञ्चीकृत भूत स्वरूप हैं, उनमें अन्तः करण सब भूतों के सत्त्व- गुण के कार्य हैं, अतः सत्त्वगुण स्वरूप हैं। और भूतों के रजोगुण अंशों के कार्य प्राण रजोगुण स्वरूप हैं। पृथिवी के रजोगुण अंश का कार्य गुदा इन्द्रिय पृथिवी का रजोगुण स्वरूप है। पृथिवी के सत्त्वगुण का कार्य घ्राण इन्द्रिय उसका सत्त्वगुण स्वरूप है। इसी प्रकार रसना और उपस्थ जल के सत्व रजोगुण स्वरूप हैं। नेत्र और पाद तेज के सत्त्व रजोगुण स्वरूप हैं। त्वक् और पाणि वायु के सत्त्वरजोगुणरूप हैं, श्रोत्र और वाक् आकाश के सत्वरजोगुण रूप हैं, इस प्रकार सब सूक्ष्म सृष्टि अपञ्चीकृत भूत स्वरूप हैं ॥

उक्त चिन्तन करके अपञ्चीकृत भूतों का भी लयचिन्तन करे कि, पृथ्वी जलका कार्य है, अतः जल स्वरूप है, तेज का कार्य जल तेज स्वरूप है। वायु का कार्य तेज वायु स्वरूप है, आकाश का कार्य वायु आकाश स्वरूप है। तमोगुण प्रधान प्रकृति=मूल कारण का कार्य आकाश प्रकृति स्वरूप है, माया की अवस्था विशेष ही प्रकृति है, अतः प्रकृति माया स्वरूप है। एक वस्तु के प्रधान १ प्रकृति २ माया ३ अविद्या ४ अज्ञान ५ शक्ति, ये नाम हैं। सब कार्य को अपने में लीन करके प्रलय में स्थिर उदासीन स्वरूप को प्रधान कहते हैं। सृष्टि के उपादान योग्य तमोगुण प्रधान स्वरूप को प्रकृति कहते हैं। और जैसे योग्य देश कालादि सामग्री के बिना दुर्घट पदार्थों की इन्द्रजाल से उत्पत्ति होती है, तहाँ इन्द्रजाल को माया कहते हैं, तैसे असङ्ग अद्वितीय ब्रह्म में इच्छा आदि दुर्घट हैं, उनको प्रकृति सिद्ध करती है, अतः माया कहते हैं, ब्रह्म विद्या से निवृत्त होने से अविद्या कही जाती है, और विद्या से प्रथम स्वरूप के आच्छादन करने से अज्ञान कहा जाता है, और कभी स्वतन्त्र नहीं रहती, किन्तु चेतन के के आश्रित ही रहती है, अतः शक्ति कहते है॥

उक्त रीति से प्रकृति आदि प्रधान के ही भेद हैं, अतः प्रधान स्वरूप हैं, और प्रधान चेतन ब्रह्म की शक्ति है, और जैसे पुरुष में सामर्थ्य रूप शक्ति पुरुष से भिन्न नहीं, तैसे चेतन में प्रधान रूप शक्ति चेतन से भिन्न सत्ता रहित है, इस प्रकार से सब अनात्म पदार्थों का ब्रह्म में लयचिन्तन करके "सो अद्वय ब्रह्म मैं हूँ" यह चिन्तन कारे॥

जिसको महावाक्यों के विचार करने पर भी बुद्धि की मन्दत विषयासक्ति आदि किसी प्रतिबन्धक से अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो, उसके लिये यह लयचिन्तन रूप ध्यान कहा गया है, ध्यान और ज्ञान में यह वक्ष्यमाण भेद है कि, ज्ञान तो प्रमाण और प्रेमय के आधीन होता है, विधि और पुरुष की इच्छा के आधीन

नहीं । और विधि, पुरुष की इच्छा और विश्वास तथा हठके आधीन ध्यान होता है ॥

जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान में नेत्र प्रमाण है, और घटादिक प्रमेय हैं, तहाँ, नेत्र और घटके सम्बन्ध होने पर इच्छा के बिना भी प्रत्यक्ष घट का ज्ञान होता है, भाद्रपद शुल्क चतुर्थी के दिन चन्द्र दर्शन के निषेध को समझ कर, जिसको इच्छा होती है कि "आज मुझे चन्द्र दर्शन नहीं हो" और उसको भी यदि नेत्र प्रमाण और चन्द्र प्रमेय का सम्बन्ध किसी प्रकार होता है, तो चन्द्र का प्रत्यक्ष ज्ञान अवश्य होता है, अतः प्रमाण प्रमेय के आधीन ज्ञान सिद्ध होता है, विधि और इच्छा के आधीन नहीं ॥

और "शालग्राम विष्णु रूप है" ऐसा ध्यानादि करे तो उत्तम फल होता है, ऐसी विधि है, तहाँ शास्त्र प्रमाण से विष्णु को चतुर्भुज और शंख, चक्र, गदा, पद्म, लक्ष्मी आदि युक्त जानता है। और शालग्राम को नेत्र प्रमाण से शिला जानता है, तो भी मनुष्य विधि, विश्वास और इच्छा से "शाल ग्राम विष्णु है" ऐसा ध्यान=चिन्तन करता है ॥

सो ध्यान नाना प्रकार के शास्त्र में विहित हैं, कहीं तो अन्य वस्तु का किसी अन्य रूप से ध्यान कहा गया है। जैसे कि शालग्राम का विष्णु रूप से ध्यान कहा गया है। इस ध्यान को प्रतीक ध्यान कहते (प्रतिकूल और एक देश=अंश को प्रतीक कहते हैं) सब संसार स्वरूप परमात्मा को उससे विपरीत उसके उत्तम किसी अंश में चिन्तन करना प्रतीक ध्यान होता है ॥

और वैकुण्ठलोक वासी विष्णु का शंख चक्रादि युक्त चतुर्भुज मूर्ति रूप से ध्यान किया जाता है, तहाँ अन्य रूप से नहीं, किन्तु ध्येय रूप के अनुसार ध्यान होता है। यद्यपि वैकुण्ठ वासी विष्णु का स्वरूप ध्याता को प्रत्यक्ष नहीं रहता है, तथापि शास्त्र से जाना जाता है, और

शास्त्र ने शंख चक्रादि सहित ही विष्णु का स्वरूप कहा है, अतः यह ध्यान ध्येय स्वरूप के अनुसार होता है। सो ध्यान विधि, विश्वास और इच्छा के बिना नहीं होता है। तहाँ "उपासना करै" ऐसा पुरुष का प्रेरक वचन विधि कहा जाता है। उस वचन में श्रद्धा को विश्वास कहते हैं। और कामना रूप अन्तःकरण के रजोगुण की वृत्ति इच्छा कहाती है, ये तीनों ध्यान के हेतु हैं। ज्ञान के नहीं। और ध्यान हठ से होता है, ज्ञान में हठ की अपेक्षा नहीं। क्योंकि निरन्तर ध्येयाकार चित्त की वृत्ति को ध्यान कहते हैं। तहाँ वृत्ति में विक्षेप हो तो हठ से वृत्ति को स्थिर करना होता है। और ज्ञान रूप अन्तः करण की वृत्ति से तत्काल ही आवरण के भङ्ग होने से वृत्ति की स्थिति का उपयोग=फल नहीं रहता है। अतः ज्ञान में हठ की अपेक्षा नहीं ॥

वैकुण्ठवासी चतुर्भुज विष्णु के ध्यान के समान "मैं ब्रह्म हूँ" यह ध्यान भी ध्येय के अनुसार होता है, प्रतीक=विपरीत नहीं, परन्तु यह अहंग्रह ध्यान कहा जाता है। सो ध्येय स्वरूप का अपने से अभेद रूप से चिन्तन को अहंग्रह ध्यान कहा जाता है॥ जिस पुरुष को ब्रह्म-स्वरूप आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो, और वेद की आज्ञा रूप विधि में बिश्वास करके "मैं ब्रह्म हूँ" इस वृत्ति को हठ से निरन्तर स्थिति रूप अहंग्रह ध्यान करे, तो उसको भी ज्ञान की प्राप्ति होती है, और मोक्ष होता है॥

### ( प्रणवद्वारा अहंग्रह ध्यान का वर्णन )

अन्य रीति से अहंग्रह उपासना ( ध्यान ) कहते हैं—

॥ सवैया छन्द ॥

ध्यान अहंग्रह प्रणवरूप को, कह्यो सुरेश्वर श्रुति अनुसार।<br>
अक्षर प्रणव ब्रह्म मम रूप सु, यूं अनुलव निजमति गति धार॥

ध्यान समान आन नहिं याके, पञ्चीकरण प्रकार विचार।
जो यह करत उपासन सो मुनि, तुरत नशै संसार अपार॥१३॥

टीका=हे शिष्य ! प्रणवरूप का=ओंकार स्वरूप का अहंग्रह ध्यान माण्डूक्य प्रश्न आदि श्रुतियों के अनुसार सुरेश्वराचार्य ने कहा है, सो तुम करो। उसका संक्षेप से यह प्रकार है कि—प्रणव अक्षर ब्रह्म स्वरूप है, "सो प्रणव रूप ब्रह्म मैं हूँ" इस रीति से अनुलव=प्रतिक्षण में निरन्तर निजमति की गति=वृत्ति को धारो=करो, इसके समान अन्य ध्यान नहीं है, और इस ध्यान के प्रकार=विशेष रीति को सुरेश्वर कृत पञ्चीकरण नामक ग्रन्थ से विचारो॥ चतुर्थ पाद स्पष्ट है॥ १३॥

यद्यपि प्रणव की उपासना बहुत उपनिषदों में वर्णित है, तथापि माण्डूक्य उपनिषद् में विशेष वर्णन है। उसके व्याख्यान में भाष्यकार और आनन्द गिरि ने उसकी रीति स्पष्ट लिखी है, सोई रीति वार्तिक कार ने पञ्चीकरण में लिखी है। उन ग्रन्थों को विचारने में असमर्थ बुद्धि वालों के लिए प्रणव उपासना की रीति यहाँ लिखते हैं कि—दो प्रकार से प्रणव का चिन्तन उपनिषद् में कहा है, एक तो पर ब्रह्म=निर्गुण ब्रह्म रूप से प्रणव का चिन्तन कहा है, और दूसरा अपर=सगुण ब्रह्मरूप से चिन्तन कहा है। तहाँ निर्गुण ब्रह्मरूप से प्रणव का चिन्तन करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है, सगुण ब्रह्म रूप से चिन्तन करने वाला ब्रह्म लोक को पाता है ऐसे सगुण निर्गुण भेद से प्रणव की उपासना द्विविध होती है। उनमें निर्गुण उपासना की रीति लिखते हैं, सगुण की नहीं, क्योंकि जिसको ब्रह्मलोक की कामना हो, उसको कामना रूप प्रतिबन्धक के कारण निर्गुण उपासना से भी ज्ञान द्वारा तत्काल=शीघ्र मोक्ष नहीं होता है, किन्तु ब्रह्मलोक की ही प्राप्ति होती है, और वहाँ हिरण्यगर्भ=ब्रह्मा के समान भोगों को भोगने

पर ज्ञान से मोक्ष होता है। और जिसको ब्रह्म लोक की कामना नहीं होती, उसको निर्गुण उपासना से इस लोक में ही ज्ञान होता है, और उससे मोक्ष होता है। इसी रीति से सगुण उपसना का फल भी निर्गुण उपासना के अन्तर्भूत है। अतः निर्गुण उपासना का प्रकार कहते हैं।

कार्य कारण रूप सब वस्तु ओंकार स्वरूप है, अतः सर्वरूप ओंकार है। सो ऐसे समझना चाहिए कि सब पदार्थों में नाम और रूप दो भाग हैं, तहाँ रूप भाग नाम भाग से भिन्न नहीं है। किन्तु नामत्मक ही रूप भाग है, क्योंकि पदार्थ के रूप=आकार का नाम से निरूपण ज्ञान करके ग्रहण वा त्यागादि व्यवहार होते हैं नामको जानेके विना केवल आकार से व्यवहार नहीं सिद्ध होता है, अतः नाम ही सार=सत्य है और आकार के नाश होने पर भी नाम शेष रहता है, जैसे घट के नाश होने पर मृत्तिका शेष रहती है, तहाँ घट मृत्तिका से पृथक् वस्तु नहीं, किन्तु मृत्तिका स्वरूप है, तैसे आकार के नष्ट होने पर मृत्तिका के समान शेष रहने वाले नाम से आकार पृथक् नहीं, किन्तु नाम स्वरूप ही आकार है॥

अथवा जैसे घट शराबादि में मृत्तिका अनुगत=व्यापक रहती है। और घट शरावादि परस्पर व्यभिचारी=अननुगत रहते हैं, अतः घट शरावादि मिथ्या हैं। और उनमें अनुगत मृत्तिका उनकी अपेक्षा सत्य है, तैसे घट रूप आकार अनेक हैं। उन सबका "घट" यह दो अक्षर रूप नाम एक है, और आकार परस्पर व्यभिचारी हैं। सब घटों के आकार में एक नाम अनुगत है, अतः मिथ्या आकार सत्यनाम से पृथक् नहीं हैं, घट के समान सब पदार्थों के आकार अपने अपने नामों से पृथक् नहीं होने से नाम स्वरूप ही सब आकार हैं॥

सो सब नाम ओंकार स्वरूप हैं। ओंकार से भिन्न नहीं, क्योंकि अर्थ के वाचक शब्दों को नाम कहते हैं। और लोक वेद के सब शब्द

ओंकार से उत्पन्न हुए हैं, सो श्रुति में प्रसिद्ध है। और सब कार्य कारण स्वरूप होता है, अतः ओंकार के कार्य वाचक शब्द रूप नाम सब ओंकार स्वरूप हैं ॥

इस रीति से पदार्थों के अकारात्मक रूप भाग नाम स्वरूप है, और सब नाम ओंकार स्वरूप हैं, अतः सर्व स्वरूप ओंकार है ॥ और जैसे सर्व स्वरूप ओंकार हैं, तैसे सर्व स्वरूप ब्रह्म है, अतः ओंकार ब्रह्म स्वरूप है। अथवा ओंकार ब्रह्म का वाचक है, ब्रह्म वाच्य हैं, वाच्य वाचक का परस्पर अभेद होता है। इस कारण से भी ओंकार ब्रह्मस्वरूप है। अतः ओंकार का ब्रह्म रूप से चिन्तन करे ॥

ब्रह्म स्वरूप ओंकार का आत्मा से भी अभेद चिन्तन करे। क्योंकि आत्मा का ब्रह्म से मुख्य अभेद है, और ब्रह्म के जैसे चार पाद=भाग हैं, तैसे आत्मा के भी चार पाद=भाग=अंश हैं। विराट, हिरण्य-गर्भ, ईश्वर, और तत्पद का लक्ष्य ईश्वर साक्षी, ये चारपाद ब्रह्म के हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और त्वंपद का लक्ष्य जीव साक्षी, ये चारपाद आत्मा के हैं। जीव साक्षी को ही तुरीय कहते हैं। समष्टि स्थूल प्रपञ्च सहित चेतन को विराट् कहते हैं। व्यष्टि स्थूल अभिमानी को विश्व कहते हैं। विराट् और विश्व की उपाधि स्थूल है। अतः विराट् रूप ही विश्व है, विराट् से भिन्न नहीं। विराट् रूप विश्व के सात अङ्ग= अवयव हैं। स्वर्ग लोक मूर्धा=शिर है, सूर्य नेत्र हैं। वायु प्राण है। आकाश धड़ है। समुद्रादि रूप जल मूत्र स्थान है। पृथ्वी पाद=चरण है, होम का स्थान रूप अग्नि मुख है। ये सात अङ्ग विश्व के कहते हैं।

यद्यपि स्वर्गलोकादि विश्व के अङ्ग नहीं हो सकते, तथापि विराट् के अङ्ग हैं, और विराट् विश्व के अभेद होने से विश्व के अङ्ग कहे जाते हैं ॥

तैसे विराट् विश्व के उन्नीस मुख हैं, पांच प्राण, पांच कार्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, और चार अन्तःकरण, ये उन्नीस मुख के समान भोग के साधन होने से मुख कहे जाते हैं। और जाग्रत अवस्था में इन उन्नीस के द्वारा स्थूलशब्दादि विषयों को बाह्य वृत्ति से जीव भोगता है, अतः विराट् रूप विश्वनामक जीव स्थूल का भोक्ता और बाह्य मनोवृत्ति वाला कहाता है, तथा जाग्रद् अवस्थावाला कहाता है ॥

## ( त्रिपटी का वर्णन )

प्राणादि उन्नीस भोग के साधनों में पांच प्राणों से भिन्न दश इन्द्रिय और चार अन्तःकरण, ये चौदहो अपने अपने विषय और देव की सहायता अपने अपने व्यापार में चाहते हैं। देव और विषय की सहायता के विना केवल इनसे भोग नहीं होता है, अतः पांच प्राण और चौदह त्रिपटी विराट् विश्व के मुख=भोग साधन होते हैं॥ इन्द्रिय सहित अन्तःकरण, विषय और देव इन तीन के समुदाय को यहाँ त्रिपटी कहते हैं॥ सो त्रिपुटो इस रीति से कही गई है कि—

१ श्रोत्र इन्द्रिय अध्यात्म ( जीवात्मा में ) है, और उसका विषय शब्द अधिभूत ( आकाश रूप भूत में ) है, दिशा का अभिमानी देव अधिदैव है ( यह एक त्रिपुटी है ) १ इस प्रकरण में क्रियाशक्ति वाले और ज्ञानशक्ति वाले इन्द्रिय अन्तःकरण को अध्यात्म कहते हैं। उन के विषयों को अधिभूत कहते हैं। और उनके सहायक देव को अधिदैव कहते है॥ त्वचा इन्द्रिय अध्यात्म है, शीतादि स्पर्श अधिभूत है। वायु का अभिमानी देव अधिदैव है॥ २ नेत्र अध्यात्म, रूप अधिभूत, सूर्य अधिदैव हैं॥ ३ रसना अध्यात्म, रस अधिभूत, वरुण अधिदैव हैं ॥ ४ घ्राण अध्यात्म, गन्ध अधिभूत, अश्विनी कुमार अदिदैव है, वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने पृथिवी के अभिमानी देव को घ्राण का अभिमानी देव कहा है, सो कहना भी

बनता है, क्योंकि पृथिवी से घ्राण की उत्पत्ति होती है, अतः पृथिवी अधिदैव हो सकती है। और सूर्य की वडवा=अश्वा=घोड़ी की नासिका से अश्विनी कुमार की उत्पत्ति वर्णित है, अतः नासिका का अधिदैव कहूँ अश्विनी कुमार कहे जाते हैं ॥ ५ वाग इन्द्रिय अध्यात्म है, वक्तव्य शब्द अधिभूत है, अग्निदेव अधिदैव है ॥ ६ हस्त=हाथ अध्यात्म ग्रहण योग्य वस्तु अधिभूत, इन्द्र अधिदैव हैं ॥ ७ पाद= चरण अध्यात्म, गन्तव्य अधिभूत, विष्णु अधिदैव हैं ॥ ८ गुदा अध्यात्म, त्याज्य मल अधिभूत, यम अधिदैव हैं ॥ ९ उपस्थ अध्यात्म उसका विषय अधिभूत, प्रजापति अधिदैव हैं ॥ १० मन अध्यात्म, मन्तव्य विषय अधिभूत, चन्द्रमा अधिदैव हैं ११ बुद्धि अध्यात्म, बोद्धव्य अधिभूत, बृहस्पति अधिदैव है। ज्ञान के विषय को बोद्धव्य कहते हैं॥ १२ अहङ्कार अध्यात्म, उसका विषय अधिभूत, रुद्र अधिदैव हैं ॥ १३ चित्त अध्यात्म, उसका विषय अधिभूत क्षेत्रज्ञ साक्षी अधिदैव हैं ॥ १४ ये चतुर्दश त्रिपुठी और पाँच प्राण उन्नीस विराट् रूप विश्व के मुख हैं ॥

## ( विराट् बिश्वादि के अभेद चिन्तन )

जैसे विराट् से विश्व का अभेद है, तैसे ओंकार की प्रथम मात्रा का भी विराट् रूप विश्व से अभेद है, क्योंकि जैसे ब्रह्म के चार पादों में प्रथम पाद विराट् है। आत्मा के चार पादों में प्रथम पाद विश्व है, तैसे ओंकार के चार पादों में प्रथम पाद अकार है। अतः तीनों में प्रथमता रूप समान धर्म से तीनों अभिन्न हैं, उन विश्व, विराट् अकार का अभेद चिन्तन करे ॥

जो सात अङ्ग और उन्नीस मुख विश्व के कहे गये हैं, सोई अङ्ग और मुख तैजस के भी हैं। परन्तु इतना भेद है कि विश्व के अंग और मुख ईश्वर रचित हैं और तैजस ( स्वप्नकालिक भोक्ता ) के

इन्द्रिय, देव, विषयरूप त्रिपुटी और मूर्धादि अङ्ग मनोमय रहते हैं, तैजस का भोग सूक्ष्म होता है यद्यपि सुख वा सुख के ज्ञान का भोग नाम है। उसमें स्थूलता और सूक्ष्मता कहना नहीं बन सकता। तथापि बाह्य शब्दादि विषय के सम्बन्ध से जो सुख वा दुःख का साक्षात्कार होता है, सो स्थूल कहा जाता है। और मानस शब्दादि के सम्बन्ध जन्य भोग को सूक्ष्म कहते हैं। और इसी कारण से विश्व को स्थूल का भोक्ता, और तैजस को सूक्ष्म का भोक्ता श्रुति में कहा है। क्योंकि तैजस के भोग्य शब्दादि मानस होने से सूक्ष्म हैं। और उनकी अपेक्षा विश्व के भोग्य बाह्य शब्दादि स्थूल हैं॥ और विश्व बहिःप्रज्ञ=बाहर की प्रज्ञा वाला है। तैजस अन्तःप्रज्ञ है। क्योंकि विश्व की अन्तःकरण की वृत्ति रूप प्रज्ञा=बुद्धि बाहर जाती है। तैजस की नहीं॥

जैसे विश्व और विराट् का अभेद कहा गया है। तैसे तैजस को हिरण्यगर्भ रूप जानना चाहिए। क्योंकि तैजस और हिरण्नगर्भ दोनों की उपाधि सूक्ष्म है। अतः दोनों की एकता जाने। तैजस हिरण्यगर्भ की एकता को जान कर, ओंकार की द्वितीय मात्रा उकार से उनके अभेद का चिन्तन करे। क्योंकि आत्मा के चार पादों में द्वितीय पाद तैजस है। ब्रह्म के पादों में हिरण्यगर्भ दूसरा पाद है। ओंकार की मात्रा में द्वितीय मात्रा उकार है। इन तीनों में द्वितीयता समानधर्म है, अतः इन की एकता का चिन्तन करे॥

और प्राज्ञ को ईश्वर जानै, क्योंकि प्राज्ञ की उपाधि कारण शरीर है, और ईश्वर की उपाधि भी कारण रूप है, ईश्वर और प्राज्ञ पादों में तृतीय हैं। ओंकार की तृतीय मात्रा मकार है। तृतीयता धर्म तीनों में समान है, अतः इन तीनों की एकता जाने। और यह प्राज्ञ प्रज्ञानघन है, क्योंकि जाग्रत स्वप्न के सब वृत्ति रूप ज्ञान सुषुप्ति में घन=( एक अविद्या रूप ) हो जाते हैं, अतः अविद्योपाधिक जीव को प्रज्ञानघन कहते हैं। और श्रुति ने इस प्राज्ञ को आनन्द भुक् भी कहा है, क्योंकि

अविद्या से आवृत्त आनन्द को यह प्राज्ञ भोगता है । अतः आनन्द भुक् कहा गया है । जैसे विश्व और तैजस का भोग त्रिपुटी से होता है, तैसे प्राज्ञ के भोग की भी त्रिपुटी कही गई है कि चेतन के प्रतिबिम्ब सहित अविद्या की वृत्ति अध्यात्म है । अज्ञान से आवृत्त स्वरूप आनन्द अधिभूत है, ईश्वर अधिदैव है । इस रीति से, विश्व बहिष्प्रज्ञ, तैजस अन्तः प्रज्ञ, और प्राज्ञ प्राज्ञानघन है ॥

इस उक्त रीति से जो तीनों का भेद है, सो उपाधिकृत है, तहाँ विश्व की स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप अज्ञान तीन उपाधि हैं । तैजस के सूक्ष्म अज्ञान दो उपाधि हैं । और प्राज्ञ की एक अज्ञान उपाधि है, और इस प्रकार उपाधि की न्यूनता अधिकता से तीनों का परस्पर भेद है, परमार्थ स्वरूप से भेद नहीं । क्योंकि विश्व, तैजस, और प्राज्ञ इन तीनों में अनुगत=व्यापक चेतन वस्तुतः उपाधि सम्बन्ध से रहित असङ्ग है, सो उपाधियों का अधिष्ठान तरीय है, वह बहिष्प्रज्ञ, अन्तः प्रज्ञ, तथा प्रज्ञानघन भी नहीं है, न कर्मेन्द्रिय वा ज्ञानेन्द्रिय का विषय है, न बुद्धि का विषय है, न किसी शब्द का विषय ( वाच्य ) है । ऐसे तुरीय को परमात्मा के चतुर्थपाद ईश्वर साक्षी शुद्ध ब्रह्म स्वरूप जाने ॥

इस उक्त रीति से दो प्रकार का आत्मा का स्वरूप कहा, तहाँ एक परमार्थ=सत्य स्वरूप है । एक अपरमार्थ स्वरूप है । तीन पाद अपरमार्थ स्वरूप है । और एक पाद तुरीय परमार्थ स्वरूप है । जैसे आत्मा के दो स्वरूप हैं, तैसे ओंकार के भी दो स्परूप हैं, अकार, उकार और मकार ये तीन मात्रा रूप वर्ण=अक्षर तो अपरमार्थ स्परूप हैं, और उनमें व्यापक अस्ति भाति प्रिय स्वरूप अधिष्ठान चेतन परमार्थ स्वरूप है । और उस परमार्थ स्वरूप को श्रुति में अमात्र शब्द से कहा गया है । क्योंकि उस परमार्थ स्वरूप में मात्रा विभाग नहीं है, अतः अमात्र= मात्राओं का अवाच्य=लक्ष्य है ॥

इस प्रकार दो स्वरूप वाला जो ओंकार, उसका दो स्वरूप वाले आत्मा से अभेद जाने। व्यष्टि और समष्टि स्थूल प्रपञ्च सहित विश्व और विराट् का अकार से अभेद समझे। क्योंकि आत्मा के पाद में विश्व आदि है, और ओंकार के मात्राओं में अकार आदि है, अतः दोनों को एक जानै। हिरण्यगर्भ तैजस युक्त सूक्ष्म प्रपञ्च को उकार रूप जाने, क्योंकि ये दोनों द्वितीय हैं, अतः इनको एक जाने॥ कारण उपाधि सहित ईश्वर रूप प्राज्ञ को मकार रूप जाने, क्योंकि ये दोनों तृतीय हैं। अतः ईश्वर रूप प्राज्ञ और मकार को एक जाने॥ उनमें अनुगत तुरीय को ओंकार के मात्राओं में अनुगत अमात्र से अभिन्न जाने। क्योंकि जैसे विश्वादि में तुरीय अनुगत है, तैसे आकारादि में अमात्र अनुगत है। अतः अमात्र और तुरीय को एक जानै। इस रीति से आत्मा के पाद और ओंकार की मात्राओं की एकता को जान कर लय चिन्तन करे॥

## ( लयचिन्तन का वर्णन )

अब उस लय चिन्तन का वर्णन करते हैं—कि—विश्वरूप अकार तैजस रूप उकार से पृथक् नहीं है, किन्तु अकार उकार रूप ही है, ऐसे चिन्तन को इस स्थान में लयचिन्तन कहते हैं। ऐसा ही अन्य मात्राओं में भी जानाना चाहिये कि जिस उकार में अकार का लय किया है, सो तैजस रूप उकार प्राज्ञात्मक मकार रूप है, ऐसा चिन्तन करे। प्राज्ञ रूप मकार की तुरीय रूप अमात्र में लय चिन्तन करे। क्योंकि स्थूल की उत्पत्ति और विलय सूक्ष्म में होता है। अतः विश्व-रूप अकार का तैजस रूप उकार में विलय बनता है। और सूक्ष्म की उत्पत्ति और प्रलय कारण में होता है। अतः तैजस रूप उकार का कारण प्राज्ञ रूप मकार में लय बनता है॥

इस स्थान में विश्व आदि के ग्रहण से, समष्टि विराट् आदि का और अपनी अपनी त्रिपुटियों का ग्रहण जानना चाहिये। और जिस

प्राज्ञ रूप मकार में उकार का लय कहा है, उस मकार को तुरीय रूप अमात्र में लय करे, क्योंकि ओंकार के अमात्र स्वरूप का तुरीय से अभेद है,और सो तुरीय ब्रह्म स्वरूप है, और शुद्ध ब्रह्म में ईश्वर प्राज्ञ दोनों कल्पित हैं। और जो जिसमें कल्पित होता है, सो उसका स्वरूप=तदात्मक होता है, अतः ईश्वर सहित प्राज्ञ रूप मकार का अमात्र रूप ब्रह्म में लय बनता है। इस रीति से जिस ओंकार के परमार्थ स्वरूप अमात्र में सब का लय किया है (समझा है) "सो मैं हूँ" इस प्रकार एकाग्रचित्त होकर चिन्तन करे ॥

**स्थावर जङ्गम रूप**—और असङ्ग, अद्वय, असंसारी, नित्यमुक्त, निर्भय, और ब्रह्म स्वरूप जो ओंकार का परमार्थ स्वरूप है, सो मैं हूं, ऐसा चिन्तन करने से ज्ञान का उदय होता है, अतः ज्ञान द्वारा मुक्ति रूप फल को देने वाली यह ओंकार की निर्गुण उपासना है, सो सब से उमत्त है ॥

पूर्व वर्णित रीति से जो ओंकार के स्वरूप को जानता है, सो मुनि है, अन्य नहीं। क्योंकि मनन करने वाले का मुनि नाम है, और यह ओंकार का चिन्तन मनन रूप है। अतः जो ओंकार का चिन्तन नहीं करता, सो मुनि नहीं ॥

माण्डूक्य उपनिषद् की रीति से यह संक्षिप्त ओंकार का चिन्तन कहा है, नृसिंहतापिनी आदि उपनिषदों में अन्य भी इसका प्रकार वर्णित है। यह[1] ओंकार का चिन्तन परमहंस का गोप्यधन है। वहिर्मुख पुरुष का इसमें अधिकार नहीं। अत्यन्त अन्तर्मुख का

---

[1] महावाक्य पर विचार करने का अधिकार संन्यासिओं को ही है, सब प्रकार की वस्तुओं का त्याग करने वाला ही संन्यासी है, जितने विचारवान् हैं, वे सभी संन्यासी है। महात्मा समर्थ रामदास जी कृत दास बोध, दशक १४ समास १०॥

अधिकार है, गृहस्थ का इसमें अधिकार नहीं, धन पुत्र स्त्री सङ्ग रहित परम हंस का अधिकार है ॥

## ( उक्तलय चिन्तन के फल प्रदर्शन )

पूर्व रीति से ओंकार के ब्रह्मरूप से ध्यान करने से ज्ञान द्वारा मोक्ष होता है। परन्तु जिस पुरुष की इस लोक के वा परलोक के भोगों में आसक्ति वा कामना हो, तीव्र वैराग्य नहीं हो, और हठ से आसक्ति कामना को रोक कर, धन पुत्रादि को त्याग कर, परमहंसगुरु के उपदेश से ओंकार रूप ब्रह्म का ध्यान करे, उसको आसक्ति भोग की कामना ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है, अतः उसको ज्ञान नहीं होता है, किन्तु ध्यान करते ही शरीर को त्यागने के बाद अन्य शरीर की प्राप्ति होती है। यदि इस लोक के भोग की कामना को रोककर ध्यान में लगता है, तो इस लोक में अत्यन्त विभूतिवाले पवित्र सत्सङ्गी कुल में जन्म होता है, तहाँ पूर्व कामना के विषय सब भोग प्राप्त होते हैं। और पूर्वजन्म के ध्यान के संस्कारों से फिर विचार में वा ध्यान में प्रवृत्ति होती है, तिससे ज्ञान होने पर मोक्ष होता है। और ब्रह्म लोक के भोगों की कामनाओं को रोककर, ओंकार रूप ब्रह्म के ध्यान में लगा हो तो, शरीर को त्याग कर ब्रह्म लोक में जाता है, और वहाँ मनुष्य, पितर और देवों को दुर्लभ स्वतन्त्रता के आनन्द को भोगता है। हिरण्य गर्भ की सत्यसंकल्पादि सब विभूति इस को प्राप्त होती है ॥

## ( ब्रह्मलोक के मार्ग के क्रमादिप्रदर्शन )

जिस मार्ग से ब्रह्म लोक में जाता है, उस मार्ग का यह क्रम है है कि—ब्रह्म की उपासना में प्रवृत्त=तत्पर पुरुष के मरण समय उसके इन्द्रिय अन्तःकरण मूर्च्छित रहते हैं, अतः वह पुरुष कहीं जाने में स्वयं असमर्थ रहता है, और यम के दूत भी उपासक भक्त के पास में नहीं आते हैं, कि जो उसके लिङ्ग

शरीर सहित ले जायँ। किन्तु अग्नि का अभिमानी देव मरण समय उसको शरीर से निकाल कर अपने लोक में ले जाते हैं, वहाँ से दिन के अभिमानी देव ले जाते हैं, दिनाभिमानी देव से शुक्लपक्ष के अभिमानी देव अपने लोक में ले जाते हैं। वहाँ से आगे षट् मास उत्तरायण के अभिमानी देव ले जाते हैं। वहाँ से आगे संवत्सर का अभिमानी देव ले जाता है, वहाँ से देव लोक का अभिमानी देव ले जाता है फिर वायु का अभिमानी देव ले जाता है, वहाँ से आगे सूर्य देव ले जाते हैं। वहाँ से आगे चन्द्र देव ले जाते हैं। फिर बिजली (विद्युत) का अभिमानी देव अपने लोक में ले जाता हैं। उस बिजली लोक में उस उपासक के सामने हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) की आज्ञा से, हिरण्यगर्भ के समान रूप वाला, हिरण्यगर्भ लोक वाही (प्रापक) दिव्य पुरुष उसको लेने के लिये आते हैं। सो उसको बिजली के लोक से वरुण लोक में ले जाते हैं, और बिजली का अभिमानी देव साथ जाता है। वरुण लोक से हिरण्यगर्भ लोक वासी दिव्य पुरुष ही उसको इन्द्रलोक में ले जाते हैं, और वरुण देव भी इन्द्रलोक तक उपासक के साथ जाते हैं। उसके आगे प्रजापति के लोक पर्यन्त दिव्य पुरुष और इन्द्रदेव दोनों उपासक के साथ जाते हैं। उससे आगे दिव्य पुरुष और उपासक के साथ ब्रह्म लोक ले जाने में प्रजापति समर्थ नहीं होते हैं, अतः ब्रह्म लोक में उस एक दिव्य पुरुष के ही साथ वह उपासक प्राप्त होता है॥

ब्रह्म लोक का अधिपति=स्वामी हिरण्यगर्भ हैं, सूक्ष्मसमष्टि के अभिमानी चेतन को हिरण्यगर्भ कहते हैं। और कार्य ब्रह्म कहते हैं, और कार्य ब्रह्म के निवास स्थान को ब्रह्मलोक कहते हैं॥ यद्यपि पूर्वरीति से ओंकार की उपासना शुद्ध ब्रह्म रूप से कही गई है। अतः शुद्ध ब्रह्म के उपासक को शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति होनी चाहिये, तथापि शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। और ब्रह्म लोक की कामना

रूप प्रतिबन्धक से जिस को ज्ञान नहीं होता, उसको कार्य ब्रह्म की प्राप्ति रूप सायुज्य मोक्ष होता है। ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासक को हिरण्यगर्भ के समान विभूति प्राप्त होती है। सत्य संकल्प होता है, जैसे शरीर की इच्छा करे तैसा ही शरीर होता है, जिन भोगों की इच्छा करे सो सब भोग संकल्प मात्र से प्राप्त होते हैं, यदि एक समय हजार शरीरों द्वारा जुदे-जुदे भोगों की इच्छा करे, तो उसी समय हजार शरीर और उनके भोगों की जुदी जुदी सामग्री उत्पन्न होती है। और बहुत क्या कहा जाय। जो कुछ संकल्प करे, सो सब सिद्ध होता है, क्योंकि जगत् की उत्पत्ति पालन संहार को छोड़ कर अन्य सब विभूति ईश्वर के समान होती है, इसीको सायुज्य मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार सायुज्य को प्राप्त उपासक बहुत काल तक संकल्प सिद्ध दिव्य पदार्थों को भोग कर, प्रलय काल में हिरण्य गर्भ के लोक के नाश के समय काम के नष्ट होने पर ज्ञान को प्राप्त करके विदेह मुक्त होता है।

जैसे ओंकार रूप ब्रह्म की उपासना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति द्वारा मोक्ष की[1] प्राप्ति होती है, तैसे अन्य उपासना भी मोक्ष फल वाली उपनिषदों में कही गई है। परन्तु अहंग्रह उपासना के बिना अन्य उपसना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं होती। यह वार्ता सूत्रकार और

---

१ ( कर्मज्ञानोभयेन व्रजति विधिपदं मुच्यते कोपि तस्मिन्। रागी प्रत्येति भूयो जनिमृति विषमं बम्भ्रमीतीह लोकः।।स्वाराज्यसिद्धि। १५२ इत्यादि वचनों के अनुसार कर्मोपासना के द्वारा ब्रह्मलोक में जानेवाले कोई परम विरक्त ही वहाँ ज्ञान पाकर मुक्त होते हैं, रागी=कामीलोक फिर इस संसार में आकर जन्मादि रूप कष्ट वार बार पाते हैं।। इस श्लोक का पूर्वाध है कि ( धर्माद्देवत्वमेति व्रजति पुनरधः पातकैः स्थावरादीन्, देहान् प्राप्य प्रणश्यन् क्वचिदपि लभते मानुष्यत्वं च तास्याम् )

भाष्यकार ने चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादन की है। अतः नर्मदेश्वर का शिवरूप से, शालग्राम का विष्णु रूप से जो प्रतीक ध्यान कहा गयाहै। तथा मन और आदित्य का ब्रह्मरूप से जो प्रतीक ध्यान कहा गया है, सो अहंग्रह नहीं, उनसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म के अपने से अभिन्नरूप से सिन्तन को अहंग्रह ध्यान कहते हैं। उसीसे अन्य काम के अभाव से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। अन्य से नहीं॥

पूर्ववर्णित मार्ग को उत्तरायणमार्ग और देवमार्ग कहते हैं। उस मार्ग से जो उपासक ब्रह्मलोक में जाता है, उसको फिर संसार=जन्मादि नहीं होता है, किन्तु ज्ञानी होकर वह विदेह मोक्ष को पाता है, और वहाँ ज्ञान के साधन गुरु शास्त्रादि की अपेक्षा ज्ञान के लिए नहीं होती है, किन्तु वहाँ साधनों के बिना ही ज्ञान होता है, क्योंकि वहाँ तमोगुण और रजोगुण का लेश भी नहीं रहता है, केवल सत्त्वगुण प्रधान वह लोक है, और तमोगुण के अभाव से जड़ता आलस्यादि नहीं रहते हैं, रजोगुण के अभाव से काम क्रोधादि विक्षेप नहीं रहते है, केवल सत्त्व गुण के रहने से उसका कार्य ज्ञान रूप प्रकाश उस लोक में प्रधान रहता है॥

और ओंकार की ब्रह्मरूप से उपासना काल में, ओंकार की मात्राओं के अर्थ का उपासक इस वक्ष्यमाण रीति से चिन्तन करता है कि—स्थूल उपाधि सहित विराट् विश्वरूप चेतन आकार का वाच्य है। सूक्ष्म उपाधि सहित हिरण्यगर्भ तैजस रूप चेतन उकार का वाच्य है। कारण उपाधि सहित ईश्वर प्राज्ञरूप चेतन मकार का वाच्य है। इस प्रकार जो उपासक प्रथम अर्थ का चिन्तन करता है, उसकी ब्रह्मलोक में स्मृति होती है॥

और सत्त्वगुण के प्रभाव से ऐसा विवेक होता है कि—स्थूल उपाधि से चेतन में विराट् पन और विश्वपन की प्रतीति होती है,

तहाँ स्थूल समष्टि की दृष्टि से विराट्त्व ( विराट् पन ) और स्थूल व्यष्टि की दृष्टि से विश्वपन भासता है। उस समष्टि-व्यष्टि की दृष्टि बिना विराट भाव=विराट्त्व और विश्वभाव नहीं प्रतीत होता है, किन्तु चेतन मात्र प्रतीत होता है। इसी प्रकार सूक्ष्म उपाधि वाला हिरण्य गर्भ तैजस चेतन उकार का वाच्य है। तहाँ समष्टि सूक्ष्म उपाधि की दृष्टि से चेतन में हिरण्यगर्भता प्रतीत होती है। और व्यष्टि सूक्ष्म उपाधि की दृष्टि से तैजसता भासती है। सूक्ष्म उपाधि की दृष्टि के बिना हिरण्यगर्भता और तैजसता नहीं भासते हैं। तैसे मकार का वाच्य ईश्वर प्राज्ञ है, तहाँ समष्टि अज्ञान उपाधि की दृष्टि से चेतन में ईश्वरता भासती है। और व्यष्टि अज्ञान उपाधि की दृष्टि से चेतन में प्राज्ञता भासती है। अज्ञान उपधि की दृष्टि के बिना ईश्वरता और प्राज्ञता नहीं प्रतीत होती है॥ जो वस्तु जिसमें अन्य की दृष्टि से प्रतीत हो, सो उसमें परमार्थ से नहीं रहती है। जिसको जो स्वरूप अन्य की दृष्टि के बिना प्रतीत हो, सो उसका परमार्थ स्वरूप रहता है। जैसे एक पुरुष में पिता की दृष्टि से पुत्रता, दादा की दृष्टि से पौत्रता आदि प्रतीत होते हैं, सो परमार्थ से नहीं रहते हैं, किन्तु पुरुष का एक पिंड ही परमार्थ है। तैसे ही स्थूल सूक्ष्म कारण रूप उपाधि की दृष्टि से जो विराट् विश्वादि भासते हैं, सो मिथ्या हैं, चेतन मात्र ही सत्य है। सो चेतन सब भेद रहित है, क्योंकि विराट् और विश्व का भेद स्थूल समष्टि व्यष्टि उपाधि से है, स्वरूप से नहीं। तैसे हिरण्य गर्भ तैजस का भेद सूक्ष्म समष्टि व्यष्टि उपाधि से है, स्वरूप से नहीं ईश्वर प्राज्ञ का भेद भी कारण समष्टि व्यष्टि उपधि के भेद से है, स्वरूप से नहीं। तैजस का हिरण्य गर्भ से और प्राज्ञ का ईश्वर से अभेद है। इसी प्रकार से स्थूल उपाधि वाले का सूक्ष्म उपाधि वाले से वा कारण उपाधि वाले से भेद नहीं है, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म कारण उपाधि की दृष्टि को त्यागने से चेतन स्वरूप में किसी प्रकार का भेद प्रतीत नहीं होता है। और

अनात्मा से भी चेतन का भेद नहीं, क्योंकि अविद्या काल में अनात्मा देहादिक (सत्य) प्रतीत होतेहैं, परमार्थ ( ज्ञान ) से नहीं । अतः उनका भी चेतन से (सत्य) भेद नहीं बन सकता है । इस प्रकार सर्वभेद रहित असङ्ग, निर्विकार, नित्यमुक्त, ओंकार का लक्ष्य स्वरूप, स्वयं प्रकाश आत्मा उस उपासक को भासता=प्रतीत होता है । जिससे हिरण्यगर्भ लोक वासी को फिर संसार नहीं होता है ।

यद्यपि महावाक्य ( अर्थ ) के विवेक विचारादि के बिना ज्ञान नहीं होता है, तथापि ओंकार (अर्थ) का विवेक ही महावाक्य (अर्थ) का विवेक है । क्योंकि स्थूल उपाधि सहित चेतन अकार का वाच्य है, उस उपाधि को त्याग कर चेतन मात्र लक्ष्य है । सूक्ष्म उपाधि सहित चेतन उकार का वाच्य है, उस उपाधि को त्यागकर चेतन मात्र उकार का लक्ष्य है । कारण उपाधि सहित चेतन मकार का वाच्य है, कारण को त्याग कर चेतन मात्र मकार का लक्ष्य है । इस रीति से उपाधि सहित विश्वादि अकारादि के वाच्य हैं । और उपाधि रहित एक चेतन अकारादि सब का लक्ष्य हैं । तैसे नाम रूपात्मक सब उपाधि सहित चेतन ओंकार वर्ण का वाच्य है, और सब उपाधि रहित चेतन ओंकार वर्ण का लक्ष्य है । इस प्रकार से ओंकार और महावाक्यों का एक ही अर्थ है । अतः ओंकार अर्थ के विवेक से अद्वैतात्मा का ज्ञान होता है । इस रीति से आचार्य के मुख से श्रवण करके अदृष्टि नामक मध्यम शिष्य उपासना में प्रवृत्त होकर, परम पुरुषार्थ मोक्ष को ज्ञान द्वारा प्राप्त किया ॥१३॥

जिसका निर्गुण उपासना में अधिकार नहीं है, उसके कर्तव्य को कहते हैं कि—

॥ सवैया छन्द ॥

जो यह[1] निर्गुण ध्यान न ह्वै तो,
सगुण ईश कर मन को धाम।
सगुण उपासना हुँ नहिं ह्वै तो,
कर निष्काम कर्म भज राम॥
जो निष्काम कर्म हुं नहिं होवै,
तो करिये शुभ कर्म सकाम।
जो सकाम कर्म हुं नहिं होवै,
तो शठ बार बार मरि जाम॥ १४॥

---

१ निर्गुण उपासना में अन्तर्मुख वाले परमहंस का अधिकार प्रथम कहा है। सो परमहंस उपासना का तो उत्तम अधिकारी होता है परन्तु अद्वैत ब्रह्मात्मा के ज्ञान का मध्यम अधिकारी होता है, क्योंकि प्रथम के कर्मोपासना से शुद्ध शान्त चित्त वाला पूर्ण विवेकादि युक्त सात्विक धैर्य युक्त और गुरु वाक्य के श्रवण विचार सत्संग मात्र से अद्वैतात्मा के सात्विक ज्ञान को प्राप्त कर सकने वाला उत्तम ज्ञान का अधिकारी होता है, इस रीति से सात्विक ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकें, किन्तु उक्त उपासना से सात्विक ज्ञान को प्राप्त करे, सो ज्ञान का मध्यम अधिकारी होता है। और यह निर्गुण ध्यान भी जिससे नहीं हो सके सो सगुण मायी महेश्वर रूप ईश्वर को अपने मन का धाम करे। सगुण ईश्वर की उपासना करने वाला वह मध्यम उपासक एक वा अनेक गुरु मन्त्र उत्तम देवादि स्वरूप ईश्वर की निष्काम उपासना से सद्गति पाता है, यदि सगुण उपासना भी नहीं हो सके, तो कनिष्ठ उपासक निष्काम कर्म करे और नाम जपादि के द्वारा राम को भजे, और उक्त कर्म के ईश्वरार्पण से कर्म द्वारा राम=ईश्वर का भजन करे॥ ऐसा करने से भी सद्गति शनैः अवश्य होती है। निष्काम

॥ दोहा ॥

ओंकार[1] को अर्थ लखि, भयो कृतार्थ अदृष्टि।
पढै जु यहि तरंग तिहि, दादू करहु सुदृष्टि ॥२१॥

श्री विचारसागर पञ्चमतरङ्ग समाप्त ॥५॥

---

कर्म भी नहीं हो सकते तो दुष्कर्म का त्याग पूर्वक सदा सकाम शुभ ही कर्म करे, दुष्कर्म का त्याग तो सभी को कर्तव्य है, परन्तु सकाम मनुष्य लोभादि वश दुष्कर्म में प्रवृत्त हो सकता है, अतः विवेक से दुष्कर्म का त्याग पूर्वक सकाम सत्कर्म करते रहने पर सत्कर्मों में भी काम मूलक दोष दर्शनादि से निष्काम कर्म कर्ता हो कर मनुष्य सद्-गति को प्राप्त करता है। और उपासना निष्काम सकाम सत्कर्म के नियम से रहित जो मनुष्य है, सो काम लोभादि वश हो कर विवेक के बिना संगादि के अनुसार स्वभाव से पाप पुण्य कर्मों के आचरण से संसार चक्र रूप सब योनियों में बार२ भ्रमता है, क्योंकि वह शठ=क्रूर=कुटिल होने के कारण ऐसा ही फल का अधिकारी है, यहाँ अविवेकादि मूलक दोष दर्शाया गया है कि जिससे मुमुक्षु विवेकादि के लिए यत्न करे॥

१ उक्त रीति से दोष दर्शन द्वारा दुष्कर्मादि के त्याग से उपासना के उत्तम अधिकार को प्राप्त करके ओंकार की निर्गुण उपासना द्वारा ओंकार के अर्थ को अपरोक्ष आत्म स्वरूप समझ कर अदृष्टि नामक मध्यम ज्ञान का अधिकारी जीवन्मुक्त हुआ। सो गुरु के उपदेश और कृपा द्वारा सुदृष्टि=विवेकादि को प्राप्त करने पर ही हुआ, अतः पर गुरु से प्रार्थना की गई है कि हे दादू (पर गुरु) जो इस तरंग को पढ़े उसको सुन्दर दृष्टि=विवेकादि वाला करो॥ और इससे अन्त में सद्गुरु का स्मरण रूप मङ्गलाचरण किया गया है॥

"सो सुदृष्टि जो ज्ञान लहि, रहत असङ्ग अमान ।
राग द्वेष लोभादि तजि, निरखत एक महान ।। १ ।।
असंसक्ति यह भूमिका, परमानन्द स्वरूप ।
सुगुरु कृपा से पाय नर, तरत मोह तम रूप" ।। २ ।।

ॐ शम शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

# ॥ श्रीविचार सागर ॥ षष्ठतरङ्ग ॥

## कनिष्ठ अधिकारी उपदेश निरूपण ॥
## वेदादिसाधन मिथ्यात्ववर्णन ॥

दोहा=चेतन भिन्न अनात्म सब, मिथ्या स्वप्न समान।
यूं सुनि बोल्यो तीसरो, तर्कदृष्टि मतिमान ॥१॥

टीका=चतुर्थ तरङ्ग में उत्तम अधिकारी के प्रति उपदेश का प्रकार कहा गया है, पञ्चम में मध्यम अधिकारी का उपदेश कहा है। इस तरङ्ग में कनिष्ठ के उपदेश के=प्रकार को कहते हैं ! यद्यपि जिसको बहुत शंका हो, उसकी बुद्धि तीव्र रहती है, तथापि वह ज्ञान का कनिष्ठ अधिकारी कहा जाता है। और यह तरङ्ग युक्ति प्रधान=अधिक युक्ति युक्त है, अतः सुने हुए अर्थ में जिसको कुतर्क उत्पन्न हो, उसको इस तरङ्ग का उपयोग=फल होगा। कुतर्क से दुषित बुद्धिवाला कनिष्ठ अधिकारी होता है, उसके उपदेश का प्रकार इस तरङ्ग में कहना है ॥

पूर्वतरङ्ग में प्रणव की उपासना और जगत् की उत्पत्ति के निरूपण से पहले यह कहा है कि "चेतन से भिन्न अज्ञान और उसके कार्य अनात्मा कहे जाते हैं, सो सब स्वप्न के समान यिथ्या हैं" इस वार्ता को सुनकर; और बड़े दोनों भाई को प्रश्न से उपराम=उपरत देखकर तर्कदृष्टि का प्रश्न है कि—

दोहा=पहली जानै वस्तु की, स्मृती स्वप्न में होय।
जाग्रत में अज्ञात अति, ताहि लखै नहिं कोय ॥२॥

टीका=प्रथम जो अत्यन्त अज्ञात पदार्थ हैं, उनका स्वप्न में ज्ञान नहीं होता है। किन्तु जाग्रत् में जिसका प्रथम ज्ञान=अनुभव रूप हुआ हो। उसका स्वप्न में स्मृति रूप ज्ञान होता है, अनुभव नहीं! अतः स्मृति ज्ञान के विषय जाग्रत् के पदार्थों के सत्य होने से उनका स्पप्न में स्मृति रूप ज्ञान भी सत्य होता है, इसलिये स्वप्न के दृष्टान्त से जाग्रत् के पदार्थादि को मिथ्या कहना सम्भव= युक्त नहीं ॥२॥

अन्य प्रकार से भी स्वप्न ज्ञान के विषय पदार्थों की सत्यता को तर्कदृष्टि प्रतिपादन करता है कि—

**दोहा=अथवा स्थूलहिं लिङ्ग तजि, बाहरि देखत जाय।**
**गिरि समुद्र बन वाजिगज, सो मिथ्या किहिं भाय ॥३॥**

टीका=अथवा अन्य प्रकार से स्वप्न के ज्ञान और उनके विषय पदार्थ सत्य सिद्ध होते हैं, मिथ्या नहीं। क्योंकि स्वप्नावस्था में स्थूल शरीर को त्याग कर, लिङ्ग=सूक्ष्म शरीर (सहित जीव) स्थूल से बाहर निकल कर सत्य गिरि समुद्र अश्वादि को ही देखता है, सो मिथ्या कैसे भास सकता है, सत्य है ॥३॥

## प्रथम प्रश्न का उत्तर

॥ दोहा ॥

**यह हस्ती आगे खरो, ऐसो होवै ज्ञान।**
**स्वप्न माहिं स्मृति रूप सो, कैसे होय सुजान ॥४॥**

टीका=पूर्व काल सम्बन्धी पदार्थ का संस्कार मात्र जन्य ज्ञान स्मृति होती है, जैसे पूर्व देखे हुए हस्ती की ('सो हस्ती') ऐसी स्मृति होती है, और "यह हस्ती सम्मुख स्थित है" ऐसा ज्ञान स्मृति नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव कहा जाता है, और स्वप्न में भी "यह

हस्ती आगे खड़ा=स्थिर है, यह पर्वत है यह नदी है" ऐसा ज्ञान होता है, अतः जाग्रत् में देखे पदार्थों की स्मृति स्वप्न में नहीं होती है, किन्तु हस्ती आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है॥

और यदि कोई ऐसी कहे 'शंका करे' कि-"जाग्रत् में ज्ञात पदार्थों का ही स्वप्न में ज्ञान होता है, अज्ञात का नहीं, अतः जाग्रत् पदार्थों के ज्ञान जन्य संस्कार से स्वप्न ज्ञान की उत्पत्ति होती है, और संस्कार जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं। अतः स्वप्न का ज्ञान स्मृति रूप होता है"॥ तो सो शंका युक्त नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता, है, १ एक अभिज्ञारूप (विषय इन्द्रिय सम्बन्ध मात्र जन्य ज्ञान रूप) प्रत्यक्ष होता है, और २ दूसरा प्रत्यभिज्ञा रूप (संस्कार सहित विषय इन्द्रिय सम्बन्ध जन्य ज्ञान रूप) प्रत्यक्ष होता है। केवल इन्द्रिय सम्बन्ध जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान को अभिज्ञा कहते हैं। संस्कार सहित इन्द्रिय सम्बन्ध जन्य ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष कहते हैं। नेत्र सम्बन्ध मात्र जन्य "यह हस्ती" ऐसा ज्ञान अभिज्ञा कहाता है, और पूर्व देखे हस्ती का "सो हस्ती यह है" ऐसा ज्ञान प्रात्यभिज्ञा कहाता है, तहाँ पूर्व कालिक हस्ती के ज्ञान जन्य संस्कार और हस्ती से नेत्र का सम्बन्ध दोनों प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के हेतु होते हैं। अतः संस्कार जन्य ज्ञान स्मृति रूप ही हों, यह नियम नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष भी संस्कार जन्य होता है। अतः इन्द्रिय सम्बन्ध के बिना केवल उद्बुद्ध संस्कार जन्य ज्ञान को स्मृति ज्ञान कहते हैं, और स्वप्न में हस्ती आदि का ज्ञान केवल संस्कार जन्य नहीं होता है, किन्तु निद्रा रूप दोष जन्य होता है, और स्वप्न में हस्ती आदि के समान कल्पित इन्द्रिय भी रहते हैं, अतः इन्द्रिय जन्य ज्ञान होता है। यद्यपि स्वप्न के 'त्रिपुटी' पदार्थ साक्षी भास्य होते हैं। इन्द्रिय जन्य ज्ञान के विषय नहीं, तथापि अविवेकी की दृष्टि से (स्वप्न कालिक प्रतीति से) स्वप्न का

ज्ञान इन्द्रिय जन्य कहा जाता है। इस रीति से स्वप्न का ज्ञान जाग्रत् के पदार्थों की स्मृति नहीं ॥

और स्वप्न से जाग कर मनुष्य कहता है कि "मैं स्वप्न में हस्ती आदि को देखा हूँ" यदि स्वप्न में स्मृति होती हो, तो जाग कर कहना चाहिये कि "स्वप्न में मैंने हस्ती आदि का स्मरण किया है" परन्तु ऐसे कोई नहीं कहता है, अतः जाग्रत के पदार्थों की स्वप्न में स्मृति नहीं होती है ॥

और जाग्रत् में देखे सुने ही पदार्थ का स्वप्न में ज्ञान हो, यह नियम भी नहीं है क्योंकि जाग्रत् में अज्ञात पदार्थों का भी स्वप्न में ज्ञान होता है, कभी स्वप्न में ऐसे विलक्षण पदार्थ प्रतीत होते हैं, कि जो सब जन्म "जीवन" में कभी देखे सुने नहीं गये हों। अतः उनका ज्ञान स्मृति नहीं हो सकता है ॥ यद्यपि "इस जन्म के पदार्थों के ज्ञान के संस्कार ही स्मृति के हेतु हैं" यह नियम नहीं है "अन्य जन्म के संस्कारों से भी स्मृति होती है। क्योंकि अनुकूल ज्ञान से प्रवृत्ति होती है, अनुकूल ज्ञान के बिना नहीं। अतः बालक की जो प्रथम स्तनपान में प्रवृत्ति होती है, उसका हेतु बालक को भी "स्तन पान मेरे लिये अनुकूल है" ऐसा ज्ञान होता है। तहाँ अन्य जन्म में जो स्तन पान में अनुकूलता का अनुभव किया है, उसके संस्कार से बालक को प्रथम अनुकूलता का स्मरण होता है, अतः जन्मान्तर के भी ज्ञानज संस्कार से स्मृति होती है, तैसे इस जन्म में अज्ञात पदार्थों की भी अन्य जन्म के ज्ञान के संस्कारों से स्वप्न में स्मृति हो सकती है, तथापि स्वप्न में कोई पदार्थ ऐसे प्रतीत होते हैं कि जिनके जाग्रत् में किसी जन्म में ज्ञान का सम्भव नहीं, जैसे स्वप्न में अपने मस्तक के छेदन को अपने आँख से देखता है, तहाँ अपने मस्तक छेदन को अपने नेत्र से जाग्रत् में नहीं देखता है, अतः जाग्रत् पदार्थों के ज्ञान के संस्कार मात्र से स्वप्न

में स्मृति नहीं होती है। इस प्रकार स्वप्न की स्मृति रूपता के खराडन में अनेक युक्ति ग्रन्थकारों ने कही है, परन्तु स्वप्न की स्मृति मानने में पूर्व उक्त दूषण अति प्रबल है कि स्मृति ज्ञान के विषय सामने नहीं प्रतीत होते हैं, और स्वप्न के हस्ती आदि स्वप्न काल में सामने प्रतीत होते हैं, अतः हस्ती आदि की स्वप्न में स्मृति नही हो सकती है ॥४॥

"स्वप्न में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्धरूप अनुकूल प्रतिकूल विषयों का तथा साधु असाधु शत्रु मित्रादि का प्रत्यक्ष ज्ञान और उससे सुख दुःख का भोग सब को अनुभव सिद्ध है, तथा कभी किसी स्वप्नानुभूतादि का स्मरण भी स्वप्न में होता है, अतः भोग के स्थान रूप से शास्त्र में वर्णित स्वप्न के सब ज्ञान को स्मरण रूप नहीं कहा जा सकता। गुरु के ऐसे उपदेश को सुनने पर, शिष्य का दूसरा प्रश्न (शंका) उपस्थित होता है, कि=(स्वप्न काल में लिङ्ग शरीर सहित जीव स्थूल शरीर से बाहर निकल कर सत्य ही गिरि नदी आदि को देखता है, अतः स्वप्न कालिक प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मिथ्या नहीं सिद्ध हो सकता, श्रुति भी (बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा) इत्यादि वचनों से शरीर रूप कुलाय से बाहर अमृत=जीव की गति को कहती है" इस प्रश्न=शंका का उत्तर है कि

दोहा=बाहरि लिङ्ग जु नीकसै, देह अमङ्गल होय।
प्राण सहित सुन्दर लसै, याते लिङ्ग हि जोय ॥४॥

टीका=यदि स्थूल शरीर से निकस कर लिङ्ग शरीरी बाहर सत्य ही पदार्थों को देखे तो मरण काल में जैसे लिङ्ग के निकसने से स्थूल देह अमंल=भयंकर होता है, तैसे स्वप्न काल में भी स्थूल देह को अभंगल स्वरूप होना चाहिये। और ऐसा होता नहीं है, किन्तु स्वप्न काल में भी अन्य पुरुष को प्राण सहित सुन्दर=मंगल रूप

लसता है=कान्तियुक्त दीखता है। अतः स्वप्न में लिङ्ग बाहर नहीं निकलता है॥

और यदि ऐसे कहो कि=स्वप्न में प्राण और कर्मेन्द्रिय स्थूल देह से नहीं निकलते हैं, किन्तु अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रिय बाहर निकल कर, पर्वतादि में जाकर उनको देखते हैं, तथा स्पर्शादि करते हैं। अतः प्राण के नहीं निकसने से स्थूल देह मरण तुल्य भयंकर नहीं होता है। और प्राणों के बाहर जाने का स्वप्न में कोई फल भी नहीं है। क्योंकि प्राण में ज्ञान शक्ति नहीं है, किन्तु क्रिया शक्ति है, अतः ज्ञानशक्तिवाले अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रिय स्वप्न काल में बाहर निकलते हैं, ज्ञान शक्ति रहित प्राण और कर्मेन्द्रिय नहीं निकसते हैं, अतः मरणनिमित्तक विकार दाहादि से स्थूल की रक्षा होती है। और अन्तःकरण ज्ञानेन्द्रिय सहित जीव बाहर के सत्य पर्वतादि को स्वप्न में देख कर, जागने के समय प्राण कर्मेन्द्रियों के समीप में आ जाता है॥

तो सो कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म शरीर के अन्तःकरणादि रूप समाज=संघ में सब का स्वामी प्राण है, प्राण के बिना स्थूल की स्थिति नहीं रहती हैं, अतः स्थूल का सार प्राण है। तैसे सूक्ष्म शरीर में भी प्राण ही प्रधान है। क्योंकि प्राण इन्द्रियादिक ( के अधिदेव ) ने परस्पर श्रेष्ठता के विवाद करके, और प्रजापति के समीप में जा कर, उनसे कहा कि 'हे भगवन्, हम सब में कौन श्रेष्ठ है, तब प्रजापति ने कहा कि "तुम सब स्थूल शरीर में प्रवेश करके एक-एक निकसो, जिसके निकसते ही शरीर अमङ्गल रूप होकर गिरे, सो तुम में श्रेष्ठ है" इस प्रजापति के वचन से नेत्रादि में एक-एक के निकसने पर अन्धादि रूप से शरीर की स्थिति रही, परन्तु प्राण के निकसने के लिये उद्योग करते ही शरीर गिरने लगा, तब सबने यह निश्चय किया कि हम सबका स्वामी प्राण है। इस

कारण से जब तक प्राण शरीर में रहता है, तब तक अन्तःकरण इन्द्रियादि सब रहते हैं। और प्राण के निकसते ही सब शरीर से निकल जाते हैं। अतः सूक्ष्म समाज का राजा के समान प्राण ही प्रधान है, उसके निकसे बिना अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रिय बाहर नहीं निकल सकते हैं ॥

और दूसरी बात है कि—अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रिय भूतों के सत्त्वगुण के कार्य होते हैं। उनमें ज्ञान शक्ति रहती है, क्रिया शक्ति नहीं। प्राण में क्रिया शक्ति रहती है, उसके बल से ही मरण काल में लिङ्ग शरीर इस स्थूल को त्यागकर लोकान्तरादि में जाता है, और प्राण के बल से ही इन्द्रियों द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति बाहर घटादि के समीप जाती है, और प्राण के सहारे बिना अन्तःकरणादि का बाहर गमन सम्भव नहीं, इसी कारण से योग शास्त्र में कहा है कि "प्राण के निरोध के बिना मन का निरोध नहीं होता हैं, प्राण के संचार से मन का संचार होता है। प्राण के निरोध से मन का निरोध होता है" अतः मन के निरोध रूप राजयोग की जिसको इच्छा हो सो प्राण के निरोध रूप हठ योग का अनुष्ठान करे ॥ इस योग शास्त्र के कथन से भी प्राण के आधीन अन्तःकरणादि का गमन सिद्ध होता है। अतः प्राण के निकसे बिना अन्तःकरणादि बाहर नहीं निकसते हैं ॥

और स्वप्नकाल में स्थूल देह प्राण सहित प्रतीत होती है, अतः बाहर जाकर सत्य पदार्थ को स्वप्न काल में देखना सम्भव नहीं ॥ और स्वप्न में कोई मनुष्य अपने सम्बन्धी से मिलकर बात व्यवहार करना देखता है, तहाँ जाग कर मिलने पर नहीं कहता है कि हम मिले थे, और अमुक व्यवहार किया था। तहाँ यदि शरीर से निकल कर सत्य बात व्यवहार हुए हों, तो जागने पर उनका ज्ञान रहना चाहिये, तथा मिलने पर कहना चाहिये, और ज्ञानादि नहीं रहते

हैं, अतः सम्बन्धी और मिलापादि शरीर के अन्तर ही प्रातिभासिक होते हैं ॥

"और ( बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ) इस श्रुति का तात्पर्य है कि स्वप्न काल में स्थूल देह के अभिमान नहीं रहने से ( कुलायाद्बहिरिव चरित्वा ) मानो शरीर से बाहर के समान शरीर में ही वासना के अनुसार विचर कर जाग्रत काल में मानों फिर देह में आता है इत्यादि" ॥

और यदि बाहर जाकर सत्य पदार्थ को स्वप्न द्रष्टा देखे, तो रात्रि में सोया हुवा मनुष्य हरिद्वार में मध्याह्न के सूर्य से तपे महलों को गङ्गा से पूर्व और नील पर्वत को गङ्गा से पश्चिम देखता है, तहाँ रात्रि में मध्याह्न के सूर्य का, गङ्गा से पूर्व हरिद्वार पुरी का, पश्चिम नील-पर्वत का अभाव है, इस कारण से भी स्वप्न में सत्यपदार्थ का देखना असंभव है ॥५॥

उक्त रीति से जाग्रत् की स्मृति वा ईश्वर कृत पर्वतादि का बाहर निकस कर ज्ञान की शंका का निराकरण किया गया। अब त्रिपुटी समाज स्वप्न काल में उत्पन्न होता है, यह सिद्धान्त कहते हैं कि—

**दोहा=याते अन्तर ऊपजै, त्रिपुटी सकल समाज।**
**वेद कहत या अर्थ कूं, सब प्रमाण सिरताज ॥६॥**

टीका=जाग्रत् के पदार्थों की स्मृति और बाहर निकस कर स्वप्न काल में दर्शन=ज्ञान के असम्भव से जाग्रत् के समान प्रतीत होनेवाली ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप त्रिपुटी सब कण्ठ की नाड़ी के अन्तर ही उत्पन्न होती हैं। सब प्रमाणों का सिरताज=प्रधान वेद इस अर्थ को कहता है। उपनिषद् में यह प्रसङ्ग है कि "जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न में नहीं प्रतीत होते हैं, किन्तु रथ, घोड़े, मार्ग और रथ में बैठनेवाले स्वप्न में नवीन उत्पन्न होते हैं ॥ अतः पर्वत, समुद्रादि जो

कुछ स्वप्न में दीखते हैं, सो नवीन उत्पन्न होते हैं, यदि पर्वतादि उत्पन्न नहीं हों, तो उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियों का विषय से सम्बन्ध वा अन्तः करण की वृत्ति का सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है। अतः पर्वतादि विषय और उनके ज्ञान के साधन इन्द्रिय तथा अन्तःकरण सब अन्तर में उत्पन्न होते हैं ॥

यद्यपि स्वप्न के पदार्थ शुक्ति रजतादि के समान साक्षी भास्य हैं। अन्तःकरण और इन्द्रियों का स्वप्न के ज्ञान में उपयोग ( फल ) नहीं। अतः ज्ञेय पर्वतादि मात्र की स्वप्न में उत्पत्ति को मानना योग्य=उचित है ज्ञाता ज्ञान और इन्द्रियों की उत्पत्ति को मानना योग्य नहीं। तथापि जैसे स्वप्न में ज्ञेय पर्वतादि प्रतीत होते हैं, तैसे इन्द्रिय अन्तःकरण प्राण सहित स्थूल शरीर भी प्रतीत होता है, अतः उनकी उत्पत्ति भी मानी जाती है ॥

और स्वप्न के पदार्थों में नेत्रादि की विषयता स्वप्न में भासती है, सो प्रातिभासिक विषयों में व्यावहारिक नेत्रादि की विषयता तो हो नहीं सकती है। क्योंकि समसत्तावाले पदार्थ ही आपस में साधक बाधक होते हैं, यह अर्थ पञ्चम तरङ्ग में प्रतिपादित हुवा है। अतः व्यावहारिक रिक नेत्रादि के शरीर में रहते भी उनसे स्वप्न के पदार्थों की विषम सत्ता होने के कारण, उनसे जन्य ज्ञान के विषय स्वप्न के पर्वतादि नहीं हो सकते हैं। और दूसरी बात है कि व्यावहारिक इन्द्रियाँ अपने गोलकों को त्याग कर ( गोलकों के बिना ) अपने कार्यों में समर्थ नहीं होती हैं। और स्वप्न काल में हस्त पाद वाक् के गोलक तो दूसरे को निश्चल दीखते हैं। और स्वप्न द्रष्टा हाथ में द्रव्य को लेकर पुकारता हुवा दौड़ता है। अतः स्वप्न में इन्द्रियों की उत्पत्ति अवश्य मन्तव्य है। तैसे सुख दुःखादि और उनका ज्ञान तथा सुख दुःख ज्ञान का आश्रय प्रमाता स्वप्न में प्रतीत होते हैं। और हुए बिना पदार्थ की प्रत्यक्ष प्रतीति होती नहीं, अतः सब त्रिपुटी का समाज स्वप्न

में उत्पन्न होता है। अनिर्वचनीय ख्याति की रीति से सब भ्रम ज्ञान के विषय अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं। वर्तमान विषय के बिना कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, यह सिद्धान्त है। अन्य शास्त्रों के अनुसार अन्य पदार्थ का किसी अन्य रूप से भान हो, सो भ्रम कहा जाता है। वेदान्त सिद्धान्त में जैसा पदार्थ हो तैसा ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः प्रत्यक्ष भ्रम स्थान में भी विषय की उत्पत्ति अवश्य होती है, विषय के बिना भ्रम ज्ञान भी नहीं होता है। और इस रीति से स्वप्न में त्रिपुटी की प्रतीति होने से सब समाज उत्पन्न होता है ॥६॥

इस उक्त अर्थ में ऐसी शंका होती है कि स्वप्न में प्रतीत होने वाले पदार्थों की उत्पत्ति मानें तो जैसे स्वप्न के दृष्टान्त से जाग्रत् के पदार्थों को सिद्धान्त में मिथ्या कहते हैं। तैसे, जाग्रत् के पदार्थों के समान उत्पत्ति वाले होने से स्वप्न के पदार्थ भी सत्य होना चाहिये। और स्वप्न में पदार्थ की उत्पत्ति नहीं मानें तब यह दोष नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि जाग्रत् के पदार्थ तो उत्पन्न होकर प्रतीत होते हैं, अतः सत्य हैं। और स्वप्न में उत्पत्ति सत्ता के बिना पदार्थ प्रतीत होते हैं। अतः स्वप्न में उत्पत्ति सत्ता रहित पदार्थों का ज्ञान भ्रम रूप होता है इससे उनकी उत्पत्ति को मानना योग्य नहीं इस शंका का साधन है कि—

॥ दोहा ॥

**साधन सामग्री बिना, उपजै झूठ सु होय।**
**बिनु सामग्री ऊपजै, यूं तिहि मिथ्या जोय ॥७॥**

**टीका**=जिस वस्तु की उत्पत्ति में जितने देश कालादि साधन=कारण रूप सामग्री चाहिए, उस सामग्री=पूर्ण साधन के बिना जो उपजता है, सु=सो झूठ=मिथ्या होता है, जैसे नट ऐन्द्रजालिक कृत मिथ्या वस्तु होती है। और स्वप्न के हस्ती आदि की उत्पत्ति

के योग्य भी देश कालादि नहीं रहते हैं। बहुत काल और देश में उपजने योग्य हस्ती आदि क्षणमात्र में सूक्ष्म कण्ठ देश में जपजते हैं। अतः मिथ्या रहते हैं। यद्यपि स्वप्नावस्था में देशकालदि अधिक प्रतीत होते हैं, तथापि अन्य पदार्थों के समान स्वप्न में अधिक देश कालादि भी अनिर्वचनीय प्रातिभासिक उपजते हैं, क्योंकि विषय के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, और स्वप्न में अधिक देशकाल का ज्ञान होता है, व्यावहारिक देश काल न्यून रहते हैं, अतः प्राति-भासिक देश काल दिशा उत्पन्न होते हैं। परन्तु उपजने वाले प्राति-भासिक देशादि स्वप्न के हस्ती आदि के कारण नहीं होते हैं, क्योंकि कारण कार्य से पहले उत्पन्न होता है, और स्वप्न में देश काल दिशा हस्ती आदि सब एक काल में उत्पन्न होते हैं। अतः उनमें कार्य कारण भाव नहीं हो सकता है। और व्यावहारिक देशकालादि न्यून रहते हैं, हस्ती आदि के जन्मादि के योग्य नहीं। अतः देशकालादि रूप सामग्री के बिना उपजने से स्वप्न के पदार्थ मिथ्या होते हैं।

और माता पिता आदि रूप अन्य साधन सामग्री भी स्वप्न में नहीं रहते हैं ( अर्थात् साधारण कारण केसमान विशेष कारण भी नहीं रहते हैं ) यद्यपि स्वप्न में प्राणी पदार्थों के माता पिता भी प्रतीत होते हैं, तथापि स्वप्न के माता पिता पुत्र की उत्पत्ति के कारण नहीं। क्योंकि माता पिता और पुत्र एक क्षण में साथ ही उपजते हैं। अतः उनमें कार्यकारण भाव नहीं रहता है। तो भी जिस निद्रा सहित अविद्या से स्वप्न के पदार्थ उपजते हैं। सो अविद्या ही उनमें मातृत्व पितृत्व और पुत्रत्व आदि को उत्पन्न करती है ( अर्थात् धर्मी के समान धर्म भी मिथ्या उत्पन्न होते है ) ॥

इस रीति से स्वप्न के पदार्थों की उत्पत्ति में अन्य कोई साधन सामग्री नहीं रहती है, किन्तु निद्रा रूप दोष सहित अविद्या ही कारण

है। और दोष सहित अविद्या से जो उत्पन्न होता है, सो शुक्तिरजत के समान मिथ्या होता है, अतः स्वप्न के पदार्थ मिथ्या होते हैं, सत्य नहीं ॥ तिनका अन्तःकरण उपदान कारण है, अथवा अविद्या ही उनका साक्षात् उपादान कारण हैं। और अन्तःकरण की उपादानता पक्ष में साक्षी चेतन ( जीव का पारमार्थिक स्वरूप ) स्वप्न का अधिष्ठान हैं। अविद्या की कारणता रूप दूसरे पक्ष में ब्रह्म चेतन स्वप्न का अधिष्ठान है। इस रीति से अन्तःकरण का अथवा अविद्या का परिणाम रूप और चेतन का विवर्त रूप स्वप्न होता है ॥

इसमें ऐसी शंका होती है कि दूसरे पक्ष में ब्रह्म चेतन को स्वप्न का अधिष्ठान कहा है। अविद्या को उपदान कहा है। तहाँ अधिष्ठान के ज्ञान से कल्पित की निवृत्ति होती है। और स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म है। अतः ब्रह्मज्ञान के अभाव से अज्ञको जागने पर भी स्वप्न की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए। और अन्य शंका होती हैं कि जैसे स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म है। और उपादान अविद्या है, तैसे जाग्रत के पदार्थों का भी अधिष्ठान अद्वैत वेदान्त में, ब्रह्म है, और अविद्या उपादान है, ( अतः जाग्रत और स्वप्न के पदार्थ तुल्य होना चाहिये ) जाग्रत के पदार्थ को व्यावहारिक कहते हैं। स्वप्न को प्रातिभासिक कहते हैं। सो भेद नहीं होना चाहिए। किन्तु अधिष्ठान और उपादान के तुल्य होने से, जाग्रत स्वप्न दोनों को व्यावहारिक होना चाहिए। अथवा दोनों को प्रातिभासिक होना चाहिये ॥

सो दोनों शंका नहीं रह सकती है। क्योंकि प्रथम शंका का यह समाधान है कि निवृत्ति दो प्रकार की होती है, सो प्रथम ख्याति निरूपण में कही गई है। कारण सहित कार्य का विनाश रूप अत्यन्त निवृत्ति तो स्वप्न की जाग्रत में ब्रह्म ज्ञान के बिना नहीं हो सकती, किन्तु दण्ड के प्रहार से जैसे घट का मृत्तिका में लय होता है। तैसे स्वप्न का हेतु रूप निद्रात्मक दोष के नाश से, वा स्वप्न के विरोधी जाग्रत

की उत्पत्ति से, स्वप्न की अविद्या में लय रूप निवृत्ति ब्रह्म ज्ञान के बिना भी हो सकती है ॥

और जाग्रत स्वप्न दोनों की तुल्यता की शङ्का का यह समाधान है कि—जाग्रत के पदार्थों का अन्य दोष रहित केवल अनादि अविद्या उपादान कारण है। और स्वप्न के पदार्थों की उत्पत्ति में सादि निद्रा दोष भी अविद्या का सहायक होता है। अतः अन्य दोष रहित केवल अविद्या जन्य को व्यावहारिक कहते हैं। और सादि दोष सहित अविद्या जन्य को प्रातिभासिक कहते है, निद्रा दोष सहित अविद्या जन्य स्वप्न के पदार्थ प्रातिभासिक होते हैं। दोष रहित अविद्या जन्य जाग्रत के पदार्थ व्यावहारिक होते हैं। अतः स्वप्न के पदार्थ में जाग्रत के पदार्थ से विलक्षणता है ॥ यह उक्त सम्पूर्ण रीति तीन प्रकार की सत्ता मान कर स्थूल दृष्टि से कही गई है ॥

## ( दृष्टि सृष्टि वाद प्रदर्शन )

विचार दृष्टि से तीन प्रकार की सत्ता नहीं सिद्ध होती हैं, न जाग्रत स्वप्न की परस्पर विलक्षणता सिद्ध होती है। यद्यपि वेदान्त परिभाषा आदि ग्रन्थों में पूर्ववर्णित रीति से व्यावहारिक प्रातिभासिक पदार्थों का भेद कहा है। अतः तीन सत्ता मानी है। तैसे विद्यारण्य स्वामी ने भी तीन सत्ता मानी है, क्योंकि उन्होंने यह प्रसङ्ग लिखा है कि दो प्रकार के देहादिक पदार्थ हैं, एक तो ईश्वर रचित बाह्य पदार्थ हैं। और दूसरे जीव के मनोरथ रचित मनोमय आन्तर पदार्थ हैं, तिन में जीव के मनोरथ रचित साक्षी भास्य हैं। और ईश्वर रचित बाह्य पदार्थ प्रमाता प्रमाण के विषय हैं। और आन्तर मनोमय देहादि पदार्थ ही जीव के सुख दुःख के हेतु होते हैं। बाह्य ईश्वर रचित नहीं। अतः आन्तर मनोमय पदार्थो की निवृत्ति मुमुक्षु को अपेक्षित है। और बाह्य प्रपञ्च सुख दुःख का हेतु नहीं होता, अतः उनकी निवृत्ति अपेक्षित ( इष्ट ) नहीं, जैसे दो पुरुष के दो पुत्र विदेश में गये हों। तिन में एक

का पुत्र मर गया हो, एक का जीवित हो। और वह जीवित पुत्र बड़ी विभूति को प्राप्त करके किसी पुरुष द्वारा अपने पिता के पास अपनी विभूति का और दूसरे के मरण का समाचार भेजे। तहाँ समाचार सुनाने वाला दुष्टता से जीवित पुत्र के पिता को कहे कि तेरा पुत्र मर गया, और मृत पुत्र के पिता से कहे कि तेरा पुत्र निरोग है, बड़ी विभूति को प्राप्त किया है, थोड़े काल में गजारूढ हो कर समाज सहित आवेगा। तहाँ वञ्चक के वचन को सुनकर जीवित पुत्र वाला रोता है, कठिन दुःख का अनुभव करता है। और मृत पुत्र वाला बड़े हर्ष को प्राप्त होता है, इस रीति से देशान्तर में ईश्वर रचित पुत्र के जीवित रहते भी मनोमय पुत्र के मरने से दुख होता है। और ईश्वर रचित के जीवित रहने का सुख नहीं होता है। तैसे दूसरे को ईश्वर रचित पुत्र के मरने का दुःख नहीं होता है, किन्तु मनोमय के जीवन का सुख होता है। अतः सुख दुःख का हेतु जीव सृष्टि ही है, ईश्वर सृष्टि नहीं। इस रीति से विद्यारण्य स्वामी ने जीव सृष्टि और ईश्वर सृष्टि दो प्रकार की कही है, तहाँ जीव सृष्टि प्रातिभासिक होती है, और ईश्वर सृष्टि व्यावहारिक होती है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी तीन सत्ता कही गई है। तहाँ चेतन की परमार्थ सत्ता है, चेतनभिन्न जड़ पदार्थों की दो प्रकार की सत्ता है। सृष्टि काल में ईश्वर के संकल्प जन्य केवल अविद्या=माया के कार्य भूत भौतिक पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता है। दोष सहित अविद्या के कार्य स्वप्न शुक्तिरजतादि को प्रातिभासिक सत्ता है। इस रीति से जाग्रत पदार्थों की व्यावहारिक, स्वप्न की प्रातिभासिक सत्ता कही गई है॥ तथापि सब अनात्म पदार्थों की प्रातिभासिक ही एक सत्ता है, दो नहीं। चेतन की परमार्थ सत्ता है। चेतन भिन्न सबकी प्रातिभासिक सत्ता है अतः तीन सत्ता नहीं ॥७॥

जाग्रत स्वप्न के पदार्थों की विलक्षणता किञ्चित मात्र भी नहीं सिद्ध होती, इस उत्तम सिद्धान्त का प्रतिपादन आगे करते हैं—

॥ चौपाई ॥

बिनु सामग्री उपजत याते । स्वप्न सृष्टि सब मिथ्या ताते ॥
देश काल को लेश न जामें । सर्व जगत् उपजत है तामें ॥१॥
स्वप्न समान झूठ जग जानहु । लेश सत्य ताकूं मति मानहु ॥
जाग्रत मांहि स्वप्न नहिं जैसे । स्वप्न मांहि जाग्रत नहिं तैसे ॥२॥

टीका=देश कालादि साधन सामग्री के बिना स्वप्न के पदार्थ उत्पन्न होते हैं, अतः उनको मिथ्या कहते हैं। तैसे आकाशादि प्रपञ्च जिस ब्रह्म से उपजते हैं, उस ब्रह्म में देश काल का लेश भी नहीं है। स्वप्न में हस्ती पर्वतादि के योग्य देश कालादि नहीं रहते हैं। परन्तु अल्प देश कालादि रहते हैं। और आकाशादि की सृष्टि में अल्प देशादि भी नहीं रहते हैं। क्योंकि देश कालादि रहित परमात्मा से आकाशादि की सृष्टि=उत्पत्ति कही गई हैं, सो आकाश वायु आदि क्रम से तैत्तिरीय श्रुति में कही गई है, देश काल की नहीं। और सूत्रकार (व्यास भगवन्) भाष्यकार (शङ्कराचार्य जी) ने भी देश काल की सृष्टि नहीं कही है। तहाँ तैत्तिरीय श्रुति और सूत्र भाष्यकार का यही तात्पर्य है कि आकाशादि प्रपञ्च की उत्पत्ति देश कालादि के बिना होती है। अतः आकाशादि स्वप्न समान मिथ्या हैं ॥

यद्यपि मधुसूदन स्वामी ने देश काल को साक्षात् अविद्या के कार्य कहा है। अतः माया विशिष्ट परमात्मा से पहले=प्रथम माया के परिणाम देश काल होते हैं, उसके बाद आकाशादि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार योग्य देशकालादि से आकाशादि की उत्पति हो सकती है। तथापि मधुसूदन स्वामी का यह तात्पर्य नहीं है कि प्रथम देश काल उत्पन्न होते हैं। और आकाशादि उत्तर=पश्चात् होते हैं। क्योंकि अतीत=भूत काल में हो सो प्रथम और पूर्व कहा जाता

है । भविष्य काल में हो, सो उत्तर पीछे कहा जाता है । और आकाशादि की उत्पत्ति से प्रथम देश काल उत्पन्न होते हैं । इस कथन से आकाशादि की उत्पत्ति काल से पूर्वकाल उपहित परमात्मा देशकाल का अधिष्ठान सिद्ध होगा, अतः देश काल की उत्पत्ति में पूर्वकाल की अपेक्षा होगी । और काल की उत्पत्ति के बिना पूर्व काल असिद्ध है । अतः आकाशादि से प्रथम देशकालादि की उत्पत्ति नहीं कही जा सकती । किन्तु मधुसूदन स्वामी का तात्पर्य है कि जैसे भूत भौतिक प्रपञ्च प्रतीत होते हैं । तैसे देश काल भी प्रतीत होते हैं, और आत्म भिन्न कोई वस्तु नित्य नहीं है । अतः देशकाल नित्य नहीं है । और अनित्य की उत्पत्ति के बिना प्रतीति हो नहीं सकती, अतः आकाशादि के समान देश काल की भी उत्पत्ति होती है । और सो देश काल माया के परिणाम और चेतन के विवर्त होते हैं । और जो विवर्त होता है, सो किसी का कारण नहीं होता है । अतः आकाशादि की उत्पत्ति में देश काल कारण नहीं हो सकते हैं ।। और यह निश्चय है कि कारण प्रथम होता है, और कार्य पीछे होता है, और आकाशादि से देश काल प्रथम होते हैं, यह कहना बन नहीं सकता । यह वार्ता समीप में ही प्रथम कही गई है । इस कारण से भी देश काल को आकाशादि की कारणता नहीं हो सकती । किन्तु स्वप्न के पिता पुत्र के समान देशकाल सहित आकाशादि संसार मायाविशिष्ट परमात्मा=ब्रह्म से उत्पन्न होता है । और संसार दशा में कोई पदार्थ किसी देश में और किसी काल में व्यवस्थित रूप से उत्पन्न होते हैं । किसी अन्य देश काल में नहीं उत्पन्न होते हैं । प्रलय काल में कोई पदार्थ नहीं उत्पन्न होते हैं । अतः देश काल की कारणता प्रतीत भी होती है, तो भी जिस माया से देश काल सहित संसार की उत्पत्ति होती है, उस माया से देश काल में कारणता और प्रपञ्च में कार्यता की प्रतीति होती है ।।

आकाशादि के देश कालादि कारण नहीं हैं। इस सिद्धान्त विषयक ऐसी शंका होती है कि बिना हुए (असत्) पदार्थों की प्रतीति नहीं होती है, और वेदान्त में हुए बिना पदार्थ की प्रतीति मानी नहीं गई है। यदि हुए बिना प्रतीति मानी जाय, तो असत् ख्याति का अङ्गीकार होगा। और बिना हुए (असत्) बन्ध्यापुत्र शशश्रृङ्गादि की प्रतीति प्राप्त होगी। अतः असत् की प्रतीति मानी नहीं जा सकती है, तहाँ यदि देश काल में प्रपञ्च की कारणता नहीं हो तो माया के बल से भी कारणता की प्रतीति नही होनी चाहिए। और देश काल में कारणता प्रतीत होती है अतः देश काल सब प्रपञ्च के कारण है॥ और यदि सिद्धान्ती कहैं कि ब्रह्म जगत् का कारण है। ब्रह्म की ही कारणता देश काल में प्रतीति होती है, देशकाल में कारणता नहीं है, तो सो कहना नहीं बन सकता है। क्योंकि जैसे देशकाल का अधिष्ठान ब्रह्म है। तैसे सब प्रपञ्च का भी अधिष्ठान है, तहाँ देश काल में ही ब्रह्म की कारणता प्रतीत हो, अन्य में नहीं इस कथन में कोई हेतु नहीं है। अतः अधिष्ठान होने से ब्रह्म की कारणता देश काल में प्रतीत हो, तो सब प्रपञ्च में वह कारणता प्रतीत होनी चाहिए। किसी में कारणता किसी में कार्यता की प्रतीति रूप भेद नहीं होना चाहिए। और देश काल में कारणता के अभाव रहते ब्रह्म की कारणता की देश काल में प्रतीति मानने पर, अन्यथाख्याति का स्वीकार होगा, क्योंकि अन्य वस्तु की किसी अन्य रूप से प्रतीति को अन्यथाख्याति कहते हैं, अतः कारण से अन्य देश काल की कारण रूप से प्रतीति मानने पर अन्यथाख्याति का अङ्गीकार होगा, और सिद्धान्त में अन्यथा ख्याति का अङ्गीकार नहीं है। और यदि देश कालादि में कारणता की अन्यथा ख्याति मानी जाय, तो अनिर्वचनीय शुक्तिरजतादि की उत्पत्ति का सिद्धान्त में स्वीकार कारना निष्फल होगा। क्योंकि अन्यथा ख्याति में दो मत=प्रकार हैं, एक

तो अन्य देश गृहादि में, स्थित रजतादि पदार्थ की अन्य-बाहर शुक्ति आदि देश में प्रतीति रूप अन्यथा ख्याति मान्य है। और दूसरी अन्य-पदार्थ शुक्ति आदि की अन्य, रजातादि रूप से प्रतीति रूप अन्यथा ख्याति मान्य है। इस अन्यथा ख्याति से ही सब भ्रम स्थान में निर्वाह हो सकने पर, अनिर्वचनीय रजतादि की उत्पत्ति का कथन असङ्गत होगा। और यदि सिद्धान्ती कहें कि विषय के समानाकार ज्ञान होता है, अन्य वस्तु का अन्य रूप से ज्ञान का सम्भव नहीं। अतः रजताकार ज्ञान का विषय अनिर्वनीय रजत उत्पन्न होता है, तो इस अद्वैत सिद्धान्त में कारण से अन्य देश काल में ब्रह्म की कारणता के ज्ञान का सम्भव नहीं है। अतः देश काल में जो कारणता प्रतीत होती है, सो असत् वा ब्रह्मगत कारणता नहीं हो सकती है, किन्तु देश काल में वर्तमान कारणता की देश काल में प्रतीति होती है। इस रीति से "देशकाल आकाशादि के कारण नहीं है" यह कथन असङ्गत है॥

यह शंका (देश काल में कारणता का स्वीकार) बन नहीं सकती. क्योंकि ब्रह्म की कारणता देश काल में प्रतीत होती है। जपापुष्प सम्बन्धी स्फटिक में पुष्प की रक्तता प्रतीत होती है, अधिष्ठान की सत्यता स्वप्न के पदार्थों में प्रतीत होती है तहाँ स्फटिक में अनिर्वचनीय रक्तता की उत्पत्ति का स्वीकार नहीं है' अतः श्वेत स्फटिक में रक्तता की प्रतीति को अन्यथा ख्याति मानी गई है। तैसे स्वप्न के पदार्थों में सत्यता प्रतीत होती है, तहाँ अनिर्वचनीय सत्यता उत्पन्न होती है, यह कथन तो "सत्य मिथ्या है" इस विरुद्ध वचन के समान सम्भव नहीं है, अनुचित है। अतः स्वप्न के अधिष्ठान चेतन की सत्यता के मिथ्या पदार्थों में भान होने से स्वप्न के पदार्थों में सत्यता के ज्ञान को अन्यथा ख्याति ही मानी गई है। तैसे ही अधिष्ठान ब्रह्म की कारणता की देश काल में अन्यथाख्याति होती है। यदि कहो कि इतने स्थानों में यदि अन्यथा ख्याति मानी जाती है, तो सर्वत्र भ्रम स्थान में

अन्यथा ख्याति ही मानना चाहिये। तो सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि शुक्ति रजतादि में अन्यथा ख्याति मानने पर यह दोष कहा गया है कि—विषय से विलक्षण ज्ञान नहीं हो सकता है। और जहाँ स्फटिक में रक्तता का ज्ञान होता है, तहाँ रक्त पुष्प का स्फटिक से सम्बन्ध रहता है, अतःस्फटिक सम्बन्धी पुष्प की रक्तता स्फटिक में प्रतीत होती है, क्योंकि अन्तः करण की वृत्ति जब रक्त पुष्पाकार होती है, तब उसी वृत्ति का विषय रक्त पुष्प सम्बन्धी स्फटिक भी होता है, अतः पुष्प की रक्तता स्फटिक में प्रतीत होती है। इस प्रकार शुक्ति का रजत रूप से ज्ञान नहीं हो सकता है, शुक्ति देश में अन्य मत से अनिर्वचनीय वा व्यावहारिक रजत नहीं रहता है, किन्तु शुक्ति ही भ्रम काल में रहता है, उस शुक्ति के सम्बन्ध से शुक्ति के समान आकारवाली ही अन्तः करण की वृत्ति हो सकती है, रजताकारवाली नहीं, अतः अविद्या का परिणाम और चेतन का विवर्त रूप अनिर्वचनीय रजत और उसका ज्ञान दोनों उत्पन्न होते हैं। और स्फटिक में जहाँ रक्तता प्रतीत होती है, तहाँ स्फटिक और रक्त पुष्प दोनों के साथ वृत्ति का सम्बन्ध होता है। रक्त पुष्प के सम्बन्ध से रक्ताकार वृत्ति होती है, सो उस वृत्ति का सम्बन्ध स्फटिक के साथ भी होता है, और स्फटिक में रक्तता की छाया=( दमक ) होती है, सो उस वृत्ति का विषय होती है ॥

इस रीति से जहाँ दो पदार्थ का सम्बन्ध रहता है। तहाँ एक के धर्म की दूसरे में प्रतीति अन्यथाख्याति रूप हो सकती है। जहाँ दो पदार्थ का सम्बन्ध नहीं, तहाँ अन्यथा ख्याति नहीं, किन्तु अनिर्वचनीय ख्याति मान्य है। और पुष्प सम्बन्धी स्फटिक में रक्तता के समान, अधिष्ठान चेतन सम्बन्धी स्वप्न के पदार्थों में अधिष्ठान की सत्यता की अन्यथा ख्याति ही होती है। तैसे अधिष्ठान चेतन की कारणता अधिष्ठान सम्बन्धीं देश काल में अन्यथा ख्याति से भासती है ॥

और जो प्रथम शंका की गई थी कि "अधिष्ठान चेतन का सम्बन्ध देश काल के समान सब प्रपञ्च के साथ भी है। अधिष्ठान की कारणता सम्बन्ध के कारण यदि देश काल में अन्यथा ख्याति से प्रतीत हो, तो चेतन की कारणता सब संसार में प्रतीत होनी चाहिए ।। उस शंका का समाधान है कि, जैसे स्वप्न में दो शरीर उत्पन्न हो, और उनमें एक पिता रूप प्रतीत हो, दूसरा पुत्र रूप प्रतीत हो। तहाँ दोनों शरीरों का स्वप्न के अधिष्ठान चेतन के साथ सम्बन्ध यद्यपि तुल्य ही रहता है। तथापि पिता शरीर में अधिष्ठान की कारणता प्रतीत होती है। पुत्र शरीर में नहीं, किन्तु पुत्र शरीर में कार्यता प्रतीत होती है। इस रीति से अधिष्ठान चेतन का सम्बन्ध यद्यपि सब संसार के साथ रहता है, तथापि देश काल में चेतन धर्म कारणता की प्रतीति होती है। अन्य में कार्यता की प्रतीति होती है, कारणता की नहीं ।।

अथवा अधिष्ठान चेतन के असङ्ग होने से वह वस्तुतः किसी का कारण नहीं है। माया वर्ती आभास यद्यपि कारण=ईश्वर है। तथापि अभास का स्वरूप मिथ्या होता है। जो आप ही मिथ्या हो, सो अन्य का कारण हो नहीं सकता है। अतः परमात्मा में प्रपञ्च की कारणा हो, तो देश काल में भ्रम से उसकी प्रतीति हो सके, और असङ्ग परमात्मा में कारणता है नहीं, अतः परमात्मा को कारणता देश काल में प्रतीत होतो है, यह कहना नहीं बनती है, किन्तु परमात्मा की सत्ता स्फूर्ति मात्र से माया कृत अनिर्वनीय देश काल अनिर्वचनीय कारणता वाले होते हैं। और परमार्थ रूप से देश काल कारण नहीं होते है। जैसे पुत्रहीन मनुष्य स्वप्न में पुत्र पौत्र दोनों को देखता है, तहाँ पुत्र पौत्र शरीर अनिर्वचनीय होते हैं। और पुत्र शरीर में पौत्र शरीर की कारणता अनिर्वचनीय रूप प्रतीत होती है। परमार्थ रूप से पुत्र पौत्र शरीर में कार्य कारण भाव नहीं रहता है। तैसे ही अनिर्वचनीय कारण रूप देशकाल प्रतीत होते हैं। परमार्थ से देशकाल और

आकाशादि में कार्य कारण भाव नहीं है। इस रीति से देशकालादि साधन सामग्री के बिना जाग्रत प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है, अतः स्वप्न के समान जाग्रत प्रपञ्च भी मिथ्या है ॥ और जैसे स्वप्न के स्त्री पुत्रादि स्वप्न में ही सुख दुःख के हेतु होते हैं। और जाग्रत में उनका अभाव रहता है, तैसे जाग्रत् के पदार्थों का स्वप्न में अभाव होता हैं, अतः दोनों सम हैं ॥

और यदि ऐसी शंका हो कि जाग्रत से स्वप्न के बाद फिर जागने पर, प्रथम जाग्रत के पदार्थ दूसरे जाग्रत में वर्तमान रहते हैं। और प्रथम स्वप्न के पदार्थ दूसरे में नहीं रहते हैं, तो उस शंका को सिद्धान्त के अज्ञान जन्य समझना चाहिए। क्योंकि अज्ञान से ही संसार अनादि प्रवाह रूप से सत्य प्रतीत होता है, और उसमें जीवों के जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति सत्य् भासते हैं। और जाग्रत काल में स्वप्न सुषुप्ति नष्ट होते हैं, स्वप्न काल में जाग्रत सुषुप्ति नष्ट होते हैं। सुषुप्ति काल में जाग्रत स्वप्न नष्ट होते हैं, परन्तु स्वप्न सुषुप्ति काल में जाग्रत के पदार्थ सत्य स्वरूप से वर्तमान रहते हैं, दूर=नष्ट नहीं होते हैं। उनका ज्ञान ही दूर होता है। फिर जाग्रत होने पर प्रथम जाग्रत के सत्य विद्यमान पदार्थों का ज्ञान होता है। यह अविवेकी अज्ञानी की दृष्टि अज्ञान से होती है। और सिद्धान्त यह है कि सब पदार्थ चेतन का विवर्त और अविद्या का परिणाम है। अतः शुक्ति रजत के समान जिस काल में जो पदार्थ जैसा प्रतीत होता है, तिस काल में अधिष्ठान चेतन आश्रित अविद्या का तैसा द्विविध परिणाम होता है। अविद्या के तमोगुण अंश का घटादि विषय रूप परिणाम होता है। और अविद्या के सत्त्व गुण का ज्ञान रूप परिणाम होता है। यद्यपि चेतन को ज्ञान स्वरूप कहते हैं। अतः सत्त्व-गुण का परिणाम ज्ञान है यह कहना नहीं बन सकता, तथापि व्यापक चेतन को ज्ञान नहीं कहते हैं, किन्तु साभास वृत्ति में आरूढ़ स्थिर चेतन को ज्ञान कहते हैं। अतः चेतन में ज्ञान व्यवहार का सम्पादक ( हेतु )

वृत्ति होती है। सो चेतन में ज्ञानत्व की उपाधि होती है, अतः वृत्ति में भी ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है। लोक में कहते हैं कि "घट का ज्ञान उत्पन्न हुवा, घट का ज्ञान नष्ट हुवा" तहाँ वृत्ति में आरूढ चेतन का तो उत्पत्ति नाश हो नहीं सकता, किन्तु वृत्ति की उत्पत्ति और नाश से ज्ञान की उत्पत्ति और नाश कहते हैं, अतः वृत्ति भी ज्ञान शब्द का अर्थ होती है, सो वृत्ति रूप ज्ञान सत्त्वगुण का परिणाम कही जा सकती है। उस वृत्ति रूप परिणाम में चेतन का आभास होता है, घटादि विषय रूप परिणाम में नहीं। क्योंकि विषय और वृत्ति यद्यपि दोनों अविद्या के परिणाम होते हैं, तथापि घटादि विषय अविद्या के तमोगुण के परिणाम होने से मलिन होते हैं, उन में आभास नहीं होता है, सत्त्वगुण का परिणाम वृत्ति स्वच्छ होती है, उसमें आभास होता है। इस रीति से वृत्ति में आभास ग्रहण की योग्यता से वृत्ति से अवच्छिन्न (वृत्तिस्थ) चेतन को ज्ञान और साक्षी कहते हैं, विषयों में आभास की योग्यता के अभाव से विषयावच्छिन्न चेतन ज्ञान वा साक्षी नहीं होता है। इस रीति से जाग्रत के पदार्थ और उनका ज्ञान साथ ही उत्पन्न और नष्ट होते हैं, यह वेद का गूढ सिद्धान्त है। अतः जाग्रत के (सत्य) पदार्थ दूसरे जाग्रत में रहते हैं। यह कहना सम्भव नही। ( किन्तु अज्ञ की प्रतीति के अनुसार प्रातीतिक रहते हैं )। यद्यपि स्वप्न से जागे हुए पुरुष को प्रत्यभिज्ञा रूप प्रतीति होती है कि, पूर्व जाग्रत के पदार्थ अब भी वर्तमान हैं, अतः जाग्रत के पदार्थों का ज्ञान के साथ उत्पत्ति विनाश नही सिद्ध होते हैं, किन्तु जाग्रत के पदार्थ ज्ञान से प्रथम और पीछे भी रहते हैं। तथापि जैसे स्वप्न के पदार्थ वर्तमान क्षण में उत्पन्न होते हैं और प्रतीति होती है कि "मेरे जन्म से भी प्रथम के उत्पन्न हुए ये पर्वतादि हैं" तहाँ तत्काल उत्पन्न पर्वतादि में चिरकालता की भ्रान्ति होती है, अतः जिस अविद्या से पर्वतादि उत्पन्न होते हैं, उसी अविद्या से चिरकालिकता और उसकी प्रतीति अनिर्वचनीया उत्पन्न होती

है । तैसे ही जाग्रत के पदार्थों में भी सत्य बहुकालिकता नहीं है । किन्तु मिथ्या स्थिरता भी अविद्या से पदार्थों के साथ ही उत्पन्न होती है, और प्रतीत होती है, ( भाव है कि जाग्रत के पदार्थ ईश्वर की दृष्टि समकालिक ही माया से स्वधर्मों सहित होते हैं । पदार्थ के मायिक होते उनके धर्म स्थिरता आदि सत्य नहीं हो सकते, अतः चेतन भिन्न सब यथार्थ धर्म सहित मायिक मिथ्या हैं, जैसे जीव के दृष्टि कालिक स्वप्न मनोरथादि सिद्ध पदार्थ होते हैं) ॥ यदि कहा जाय कि स्वप्न के पदार्थ साक्षात् अविद्या के परिणाम होते हैं, और जागत् के सब पदार्थ साक्षात् अविद्या के परिणाम नहीं, किन्तु जैसे घट की उत्पत्ति दण्ड चक्र कुलालादि से होती है, तैसे आकाश अन्धकारादि से सब पदार्थों की उत्पत्ति अपने २ कारणों से होती है, साक्षात् अविद्या से नहीं, यदि साक्षात् अविद्या के परिणाम जाग्रत् के पदार्थ हों तो क्रम से आकाशादि की उत्पत्ति, और उनका पञ्चीकरण, उनसे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति जो श्रुति आदि में कही गई है, सो सब असङ्गत होंगे, अतः ईश्वर की सृष्टि रूप जाग्रत के पदार्थ अपने २ उपादान के परिणाम हैं, साक्षात् अविद्या=माया के परिणाम नहीं । और स्वप्न के पदार्थ सब एक अविद्या के परिणाम होते हैं अतः उन पदार्थों की और उनके ज्ञानों की एक अविद्या से एक काल में उत्पत्ति का सम्भव है । और जाग्त् के पदार्थ भिन्न २ कारण से उत्पन्न होते हैं । कार्य से पहले कारण रहता है, कारण में कार्य का लय होता है । अतः घट की उत्पत्ति से प्रथम और घट नाश के बाद मृत्पिण्ड रहता है, इस रीति से अल्पकाल स्थिर कार्य और अधिक काल स्थिर कारण रूप पदार्थ जाग्रत् के होते हैं, स्वप्न के ऐसे नहीं ॥

इस शंका का समाधान है कि जाग्रत् के पदार्थों के समान स्वप्न के पदार्थों में भी कार्य कारण भाव प्रतीत होता है, और कारण रूप से ज्ञात पिता आदि में चिरकालिकता, तथा पुत्रादि कार्य में अल्प कालिकता, पूर्वपरता आदि प्रतीत होते हैं, परन्तु सब सम काल में

उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः कोई किसी का कारण नहीं रहता है। तैसे ही जाग्रत् में भी कोई स्थिर कारण रूप से कोई अस्थिर कार्य रूप से प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः कार्य कारण भाव नहीं है। किन्तु सब साक्षात् अविद्या के कार्य हैं। (आत्मा असङ्ग है अन्य पदार्थ जड़ हैं। अतः कारणता शक्ति किसी में नहीं है। अद्भुत् अविद्या माया मूलकहीं अन्यत्र भी कारणता सिद्ध होती है कि जिससे तुच्छ बीज से वृक्ष के समान माया से ही सब कार्य होता है इत्यादि भाव है॥) और श्रुति में जो क्रम से सृष्टि कही गई है। तहाँ सृष्टि के प्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य नहीं है, किन्तु अद्वैत बोधन में तात्पर्य है, कि सब पदार्थ परमात्मा से उत्पन्न होते हैं, अतः परमात्मा के विवर्त हैं और जो जिसका विवर्त होता है, सो तत्स्वरूप होता है अतः सब नाम रूप ब्रह्म से पृथक् नहीं है, ब्रह्म ही हैं। इस अर्थ का बोध के लिए सृष्टि कही गई है, सृष्टि कथन का अन्य प्रयोजन नहीं है। तहाँ जो क्रम का कथन है, सो स्थूल दृष्टि वाले को लय चिन्तन के लिये है, उसका भी अद्वैत बोध ही प्रयोजन है, अतः क्रम कथन में भी अभिप्राय नहीं। क्योंकि सृष्टि में सत्य क्रम नहीं हैं, किन्तु सब पदार्थ एक अविद्या=माया से उपजते हैं, तिनमें परस्पर कार्य कारण भाव और पूर्वोत्तर भाव अविद्या कृत स्वप्न के समान मिथ्या प्रतीत होते हैं। तहाँ श्रुति ने उनकी आपस में जो कार्यकारणता और पूर्व उत्तरता कही है सोलयचिन्तन के लिए कही है, ध्यान में यह नियम नहीं है कि जैसा स्वरूप हो, तैसा ही ध्यान=चिन्तन किया जाय, अतः श्रुति से भी जाग्रत् के पदार्थों का कार्यकारणभाव नहीं सिद्ध होता है॥ किन्तु सब पदार्थ साक्षात् अविद्या के कार्य हैं, और शुक्ति रजत् वा स्वप्न के समान अविद्या की वृत्ति उपहित साक्षी से उनका प्रकाश होता है, अतः सब पदार्थ साक्षि भास्य हैं। और ज्ञानाकार ज्ञेयाकार अविद्या का परिणाम एकही काल में होता है, साथही नष्ट होता हैं।

अतः जब पदार्थ की प्रतीति होती है, तबही प्रतीति का विषय पदार्थ होता है ( सत्य भासता है ) अन्य काल में नहीं रहता है, इसी को दृष्टि सृष्टि वाद कहते हैं ( भाव है कि जाग्रत् वा स्वप्नादि के सब पदार्थ और उनके वृत्ति रूप ज्ञान माया विशिष्ट कारण ब्रह्म स्वरूप से सत्य हैं, स्वरूप से नहीं और वह ब्रह्म ही सत्य पद का वाच्य है, जैसे व्यावहारिक विवर्त की अपेक्षा मृत्तिका सत्य पद का वाच्य होती है, इत्यादि ) इस दृष्टिसृष्टि वाद पक्ष में पदार्थ की अज्ञात सत्ता नहीं ज्ञात ही सत्ता मान्य है, अद्वैत वाद में यह सिद्धान्त पक्ष है, इस पक्ष में दो सत्ता है तीन नहीं, क्योंकि सब अनात्म पदार्थ इस पक्ष में स्वप्न तुल्य प्रातिभासिक हैं ( ईश्वरीय वा जीव की ) प्रतीति काल से भिन्न काल में अनात्म की सत्ता नहीं रहती, अतः तिसरी व्यावहारिक सत्ता नहीं, इस पक्ष में सब अनात्म पदार्थ साक्षी भास्य हैं, प्रमाता प्रमाण का कोई विषय नहीं, क्योंकि अन्तःकरण इन्द्रिय और घटादि रूप सब त्रिपुटी और ज्ञान स्वप्न के समान एक काल में उत्पन्न होते हैं, अतः उनका विषय विषयी भाव बनता नहीं है। यदि घटादि विषय, नेत्रादि इन्द्रिय और अन्तःकरण ये तीनों ज्ञान से प्रथम होवैं तो नेत्रादि द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति रूप ज्ञान प्रमाण जन्य हो, सो अन्तःकरण इन्द्रिय और विषय ज्ञान से पूर्वकाल में नहीं रहते हैं। किन्तु ज्ञान के साथही स्वप्न के समान त्रिपुटी होती है। अतः त्रिपुटी जन्य कोई भी ज्ञान यद्यपि नहीं होता है। तथापि ज्ञान में स्वप्न के समान त्रिपुटी जन्यता प्रतीत होती है। अतः जाग्रत् के पदार्थ साक्षी भास्य हैं प्रमाण जन्य ज्ञान के विषय नहीं, इस कारण से भी स्वप्न के समान मिथ्या है॥

अथवा जाग्रत् में कितने पदार्थों को मनुष्य मिथ्या जानता है। और अन्य किसी पदार्थ को इस प्रकार सत्य जानता है कि ये अनादि काल के पदार्थ हैं। तिनमें कोई नष्ट होते हैं और उनके समान

अन्य उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रपञ्च प्रवाह का कभी उच्छेद नहीं होता है, जिसको ज्ञान होता है, उसको प्रपञ्च की प्रतीति नहीं होती है, अन्य को प्रपञ्च की प्रतीति होती है। उस ज्ञान के साधन वेद गुरु हैं, उनसे परम सत्य की प्राप्ति होती है। ऐसी प्रतीति जाग्रत् में होती है, तहाँ किसी पदार्थ में मिथ्यात्व, किसी का नाश, किसी की उत्पत्ति, वेदगुरु से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति, ये सब स्वप्न तुल्य अविद्याकृत मिथ्या हैं। योगवासिष्ठ में ऐसे अनेक इतिहास कहे गये हैं, कि क्षणमात्र के स्वप्न में बहुत काल प्रतीत होता है, और जाग्रत् के समान स्थायी पदार्थ प्रतीत होते हैं। और उनसे बहुत काल तक भोग प्रतीत होता है, अतः जाग्रत् के पदार्थों को स्वप्न से किञ्चित् भी विलक्षणता नहीं है, किन्तु आत्मभिन्न सब मिथ्या है ॥ १ ॥ २ ॥

स्वप्न के समान अल्पकालस्थायी संसार हो, तो अनादि बन्ध नहीं सिद्ध होगा, और बन्धकी निवृत्ति के लिये श्रवणादि का विधान निष्फल होगा, यह प्रश्न है कि—

॥ शिष्य उवाच ॥ ॥ दोहा ॥

**लाख हजारन कल्प को, यह उपज्यो संसार।**
**तामें ज्ञानी मुक्त ह्वै, बन्धे अज्ञ हजार ॥ ८ ॥**
**झूठौ स्वप्न समान जो, छन घटिका ह्वै जाम।**
**बद्ध कौन को मुक्त ह्वे, श्रवणादिक किहि काम ॥ ९ ॥**

टीका=ईश्वर सृष्टि अनन्त कल्प से अनादि है, उसमें ज्ञानी मुक्त होता है, अज्ञानी को बन्धन रहता है, ईश्वर सृष्टि यदि स्वप्न समान हो तो स्वप्न तुल्य संसार भी क्षणिक वा घड़ी दो घड़ी मात्र वृत्ति होगा, संसार के स्वप्न तुल्य अल्पकालिक होने पर, बन्ध अनादि

काल का नहीं होगा, फिर मोक्ष के लिए किए गये श्रवणादि साधन व्यर्थ होगें ॥

यद्यपि पूर्व वर्णित सिद्धान्त में ( सत्य ) बन्ध मोक्ष वेदगुरु आदि का अङ्गीकार नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य मुक्त है, अविद्या के परिणाम चेतन में नाना विवर्त होते हैं, उनसे आत्म स्वरूप की कोई हानि नहीं होती है। आत्मा सदा एकरस रहता है, आज पर्यन्त कोई आत्मा मुक्त हुवा नहीं, न आगे ही होना है, क्योंकि एक चेतनात्मा मुक्त है। अविद्या और उसके परिणाम का कभी चेतन के साथ सम्बन्ध नहीं होता है, अतः असङ्ग आत्मा में बन्ध मोक्ष की और गुरुवेद श्रवणादि तथा समाधि की प्रतीति भी स्वप्न तुल्य अविद्या जन्य होती है, अतः वह प्रतीति मिथ्या=भ्रान्ति रूप होती है। इनमें वहु काल स्थापिता भी अविद्या जन्य मिथ्या रहती है। तथापि इस सिद्धान्त के अज्ञान से स्थूल दृष्टिवाला का प्रश्न है ॥६॥

( और यहाँ भाव है कि ( मायी सृजति विश्वमेतत् तस्मिँश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥ इन्द्रो मायाभिः पुरु रूपमीयते। प्रज्ञानं ब्रह्म ) इत्यादि श्रुति के अनुसार जीवों का पारमार्थिक स्वरूप एक ब्रह्म ही है, और सव संसार ईश्वर से मायामय उत्पन्न होता है, उसमें अन्य=जीव माया से ही बद्ध है, और वह माया अविद्या रूप है, अविद्या कृत वस्तु वा क्रिया व्यवहार स्वप्न के समान मिथ्या ही होते हैं, रज्जु सर्प के मिथ्या होते यदि उसमें गति आदि प्रतीत हों, तो वे भी सत्य नहीं हो सकते है, तैसे ही संसार के मायामय होने पर बन्ध, मोक्ष, कार्य कारणभाव, कार्य कारण में पूर्वोत्तरभावादि सब मिथ्या हैं, यद्यपि स्वप्न के समान प्रथम ज्ञान और विषय की सम कालिक उत्पत्ति रूप दृष्टिसृष्टि कही गई है, तथापि वह कथन भी मिथ्या पदार्थ को समझाने के लिए प्रक्रिया मात्र है, और सर्वानुभव तथा श्रुति आदि से विरुद्ध है, अतः मनोरथादि विषय के समान

मिथ्यात्व दर्शाने में तात्पर्य है, वस्तुतः मिथ्या विषय ज्ञानादि के भासने वाले क्रमादि भी मिथ्या हैं, सर्वथा नहीं हों तो उनकी प्रतीति भी नहीं होनी चाहिये। इत्यादि ) ॥

**॥ प्रश्न का उत्तर रूप गुरु वाक्य ॥ ॥ दोहा ॥**

**अगृध देव कूं स्वप्न में, भ्रम उपज्यो जिहि रीति।**
**शिष तोकूं यह ऊपजी, बन्ध मोक्ष परतीति ॥१०॥**

टीका=हे शिष्य ! जैसे स्वप्न में निद्रा दोष से अध्यापक, अध्ययन, अध्ययनकर्ता, कर्म, और कर्मादि के बोधक वेद शास्त्रादि, तथा कर्मादि के फल प्रतीत होते हैं, और उनमें सत्यता की भ्रान्ति होती है, परन्तु स्वप्न के सब पदार्थ मिथ्या रहते हैं। तैसे जाग्रत् के सब पदार्थ मिथ्या है, तिन में सत्यता की प्रतीति भ्रान्ति है। दोहे में बन्ध मोक्ष के ग्रहण से ही सब अनात्म का ग्रहण है ॥ जैसे तुम को हम गुरु प्रतीत होते हैं, बन्ध विघातक वेदार्थ का उपदेश करते हैं, सो तुमको मिथ्या प्रतीति हो रही है। जैसे अगृधदेव को स्वप्न में मिथ्या प्रतीति के विषय अनिर्वचनीय गुरुवेदादि उत्पन्न हुए। तैसे तेरी प्रतीति के विषय मैं तथा अन्य सब पदार्थ अनिर्वचनीय हैं ॥

एक अगृध ( इच्छा रहित ) देव ( आत्मा ) को ऐसा स्वप्न हुवा है। अर्थात् अनादि काल की निद्रा में सोया हुवा एक अगृध नामक देव ने अनादि स्वप्न ( संसार ) को देख रहा है। उस स्वप्न में उसको ऐसी प्रतीति हो रही है कि, मैं चाण्डाल (जीव) हूँ। महादुःखी हूँ, अस्थि मज्जा रुधिर त्वचा मांसादि से मेरा मुखभरा है। और महाभयङ्कर व्याघ्र सर्पादि से युक्त बन में भ्रमण कर रहा हूँ। इस प्रकार भ्रमण करता हुवा उस देव ने उस बन में अनन्त स्थानों को देखा, और देखा कि कहीं नाना भयङ्कर प्राणी भक्षण करने के लिए सन्मुख दौड़ रहे हैं। कहीं रुधिरादि से भरे हुए अपावन कुराडों में प्राणी हाहाकार

शब्द कर रहे हैं। कहीं लोहे के तप्तस्तम्भों में बँधे पुरुष रो रहे हैं, और कहीं तप्त-बालु युक्त मार्ग से जाने वाले नग्नपाद पुरुषों को राजभट लोहदण्डों से ताडना करते हैं, इस रीति से नाना भयङ्कर स्थानों को देखता हुवा, वह देव कभी आप भी अपराध करके स्वप्न में उन दुःखों को भोगा, और भोगता है। और कहीं दिव्य स्थानों को देखता हुवा देखता है कि उन स्थानों में उत्तम देव विराजते हैं। उन देवों के दिव्य भोग हैं। अमृत के दर्शन-मात्र से उनको तृप्ति रहती है। उनको क्षुधा तृषा की बाधा (पीड़ा) नहीं होती है। मलमूत्रादि रहित जिनके उत्तम शरीर हैं, सो कोई तो उत्तम विमान में स्थिर हो कर रमण करते हैं, और वह विमान देव की इच्छा के अनुसार गमन करता है, कहीं रम्भा उर्वशी आदि अप्सरा नृत्य करती हैं। और उनके सब अङ्ग दोषों से रहित और सम्पूर्ण स्त्रीगुणों से युक्त हैं। उनके शरीरों से कामोद्दीपक उत्तम गन्ध आते हैं। कहीं उनसे देव रमण करते हैं। और कभी आप मी देव भाव को प्राप्त होकर उनके साथ बहुत काल तक रमण करता है। (कभी पुण्य के क्षय और पापोदय से) रमण करता हुआ भी अकस्मात् रुधिर से पूर्ण कुण्ड में मज्जन करता है (डूबता है)। एक स्थान में सबका अधिपत्ति स्थिर है, उसके आज्ञाकारी अनुचर उसके आगे स्थिर रहते हैं, कितने पुरुषों को वह अधिपति और उसके अनुचर सौम्य स्वरूप प्रतीत होते हैं और कितने को महाभयङ्कर प्रतीत होते हैं। और उस बन में स्थिर पुरुषों को कर्मों के अनुसार फल देते हैं॥ इस प्रकार अगृधनामक देव ने स्वप्न काल में नाना स्थान को देखता हुवा, फिर देखा कि किसी अन्य स्थान में ब्राह्मणवेद की ध्वनि कर रहे हैं। कहीं उत्तम नदी बहती है, उसमें पुण्य के लिए लोक स्नान करते हैं, कहीं यज्ञशाला में उत्तम कर्म करते हैं। कहीं ज्ञानी आचार्य शिष्यों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करते हैं। और उस ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने वाले बन से

निकल जाते हैं। इस प्रकार स्वप्न के बनमें नाना आश्चर्य स्वरूप पदार्थों को देखते हुए अगृध देव को ऐसी प्रतीति हुई कि मैं अनन्त काल से इस वन में स्थिर हूँ। इस वन का उच्छेद=सर्वथा नाश कभी नहीं होता है, प्रवाह बना रहता है। कभी बागवान्=ईश्वर=ब्रह्मा चार मुखों से नाना बीज निकासकर बन की उत्पत्ति करता है। और (कर्म) जल सेचन से (कर्मानुसार भोग प्रदान से) रक्षा=पालन करता है। कभी घोर हास=हास्य द्वारा मुख से अग्नि को प्रकट करके बन का दाह करता है। बनकी उत्पत्ति के साथ मेरी उत्पत्ति होती है, और नाश के साथ नाश होता है, और सब बनका दाह करके वह भगवान् एक ही रहता है। और उसके शरीर में बनके बीज रहते हैं। यह प्रतीति स्वप्न के वेद के श्रवण से उस अगृध देव को स्वप्न में ही हुई। तब बारम्बार अपने जन्म मरणादि को सुनकर अगृध देव ने विचार किया कि, किसी प्रकार बनसे बाहर निकसना चाहिये, यदि बनसे बाहर नहीं जा सकूं, तो भी मेरा चाण्डालभाव दूर हो जाय, और देवभाव सदा बना रहे, सो उपाय=यत्न करना चाहिये। तहाँ अन्य तो कोई उपाय बनसे निकसने का नहीं है, किन्तु ब्रह्म विद्या के उपदेशक आचार्य=गुरु अपने शिष्यों को बनसे बाहर निकासते हैं। स्वप्न में ही यह विचार करके अगृध देव आचार्य के शरण में विधि युक्त प्राप्त हुवा। और विधि पूर्वक प्राप्त उस शिष्य को आचार्य ने देव वाणी रूप मिथ्या ग्रन्थ का उपदेश किया ॥

जिस संस्कृत ग्रन्थ का मिथ्या आचार्य ने मिथ्या शिष्य को उपदेश किया। उस ग्रन्थ को भाषाऽनुवाद करके लिखते हैं। और संस्कृत के अनुवाद में प्रथम मङ्गलाचरण करते हैं। क्योंकि मङ्गल करने स ग्रन्थ की समाप्ति के प्रतिबन्धक विघ्नों (पापों) का नाश होता है। पाप से शुभ कर्म की पूर्ति नहीं होती है, मङ्गल द्वारा पाप के नाश से

पूर्ति=समाप्ति होती है। जो ग्रन्थकार पाप रहित हो, उसको भी ग्रन्थ के आरम्भ में अवश्य मङ्गल करना चाहिए, क्योंकि आरम्भे मंगल रहित ग्रन्थ के कर्ता में पाठक को नास्तिकता के भ्रम संशय होने पर, उस पाठक की ग्रन्थाध्ययनादि में प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः मङ्गल कर्त्तव्य है। सो मङ्गल तीन प्रकार का होता है॥

१ वस्तुनिर्देश, २ नमस्कार और ३ आशीर्वाद रूप मङ्गल होते हैं। १ सगुण अथवा निर्गुण परमात्म वस्तु के कितन को वस्तु निर्देश नामक मङ्गल कहते हैं। २ अपने अथवा शिष्य के वांछितार्थ की प्रार्थना को आशीर्वाद कहते हैं। नमस्कार प्रसिद्ध है। अपने वाँछित की प्रार्थना आगे चतुर्थ दोहे में है। शिष्य की इष्ट वस्तु की प्रार्थना पञ्चम में॥

गणेश और देवी की ईश्वरता पुराण में प्रसिद्ध है, अतः उनका चिन्तन अनीश्वर का चिन्तन नहीं। और पुराण में जो गणेश के जन्म वर्णित है, सो जीवों के समान कर्म का फल रूप नहीं, किन्तु राम कृष्णादि के समान भक्त जन के अनुग्रह के लिये परमात्मा के ही आविर्भाव का वर्णन है। आविर्भाव में ही व्यास भगवान् का परम अभिप्राय है। इस स्थान में यह रहस्य है कि परमार्थ दृष्टि से जीव भी परमात्मा से भिन्न नहीं है। क्योंकि जन्मादि रूप बन्ध का आत्मा में अध्यास ही जीव का जीवत्व है, सो जन्मादि का अध्यास गणेशादि को आत्मा में नहीं होता है, अतः उनमें जीवत्व नहीं। किन्तु ईश्वरता गणेशादि को है, अतः ग्रन्थ के आरम्भ में उनका चिन्तन योग्य है॥

और ईश्वर के नाना स्वरूपों का वर्णन है, सो सबकी ईश्वरता का द्योतन के लिये है। और ईश्वर भक्ति तथा गुरु भक्ति विद्या की प्राप्ति के मुख्य साधन हैं, इस अर्थ को भी द्योतन के लिये है॥

॥ मङ्गल ॥ दोहा ॥ निर्गुण वस्तु निर्देश ॥

जा विभु सत्य प्रकाश ते, परकाशत रवि चन्द।
सो साक्षी में बुद्धि को, शुद्ध रूप आनन्द ॥११॥

( अथ सगुण वस्तु निर्देश रूप मङ्गल )

नाशै विघ्न समूलते, श्री गणपति को नाम।
जा चिन्तन बिनु ह्वै नहीं, देवन हूं के काम ॥१२॥

टीका=जिस गणेश के चिन्तन के बिना देव का भी कार्य नहीं शिद्ध होता है। उस गणेश के पूजनादि की वार्ता त्रिपुर नामक असुर के बध की कथा में प्रसिद्ध है॥

॥ अथ नमस्कार रूप मङ्गल ॥ सोरठा ॥

असुरन[1] को संहार, लक्ष्मी पारवती पती।
तिन्हें प्रणाम हमार, भजतन कू संतन भजै ॥१॥

"अथ स्ववाँछित प्रार्थना रूप मंगल"

॥ दोहा ॥

जा शक्ती की शक्ति लहि, करै ईश यह साज[2]।
मेरी बाणी में बसहु, ग्रन्थ सिद्धि के काज ॥१३॥

"अथ शिष्य वाँछित प्रार्थना"

॥ दोहा ॥

बन्ध हरन सुख करन श्री, दादू दीन दयाल।
पढ़ै सुनै जो ग्रन्थ यह, ताके हरहु जञ्जाल[3] ॥१४॥

---

१ असुर=दैत्य राक्षसादि को संहार=नाश करने वाले विष्णु और शिव हैं उनके प्रति हमारा प्रणाम है कि जो भजने वालों को सदा भजते=रक्षा करते हैं॥

२ यह साज=संसार और इसके पालनादि को ईश्वर जिस शक्ति के प्रभाव से करता हैं॥

३ मोह द्वन्द्व रूप संसार को नष्ट करो॥

॥ अथ वेदान्तशास्त्रकर्ता आचार्य नमस्कार ॥

॥ कवित्त ॥

वेद वाद वृक्ष वन, भेदवादि वायु आय,
पकर हलाय क्रिया, कण्टक पसारिके ।
सरल सुशुद्ध शिष्य, कञ्ज पुनि तोरि-गेरि,
शूलन में फेरत, फिरत फेरि फारिके ॥
पेखि सुपथिक भगवान जानि अनुचित,
अङ्क में उठाय ध्याय, व्यास रूप धारि के ।
सूत्र को बनाइ जाल, बन को विभाग कीन्ह,
करत प्रणाम ताहि, निश्चल पुकारि के ॥ १ ॥

**टीका**—जैसे वायु बन में पैठ कर, वृक्षों को हलायकर, उन वृक्षों के कण्टकों को पसार कर, सुन्दर कमलों के पुष्पों को तोड़ कर, कण्टकों में उन पुष्पों को भ्रमावे । तहाँ उन भ्रमते हुए पुष्पों को देखकर, किसी पथिक के चित्त में ऐसा विचार हो कि, ये सुन्दर कमल इस कण्टक युक्त स्थान के योग्य नहीं हैं । ऐसा विचार कर उन पुष्पों को उठाय ले, और फिर विचार करे कि आगे भी पवन पुष्पों को तोड़ कर कण्टकों में भ्रमावेगा, अतः ऐसा उपाय करें कि जिससे फिर वायु पुष्पों को कण्टकों में नहीं भ्रमावै । और ऐसा विचार करके सूत्र के जालो से कण्टक युक्त वृक्षों का विभाग कर दे, कि जिस जाल से पुष्पों का कण्टक में प्रवेश नहीं हो ॥

तैसे ही भेदवादी गुरु रूप वायु, वेद रूप बन के बाद रूप अर्थ-वाद=स्तुति आदि स्वरूप सकण्टक वृक्षों द्वारा सकाम कर्मादि रूप कण्टक को प्रवृत्त विस्तृत करके, सरल=निष्कपट, सुशुद्ध=अति-शुद्ध रागद्वेषादि रहित शिष्य रूप कमल पुष्प को शमादि रूप स्थान से तोड़ कर=पृथक् करके सकाम कर्म रूप कण्टकों में सदा भ्रमाते हैं ।

सो देख कर पथिक तुल्य व्यापक विष्णु ने विचार किया कि यह सुन्दर कमल तुल्य शुद्ध पुरुष इस सकाम कर्मस्थान के योग्य नहीं है, किन्तु मेरे स्वरूप को प्राप्त होने के योग्य है, यह विचार कर, फिर व्यास रूप धारण करके, उन शिष्यों को उपदेश रूप अंक में स्थिर किया। जैसे पुरुष के अङ्क=गोद में स्थिर पुष्प को उड़ाने में वायु समर्थ नहीं होता, तैसे ब्रह्मनिष्ठ आचार्य=गुरु के उपदेश में स्थिर पुरुष को बहकाने में भेदवादी समर्थ नहीं होते हैं। अतः उपदेश ही अंक है। फिर व्यास भगवान् ने विचार किया कि, भेदवादी अन्य पुरुषों को आगे काम्य कर्मरूप सकण्टक वन में भ्रमावेगें। अतः ऐसा उपाय होना चाहिये कि जिससे आगे शिष्य भ्रमें नहीं, यह विचार करके सूत्र रूप जाल से वेद के वाक्य रूप वृक्षों को विभाग कर दिया ॥

जैसे वन में सकण्टक और अकण्टक दो प्रकार के वृक्ष होते हैं, तिनका जाल से विभाग कर दे, तो पुष्पों का सकण्टक वृक्षों में प्रवेश नहीं हो॥ तैसे वेद में दो प्रकार के वाक्य हैं, एक तो कर्मों की स्तुति करके कर्मों में बहिर्मुख पुरुष की प्रवृत्ति कराते हैं। और दूसरे कर्मफलों को अनित्य समझा कर पुरुष की निवृत्ति कराते हैं। वेद व्यास जी ने उनवाक्यों का विभाग करके सूत्रों से यह समझाया है कि सब वाक्यों का निवृत्ति में ही तात्पर्य है, प्रवृत्ति में किसी वाक्य का तात्पर्य नहीं। क्योंकि प्रवृत्ति बोधक वाक्यों का प्रथम तो स्वाभाविक और निषिद्ध प्रवृत्तियों से निवृत्ति में तात्पर्य हैं। फिर स्वाभाविक और निषिद्ध से निवृत्ति पूर्वक विहित निष्काम प्रवृत्ति से अन्तःकरण की शुद्धि होने पर उनसे भी निवृत्त होकर ज्ञाननिष्ठ पुरुष हो, यह तात्पर्य है, और अर्थवाद वाक्य कर्म फलों का बोधन गुडजिह्वान्याय से कराते हैं, फल में उनका तात्पर्य नहीं है। व्यासजी ने सूत्रों से इस अर्थ को समझाया है, अतः सूत्रों से इस अर्थ को सम-

भने पर सकाम कर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती है । जैसे सूत का जाल पुष्प को कण्टकों से निरोध करता है । तैसे व्यास भगवान् के सूत्र सकाम कर्म से निरोध करते हैं, अतः जाल रूप कहे गये हैं ॥१॥

॥ अगृध देव के प्रश्नों का वर्णन ॥ दोहा ॥

कोउक शिष्य उदार मति, गुरु के शरणे जाय ।
प्रश्न कियो कर जोरि के, पाद पद्म शिर नाय ॥ १५ ॥
भो भगवन् मैं कौन यह, संसृति काते होय ।
हेतु मुक्ति को ज्ञान वा, कर्म उपासन दोय ॥ १६ ॥

टीका=हे भगवन् ! मैं कौन हूँ । देह स्वरूप हूं, अथवा देह से भिन्न हूँ । मैं मनुष्य हूँ, और मेरा शरीर है, यह दो प्रतीति होती है । अतः मुझे संशय है । यदि देह से भिन्न भी मुझे आप कहो । तो देह से भिन्न मैं कर्ता भोक्ता हूं । अथवा निष्क्रिय हूं । यदि निष्क्रिय कहो तो भी सब शरीर में एक हूं, अथवा नाना हूँ । यह प्रथम प्रश्न का अभिप्राय है । और इस संसृति=संसार का कर्ता कौन है । इस दूसरे प्रश्न का अभिप्राय है कि, इस संसार का कोई कर्ता है, अथवा आप ही होता है । यदि कर्ता है, ऐसे कहो, तो भी कोई जीव कर्ता है, वा ईश्वर कर्ता है । यदि ईश्वर को कर्ता कहो, तो भी सो ईश्वर एक देश में स्थिर है, वा व्यापक है । यदि व्यापक है, तो भी जैसे व्यापक आकाश से जीव भिन्न है, तैसे उस ईश्वर से जीव भिन्न है, वा अभिन्न है । और मुक्ति का हेतु ज्ञान है, वा कर्म है । या उपासना है, अथवा दो हैं । यदि दो कहो तो भी ज्ञान कर्म है । वा ज्ञान उपासना है, अथवा कर्म उपासना है ॥ १६ ॥

॥ गुरुरुवाच ॥ ॥ अर्ध दोहा ॥

सत् चित् आनन्द एक तूं, ब्रह्म अजन्म असङ्ग ॥

टीका=शिष्य ने जो प्रथम प्रश्न किया था, उसका उत्तर कहते हैं कि "तूं सत् चित् आनन्द-स्वरूप है" इस कथन से देह से भिन्न कहा,

क्योंकि देह असत् स्वरूप और जड़ है, तथा दुःख रूप है। और तुम कर्ता भोक्ता भी नहीं हो, क्योंकि जिसमें दुःख होता है, सोई दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिए क्रिया करने से कर्ता कहा जाता है। तेरे स्वरूप में दुःख नहीं हैं, अतः दुःख की निवृत्ति के लिए क्रिया का कर्ता नहीं हो। तूं आनन्द स्वरूप हो, अतः सुख की प्राप्ति के लिये भी तूं क्रिया का कर्ता नहीं हो। और जो कर्ता होता है, सोई भोक्ता होता है, तूं कर्ता नहीं, अतः भोक्ता भी नहीं। किन्तु पुण्य पाप के जनक कर्मों का कर्ता और सुख का भोक्ता 'साभास' स्थूल सूक्ष्म का संघात=समूह है, तूं नहीं, तूं संघात का साक्षी है॥

इसीसे आत्मा एक है, नाना नहीं। यदि आत्मा कर्ता भोक्ता होता तब तो नाना होता। क्योंकि कोई भोक्ता सुखी है, कोई दुःखी है, और कर्ता भोक्ता एक माना जाय, तो एक के सुखी वा दुःखी होने पर सबको सुखी वा दुःखी होना चाहिये, सो होता नहीं, अतः भोक्ता नाना है, और आत्मा भोक्ता नहीं, अतः एक है॥

सांख्य मत में आत्मा=पुरुष को कर्ता भोक्ता नहीं मान कर भी, जो उदासीन पुरुष=आत्मा को नाना अङ्गीकर किया गया है, सो अत्यन्त विरुद्ध अयुक्त है। क्योंकि सांख्य का यह सिद्धान्त है कि= सत्वरजस्तमोगुण की साम्यावस्था का नाम प्रधान है ( सो प्रधान प्रलय काल में रहता है, परन्तु गुणों के चञ्चल स्वभाव होने से उस समय भी सदृश परिणाम युक्त ही प्रधान रहता है ) सो प्रधान प्रकृति ( उपादान कारण ) है, विकृति ( विकार=कार्य ) नहीं, ( कार्य के लिए उन्मुख प्रधान प्रकृति होती है ) सो महत्तत्त्व का उपादान है। और अनादि होने से विकृति नहीं है। महत्तत्त्व ( समष्टि बुद्धि ) अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा ये सात प्रकृति विकृति ( कार्य कारण उभय रूप ) हैं। उत्तर २ के प्रकृति हैं, पूर्व २ के विकृति हैं। तन्मात्रा भी भूतों के

प्रकृति हैं। इस रीति से सात प्रकृति विकृति हैं। और पांच भूत, दश इन्द्रिय और मन ये सोलह केवल विकृति हैं, प्रकृति नहीं। और पुरुष प्रकृति विकृति नहीं, क्योंकि किसी का हेतु हो, तो प्रकृति हो, कार्य हो तो विकृत हो, सो उदासीन पुरुष किसी का हेतु वा कार्य नहीं है। अतः असङ्ग है। इस रीति से सांख्य मत में पचीस तत्त्व=पदार्थ मान्य हैं, ईश्वर का अङ्गीकार नहीं है, स्वतन्त्र प्रकृति जगत का कारण मान्य है, पुरुष के भोग और मोक्ष के लिये प्रकृति ही प्रवृत्त होती है, पुरुष नहीं, प्रकृति के विषय रूप परिणाम से पुरुष को भोग होता है। और बुद्धि द्वारा विवेक रूप प्रकृति के परिणाम से मोक्ष होता है ॥

यद्यपि असङ्ग पुरुष में भोग मोक्ष का सम्भव नहीं है, तथापि ज्ञान, सुख, दुख, और रागद्वेषादि का बुद्धि आत्मा के अविवेक से आत्मा में आरोप होता है, अतः अविवेक मूलक आरोप से ही आरोपित=कल्पित बन्ध मोक्ष भी आत्मा में भासते हैं। परमार्थ से नहीं। अविवेक सिद्ध भोग से ही सांख्य मत में आत्मा को भोक्ता कहते हैं, परमार्थ से आत्मा भोक्ता नहीं हैं, किन्तु बुद्धि ही भोक्ता है। और बुद्धि आत्मा से भिन्न है, इस ज्ञान का नाम विवेक है, उसके अभाव का अविवेक नाम है, इस रीति से सांख्य मत में आत्मा असङ्ग है, और सुखादिक बुद्धि के परिणाम हैं, अतः बुद्धि के धर्म हैं। और आत्मा नाना हैं ॥

सो वार्ता अत्यन्त विरुद्ध है, क्योंकि यदि सुख दुःखादि आत्मा के धर्म हों, तब तो सुख दुःखादि के प्रति शरीर में भेद ( भिन्न ) होने से आत्मा का भेद सिद्ध हो, सो सुख दुःखादि तो आत्मा के धर्म हैं नहीं, किन्तु बुद्धि के धर्म हैं। अतः सुख दुःखादि के भेद से बुद्धि का ही भेद सिद्ध होता है, आत्मा का नहीं। जैसे एक ही व्यापक आकाश में नाना उपाधि के धर्म, उपाधि और आकाश के अविवेक

से प्रतीत होते हैं, तैसे एक ही व्यापक आत्मा में नाना बुद्धि के धर्म, बुद्धि और आत्मा के अबिवेक से प्रतीत होते हैं। यह वार्ता सांख्य मत में मानना उचित है। आत्मा को असङ्ग मानकर, नाना मानना निष्फल है ॥

और कोई आत्मा मुक्त है, अन्य आत्मा को बन्धन है, इस रीति से बद्धमुक्त के भेद से यदि आत्मा में भेद माने, तो सो भी नहीं बन सकता है, क्योंकि सांख्य में असङ्ग आत्माओं को बद्ध और फिर मुक्त होना माना नहीं गया है, किन्तु बुद्धि के साथ अविवेक से बन्ध माना गया है, और बुद्धि के विवेक से मोक्ष माना गया है। और जो वस्तु अविवेक से होती है, और विवेक से दूर होती है, सो रज्जु सर्प के समान मिथ्या होती है। आत्मा में भी बुद्धि के अविवेक से बन्ध ( प्रतीत होता ) है। और विवेक से दूर होता है, अतः आत्मा में बन्ध मिथ्या है। और जैसे बन्ध मिथ्या है, तैसे आत्मा का मोक्ष भी मिथ्या है, क्योंकि जिसमें बन्ध सत्य रहता है। उसी का मोक्ष भी सत्य होता है, आत्मा में बन्ध के मिथ्या होने से मोक्ष भी मिथ्या ही है। इस रीति से मिथ्या बन्ध मोक्ष आकाश के समान एक आत्मा में बन सकते हैं, उनके भेद से आत्मा का भेद नहीं सिद्ध हो सकता है, अतः सांख्य मत में आत्मा में भेद का स्वीकार अङ्गत है ॥

तैसे न्याय मत में भी आत्मा के भेद का स्वीकार असङ्गत है। क्योंकि न्याय का यह सिद्धान्त है कि सुख, दुख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, ज्ञान के संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, और विभाग ये चतुर्दश १४ गुण जीवात्मा में रहते हैं ॥

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये आठ गुण ईश्वर में रहते हैं। तहाँ इतना भेद है कि ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और यत्न नित्य हैं। और जीव के तीनों अनित्य

होते हैं। ईश्वर व्यापक और नित्य है। जीव नाना हैं, सब व्यापक और नित्य हैं। और जीव के ज्ञान गुण अनित्य हैं। अतः जब ज्ञान गुण उत्पन्न होता है, तब जीव चेतन रहता है, और ज्ञानगुण के नाश होने पर[1] जीव जड़ रहता है। ईश्वर और जीव के समान, आकाश, काल, दिशा और मन भी नित्य हैं। और पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणु नित्य हैं। झरोखे के प्रकाश में प्रतीत होनेवाले सूक्ष्मरज के छठे भाग का परमाणु नाम हैं, सो परमाणु आत्मा के समान नित्य हैं। अन्य भी जाति समवाय सम्बन्धादि कितने पदार्थ न्याय मत में नित्य हैं। वेद विरुद्ध सिद्धान्त के बहुत लेख से जिज्ञासु को उपयोग ( फल ) नहीं, अतः बहुत लिखे नहीं ॥

"मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ" इत्यादि देह विषयक भ्रान्ति ( मिथ्या ज्ञान ) से रागद्वेष और मोहरूप दोष होते हैं, उनसे धर्माधर्म के लिये प्रवृत्ति होती है, धर्माधर्म से शरीर के सम्बन्ध द्वारा सुख दुःख होते हैं। इस रीति से न्याय मत में आत्मा को संसार का हेतु भ्रान्ति ( मिथ्या ) ज्ञान है। सो भ्रान्ति ज्ञान तत्त्व ज्ञान से दूर होता है। और "देहादि सम्पूर्ण पदार्थ से आत्मा भिन्न है, इस निश्चय ज्ञान का नाम तत्त्व ज्ञान है"। उस तत्त्व ज्ञान से "मैं ब्राह्मण हूँ, मनुष्य हूँ" इत्यादि भ्रम दूर होते हैं। भ्रान्ति के नाश से राग द्वेष मोह का अभाव होता है, उनके अभाव से धर्माधर्म के निमित्त=कारण रूप प्रवृत्ति का अभाव होता है, प्रवृत्ति के अभाव से शरीर सम्बन्ध रूप जन्म का अभाव होता है, और प्रारब्ध का भोग से नाश होता है, शरीर सम्बन्ध के अभाव से इक्कीस दुःखों का नाश होता है, सो दुःखों का नाश ही न्याय मत में मोक्ष मान्य है। एक शरीर, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, और मन, ६ और ज्ञानेन्द्रिय और मन के ६ विषय, और

१ ज्ञान के संस्कार आत्मा में सदा संसार काल में रहता है, अतः जड़ घटादि से आत्मा में विलक्षणता रहती है ॥

इन्द्रिय मन जन्य ६ ज्ञान, तथा सुख और दुःख, ये इक्कीस दुःख माने गये हैं। शरीरादिक दुःख के हेतु हैं, अतः दुःख कहे गये हैं। और स्वर्गादि के सुख भी नाशादि के भय से दुःख के हेतु हैं। अतः दुःख कहे जाते हैं। यद्यपि न्याय मत में श्रोत्र और मन रूप इन्द्रिय नित्य हैं, उनका नाश नहीं हो सकता, तथापि जिस रूप से श्रोत्र और मन दुःख के हेतु हैं, उस रूप का नाश होता है, पदार्थों के ज्ञान के जनक रूप से दुःख के हेतु हैं। और मोक्ष काल में श्रोत्र से ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि कर्ण गोलक में स्थिर आकाश को न्याय में श्रोत्र कहते हैं, उस गोलक के अभाव से मोक्ष में आकाश श्रोत्र रूप ही नहीं रहता है, अतः दुःख हेतु ज्ञान जनक श्रोत्र का अभाव रहता है। और 'शरीर के भीतर, पुरीतत् नाड़ी से बाहर', आत्मा के साथ मन के संयोग से ज्ञान सुखादि होते हैं, सो मन का संयोग एक मन की क्रिया से होता है, जैसे बाज की क्रिया से बाज वृक्ष का संयोग होता है, आत्मा मन दोनों की क्रिया से, दो मेष के संयोग तुल्य आत्मा के साथ मन का संयोग नहीं होता है, क्योंकि विभु आत्मा में कभी क्रिया नहीं होती है, और मोक्ष काल में मन में भी क्रिया नहीं होती है, अतः विशेष संयोग वाला मन का मोक्ष में अभाव रहता है॥

और कोई एक देशी त्वचा के साथ मन के संयोग को ज्ञान का हेतु कहते हैं। आत्मा के संयोग को नहीं। सुषुप्ति काल में पुरीतत् नामक नाड़ी में मन प्रवेश करता है, त्वचा के साथ उस समय मन का संयोग नहीं रहता है, अतः सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता है। उनके मत में त्वचा से संयोग वाला मन ही ज्ञान द्वारा दुःख के हेतु होने से दुःख है, केवल मन नहीं॥ मोक्ष में त्वचा के नाश से त्वचा के साथ संयोग वाला मन नहीं रहता है, अतः ज्ञान नहीं होता है। और स्वरूप से मन रहता भी है, परन्तु त्वचा के नाश से त्वचा के साथ संयोग वाला ज्ञान जनक मन का नाश=अभाव रहता है॥

इस रीति से परमात्मा से भिन्न ही दुःख रहित होकर व्यापक आत्मा जड़ रूप से मोक्ष काल में रहता है, क्योंकि ज्ञान गुण से आत्मा चेतन होता है, उसका प्रकाश होता है, और ज्ञान सब इन्द्रिय-जन्य होते हैं, नित्य ज्ञान मान्य नहीं है। और इन्द्रिय जन्य ज्ञानों का मोक्ष में अभाव रहता है, अतः प्रकाश रहित जड़ होकर मोक्ष काल में आत्मा स्थिर होता है, यह न्याय का सिद्धान्त है ॥

और पूर्ववर्णित रीति से इस सिद्धान्त में सुख दुःख बन्ध मोक्ष वाले आत्मा हैं, अतः नाना=असंख्य और सब व्यापक हैं। सब अल्प=मूर्त पदार्थों के साथ संयोग सम्बन्ध ही इस मत में व्यापक का लक्षण है। और सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद का अभाव, व्यापक का लक्षण नहीं है। क्योंकि न्याय मत में यद्यपि आत्मा निरवयव है, अतः स्वगत भेद आत्मा में नहीं है, तथापि सजातीय आत्मान्तर से और विजातीय भूमि आदि से भेद है। अतः त्रिविध भेद राहित्य व्यापक का लक्षण नहीं है, किन्तु सर्वाल्पसंयोग ही व्यापक का लक्षण है ॥

यहाँ यह शंका होती है कि न्याय मत में आत्मा के समान, आकाश, काल और दिशा भी व्यापक हैं, और सूक्ष्म परमाणु निरवयव हैं। उनके साथ सब व्यापक पदार्थों का संयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि यदि परमाणु सावयव हों, तब तो किसी देश में एक आत्मा का संयोग हो, किसी अन्य देशों में अन्य आत्मा और आकाशादि का संयोग हो, और परमाणु निरवयव अति सूक्ष्म है, अतः सब व्यापक का संयोग परमाणु से हो नहीं सकता है, क्योंकि एक के संयोग से ही स्थान के निरुद्ध होने पर अन्य का संयोग हो नहीं सकता है, अतः अनेक पदार्थ व्यापक नहीं हो सकते, कोई एक ही पदार्थ व्यपक हो सकेगा ॥

इस शंका का यह समाधान है कि सावयव ( मूर्त ) एक वस्तु का संयोग अन्य के संयोग का विरोधी होता है, जैसे जिस पृथ्वी देश में

हस्त का संयोग हो, उस देश में पाद का, संयोग नहीं होता है। और निरवयव ( अमूर्त ) का संयोग स्थान को नहीं रोकता है, अतः अन्य के संयोग का विरोधी नहीं होता है। यह बात प्रसिद्ध है। जैसे घट के जिस देश में आकाश का संयोग है, उसी देश में काल का और दिशा का भी संयोग है। यदि घट का कोई देश आकाश काल और दिशा से बाहर हो, तो उस देश में आकाश काल दिशा का संयोग नहीं हो। आकाशादि से बाहर कोई देश है नहीं। किन्तु सब पदार्थों के सब देश अकाश काल दिशा में ही हैं, अतः सब पदार्थों के सब देशों में आकाशादि का संयोग है। इस रीति से परमाणु में भी एक ही देश में अनेक विभु का संयोग होता है। इसमें कोई दोष नहीं। अतः आत्मा नाना है, और सब व्यापक हैं॥ परन्तु सब व्यापक पदार्थों का सब एक देशी ( मूर्त ) पदार्थों के साथ सम्बन्ध है, यह न्याय का सिद्धान्त समीचीन ( सत्य ) नहीं है। क्योंकि व्यापक अनेक आत्मा माने जायँ, तो सब शरीर में सब आत्मा के संयोग सम्बन्ध को मानना होगा, अतः कौन शरीर किसका है, यह निश्चय नहीं हो सकेगा, एक एक आत्मा के सब शरीर हैं, ऐसा निश्चय होगा। यदि ऐसे कहा जाय कि जिसके कर्म से जो शरीर उत्पन्न हुवा है, तिस आत्मा का सो शरीर है, अन्य का नहीं॥ तो सो कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस शरीर से कर्म होता है, वा हुवा है। उस शरीर में भी सब आत्मा के सम्बन्ध रहने से कर्म भी सब आत्मा के होंगे, एक के नहीं। यदि ऐसे कहें कि जिस आत्मा के मन सहित शरीर है। उस आत्म का वह शरीर है तो सो भी ठीक नहीं क्योंकि शरीर के समान मन के साथ भीसब आत्माओं के सम्बन्ध रहने से, कौन मन किस आत्मा का है, यह निश्चय नहीं हो सकेगा, सब आत्मा के सभी मन है, ऐसा निश्चय होगा। इसी प्रकार सब इन्द्रिय भी सब आत्मा के होगें। और बाहर के पदार्थों में यह मेरा है, यह अन्य का है, इत्यादि व्यवहर भी शरीर निमित्तक होता है। सब आत्मा के सब शरीर होने पर, बाहर के

सब पदार्थ भी सब आत्मा के होगें। और यदि ऐसे कहै कि जिस आत्मा को जिस शरीर में अहं मम बुद्धि होती है। उस आत्मा का वह शरीर है। अन्य का नहीं, क्योंकि अहं और मम बुद्धि के एक होने से एक आत्मा में वह बुद्धि होती है, सब में नहीं, एक का धर्म रूप बुद्धि अन्य में नहीं रह सकती। अतः बुद्धि का विषय एक शरीर एक आत्मा का रहता है, सबका नहीं। और जिस आत्मा का जो शरीर है, उस शरीर सम्बन्धी मन इन्द्रिय और बाहर के पदार्थ भी उसी आत्मा के हैं, अतः व्यापक नाना आत्मा को मानने में दोष नहीं है॥ तो सो बात भी नहीं बन सकती है। क्योंकि यद्यपि एक देह विषयक अहं मम बुद्धि एक आत्मा को होती है, तथापि सो न्याय मत से नहीं सिद्ध हो सकती है। न्याय की रीति से सब देह में सब आत्मा की अहं बुद्धि होनी चाहिए। क्योंकि न्यायमत में बुद्धि नाम ज्ञान का है, सो ज्ञान आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होता है, और एक एक मन के साथ सब आत्मा का संयोग रहता है, अतः मन के संयोग से, जैसे एक देह में एक आत्मा को अहं बुद्धि होती है, तैसे एक देह में सब आत्मा को अहं बुद्धि होगी॥ यदि ऐसे कहैं कि यद्यपि मन का सम्बन्ध सब आत्मा के साथ रहता है, तथापि जिस आत्मा में जिस ज्ञान के जनक अदृष्ट ( धर्मा धर्म ) रहते हैं। उस आत्मा में वही अहं बुद्धि होती है, तो भी सब आत्मा को ही सब ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि सब आत्मा को व्यापक मानने पर, जिस शरीर से शुभाशुभ क्रिया होती है, उस शरीर में सब आत्मा की वर्तमानता से क्रिया जन्य अदृष्ट भी सब आत्मा के होंगे, यह वार्ता प्रथम कही गई है। अतः व्यापक नाना आत्मा हो, तो एक एक देह में सबको सुख दुःख के भोग की प्राप्ति होती है अतः व्यापक नाना कर्ता भोक्ता आत्मा है। यह न्याय का सिद्धान्त समीचीन नहीं॥

और वेदान्त सिद्धान्त में कर्ता भोक्ता नाना साभास अन्तःकरण है, सो व्यापक वा अणु नहीं है, किन्तु शरीर के समान परिमाणवाला दीप प्रभा तुल्य छोटे बड़े शरीरों में संकोच और विकास वाला है, यह वार्ता सिद्धान्त बिन्दु में मधुसूदन स्वामी ने कही है। अतः जिस अन्तःकरण का जिस शरीर में सम्बन्ध रहता है, उसीको उस शरीर से भोग होता है, अन्य को नहीं। यदि अन्तःकरण को व्यापक माना जाय, तो सब अन्तःकरण के सब शरीर में होने से, सबसे सबको भोग भी प्राप्त हो, व्यापक नहीं होने से यह दोष नहीं। और अन्तः करण को अणु माना जाया, तो अन्तः करण के किसी एक देश में रहने से, एक काल में शिर और पाद की पीडा आदि का भी अनुभव नहीं होगा। अतः अणु और व्यापक नहीं, किन्तु शरीर तुल्य अणु व्यापक से भिन्न मध्य परिमाण वाला हैं।

## ( विशेष रूप हृदय परिमित है )

न्याय मत में किसी नवीन ने ऐसा माना है कि कर्ता भोक्ता अनेक आत्मा है, सो व्यापक वा अणु नहीं है। अतः भोग का संकर वा सर्वत्र पीड़ा आदि का अननुभव रूप दोष नहीं है, क्योंकि वेदान्त मत के अन्तःकरण के समान आत्मा भी मध्यम परिमाण वाले हैं, और ज्ञानेच्छादि चतुर्दश गुण रहते हैं, अतः आत्मा निर्गुण नहीं है॥ सो भी नवीन का मानना समीचीन नहीं है, क्योंकि उस आत्मा को यदि दीपप्रभा तुल्य संकोच विकास वाला माना जाय, तो आत्मा विकारी और विनश्वर सिद्ध होगा, जिससे मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र और साधन निष्फल होंगें। और मध्यम परिभाण मानकर यदि संकोच और विकास नहीं माना जाय, तो किस शरीर के तुल्य परिमाण वाला आत्मा है, यह निश्चय नहीं होगा, मनुष्य शरीर के तुल्य मानने पर भी सब अवस्था में और सब मनुष्य केशरीर तुल्य माँप वाले नहीं रहते हैं। तहाँ आत्मा

के परिमाण का निश्चय होना दुर्लभ है। और मानव शरीर के आत्मा कर्म वश हस्ती शरीर में जायगा, तो हस्ती के सम्पूर्ण शरीर आत्मा वाला नहीं होने के कारण सर्वत्र सुख दुःखादि के अनुभव युक्त नहीं होगा। और हस्ती के शरीर तुल्य माना जाय, तो हस्ती से भी बड़े शरीरों में उक्त दोष प्राप्त होगा। सबसे बडा कोई निश्चित शरीर नहीं है कि जिसके समान आत्मा माना जाय॥ यद्यपि सबसे बड़ा विराट् का शरीर है, तथापि यदि विराट् के शरीर तुल्य आत्मा को माना जाय, तो विराट् के अन्तर्भूत सब शरीर है, अतः सर्वात्मा का सब शरीर से सम्बन्ध सिद्ध होगा, और उसमें प्रथम दोष कहे गये हैं। और यह नियम है कि मध्यम परिमाणवाली वस्तु शरीर के समान अनित्य होती है, अतः आत्मा भी अनित्य होगा। और अन्तः-करण का वेदान्त में ज्ञान से नाश माना जाता है, अतः अनित्य है, उसके मध्यम परिमाण मानने में कोई दोष नहीं। इस रीति से नवीन तार्किक का मत भी समीचीन नहीं॥

और यदि कोई ऐसे कहै कि आत्मा नाना और अणु है, तो सो कहना भी नहीं बनता है। क्योंकि अणु आत्मा को कर्ता भोक्ता मानने पर; अन्तःकरण के अणु पक्ष में जो दोष कहा है, सो दोष प्राप्त होगा, और कर्ता भोक्ता नहीं मानै, तो नाना आत्मा का अङ्गीकार निष्फल होगा। अभोक्ता एक ही व्यापक आत्मा सब शरीर में मन्तव्य है॥

और अणु आत्मवादी जीवात्मा को कर्ता भोक्ता नहीं माने तो स्वसिद्धान्त का भी त्याग होगा। क्योंकि अणुवादी का यह सिद्धान्त है कि, ज्ञान इच्छा सुख दुख धर्माधर्मादि आत्मा के धर्म (गुण) हैं। अतः यदि आत्मा अणु माना जाय, तो जिस शरीर देश में आत्मा नहीं रहेगा, सो देश मृतक तुल्य रहेगा, उस देश में पीडादि का ज्ञान नहीं होना चाहिए।

और यदि ऐसे कहैं कि यद्यपि अणु आत्मा तो शरीर के एक देश में ही रहता है, तथापि कस्तूरी के गन्ध तुल्य आत्मा का ज्ञान रूप गुण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है, अतः उस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में आत्मा अनुकूल प्रतिकूल के सम्बन्ध को अनुभव करता है। तो सो कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि यह नियम है कि गुणी देश में ही गुण रहता है। गुणी के बिना नहीं, जैसे घटादि के रूपादि गुण घटादि के बिना नहीं रहते हैं, तैसे आत्मा के बिना उसके ज्ञान गुण की स्थिति नहीं हो सकती है। कस्तूरी के गन्ध भी कस्तूरी के सूक्ष्म भाग देश में ही व्याप्त होता है, अतः कस्तूरी का दृष्टान्त अयुक्त है। उससे कर्ता भोक्ता अणुआत्मा नहीं सिद्ध हो सकता है। श्रुति में दुर्ज्ञेयता के अभिप्राय से कहीं आत्मा को अणु से भी अति अणु कहा गया है, जैसे अत्यन्त अणु वस्तु का ज्ञान मन्द दृष्टिवाले को नहीं होता है, तैसे ही बहिर्मुख को आत्मज्ञान नहीं होता है, अतः आत्मा अणुतुल्य है। यह श्रुति का अभिप्राय है, आत्मा की अणुरूपता में अभिप्राय नहीं, क्योंकि अणु कथन के साथ और अन्य बहुत स्थानों में महान् से महान् व्यापक आत्मा का प्रतिपादन श्रुति ने किया है, अतः अणु नहीं॥

इस उक्त रीति से "व्यापक वा अणु" अथवा माध्यमपरिमाण वाला आत्मा नाना है, यह कहना नहीं बनता। अतः परिशेष अवशिष्ट, पक्ष से एक व्यापक आत्मा सिद्ध ( ज्ञात ) होता है। उस एक आत्मा में धर्माधर्म सुख दुःख बन्ध मोक्ष यदि माने जाँय, तो प्राणीभेद से पृथक् २ सुख दुःखादि की व्यवस्था नहीं होगी, अतः धर्मादिक बुद्धि के धर्म हैं। यद्यपि बुद्धि जड़ है, उसमें धर्माधर्म सुख दुःखादि का सम्भव नहीं है। तथापि सुखादि आत्मा के धर्म नहीं है, इस तात्पर्य से बुद्धि के धर्म उन्हें कहते हैं। और बुद्धि के ( सत्य ) धर्म हैं। ईस अर्थ में तात्पर्य नहीं है। क्योंकि सुखादि सहित बुद्धि आत्मा में अध्यस्त

( कल्पित ) है । और जो वस्तु जिसमें अध्यस्त है, सो उसमें परमार्थ से नहीं है । जैसे सर्प=रज्जु में अध्यस्त होता है, सो परमार्थ से रज्जु में नहीं रहता है । तैसे सुखादि सहित (सत्य) बुद्धि आत्मा में नहीं है । और अध्यस्त पदार्द किसी का आश्रय नहीं होता है, अतः बुद्धि भी सुखादि का आश्रय नहीं है । किन्तु अज्ञान तो शुद्ध चेतन में अध्यस्त है । और अन्तःकरण अज्ञान उपहित में अध्यस्त है । और अन्तः करण उपहित में धर्माधर्म सुख दुःखादि अध्यस्त हैं । इसी रीति से आत्मा में धर्मादिकों की अधिष्ठानता का अन्तःकरण उपाधि है, अतः धर्मादि को अन्तःकरण के धर्म कहते है ॥

यदि अन्तःकरण से विशिष्ट आत्मा में धर्मादि को अध्यस्त कहें, तो नहीं बनसकता, क्योंकि विशेषण युक्त का विशिष्ट नाम है । धर्मादिअध्यास के अधिष्ठान रूप आत्मा के अन्तःकरण को यदि विशेषण मानें, तो अन्तःकरण भी सुखादि का अधिष्ठान सिद्ध होगा, और उसमें अधिष्ठानता बनती नहीं, क्योंकि मिथ्या वस्तु अधिष्ठान नहीं होता । अतः आत्मा में धर्मादि के अध्यास में अन्तःकरण विशेषण नहीं, किन्तु उपाधि है । और उपाधि का यह स्वभाव है कि आप तटस्थ रह कर भी जितने देश में आप हो, उस देश में स्थिर वस्तु मात्र को किसी विशेष रूप से बोध कराता है । और बिशेषण का स्वभाव है कि स्वदेश में स्थित वस्तु को अपने सहित विशेष रूप से बोध कराता है । विशेषण वाले को विशिष्ट, और उपाधि वाले को उपहित कहते हैं । इस रीति से अन्तःकरण से विशिष्ट में धर्मादि का अध्यास कहें तो अन्तःकरण और अन्तःकरण देश वृत्ति चेतन दोनों अधिष्ठान सिद्ध होंगें । और अन्तःकरण स्वयं अध्यस्त है, अतः अधिष्ठान हो नहीं सकता । इस अभिप्राय से अन्तःकरण उपहित में धर्मादि अध्यस्त कहें गये हैं कि जिससे अन्तःकरण देशवृत्ति चेतनमात्र में अधिष्ठानता सिद्ध होती है, अन्तःकरण में नहीं, तैसे अन्तःकरण

भी अज्ञान उपहित चेतन में अध्यस्त है, अज्ञान विशिष्ट में नहीं। इस रीति से अध्यस्त धर्मादि का अधिष्ठान आत्मा है, अध्यास की अधिष्ठानता की अन्तःकरण उपाधि है, अतः अन्तःकरण रूप बुद्धि के धर्म, धर्मादि को कहते हैं। और अविवेक से अन्तःकरण और आत्मा दोनों में धर्मादि प्रतीत होते हैं। अतः अन्तःकरण विशिष्ट प्रमाता के धर्म कहे जाते हैं॥ धर्मादिक अन्तःकरण के धर्म हों। या अन्तःकरण विशिष्ट प्रमाता के धर्म हों। अथवा रज्जु सर्प, स्वप्न के पदार्थ, गन्धर्व नगर, नभ नीलता के समान किसी के धर्म नहीं हों सब प्रकार से शुद्धात्मा के धर्म नहीं है। यद्यपि आत्मा में अध्यस्त (कल्पित) है। तथापि जो वस्तु जिस में अध्यस्त होती है। सो उसमें परमार्थ से नहीं रहती है। अतः राग द्वेष धर्माधर्मादि से रहित व्यापक एकही सर्वात्मा है॥

सो आत्मा सत् है। जिस वस्तु का ज्ञान से अभाव (बाध) हो सो असत् कहा जाता है। जिसकी निवृत्ति (अभाव) किसी काल में नहीं हो, सो सत् कहा जाता है। सब सदार्थ का और उनकी निवृत्ति का अधिष्ठान आत्मा है। यदि आत्मा की निवृत्ति हो, तो उसका अन्य अधिष्ठान कहना (होना) चाहिये, क्योंकि शून्य में निवृत्ति नहीं होती है। यदि आत्मा और उसकी निवृत्ति (नाश) का अन्य अधिष्ठान माना जाय, तो उस अन्य का भी कोई अधिष्ठान मानना होगा, और इस रीति से अनवस्था होगी॥

और आत्मा की निवृत्ति को मानने वाले से पूछा जाय कि, आत्मा की निवृत्ति का अनुभव किसी को होता है, या नहीं" यदि कहे कि अनुभव होता है, तो सो कहना नहीं बनसकता है। क्योंकि जो अनुभव करने वाला है, सोई आत्मा है, सबका स्वरूप है, उस की निवृत्ति का अनुभव अपने मस्तक छेदन के अनुभव के समान है। अतः आत्मा की निवृत्ति का अनुभव नहीं हो सकता है।

और यदि कहे कि आत्मा की निवृत्ति तो होती है, परन्तु उस निवृत्ति का अनुभव किसी को नहीं होता है। तो इससे यही बात सिद्ध होती है, कि आत्मा की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि जिस वस्तु का अनुभव किसी को नहीं हो, सो बन्ध्यापुत्र के समान है। अतः आत्मा की निवृत्ति नहीं होने से आत्मा सत्य है॥ और आत्मा चित् है। प्रकाश स्वरूप ज्ञान को चित् कहते हैं। यदि अप्रकाश स्वरूप आत्मा को माने, तो आकाश स्वरूप जड़ अनात्म वस्तु का प्रकाश कभी नहीं होगा। यदि अन्तःकरण और इन्द्रियों से पदार्थों का प्रकाश कहा जाय, तो बन नहीं सकता, क्योंकि अन्तः करण और इन्द्रिय परिच्छिन्न हैं, अतः कार्य हैं। जो परिच्छिन्न होता है, सो घट के समान कार्य होता है, और अन्तःकरणादि भी परिच्छिन्न हैं। अतः कार्य हैं, देश काल से अन्त वाले को परिच्छिन्न कहते हैं। कार्य जड़ होता है, अतः अन्तः करणादि जड़ हैं। उन से किसी वस्तु का प्रकाश नहीं हो सकता है, अतः सबका प्रकाशक आत्मा प्रकाश (ज्ञान चित्) स्वरूप है॥

यदि ऐसा कोई कहे कि यद्यपि आत्मा प्रकाश स्वरूप नहीं है, किन्तु जड़ है, तथापि उसमें ज्ञान गुण रहता है, उस गुण से आत्मा अनात्म सबका प्रकाश होता हैं। तहाँ उस कहने वाले से पूछा जा सकता है कि आत्मा का ज्ञान गुण नित्य है, अथवा अनित्य है। यदि नित्य कहे तो आत्म स्वरूप ही ज्ञान सिद्ध होगा। क्योंकि आत्म से भिन्न सब अनित्य है, यह नियम है, यदि आत्मा से भिन्न ज्ञान को माने, तो वह अनित्य ही होगा। अतः नित्य मान कर आत्मा से भिन्न मानना नहीं बनेगा। और यदि अनित्य माने, तो घटादि के समान जड़ होगा, जो अनित्य होता है, सो जड होता है, अतः ज्ञान अनित्य है, यह कहना नहीं बन सकता है, किन्तु ज्ञान नित्य ही है, सो नित्य ज्ञान आत्म स्वरूप ही है। यदि अनित्य मानै, तो आत्मा में कभी ज्ञान रहेगा, कभी नहीं भी

रहेगा। और आत्मा से भिन्न भी ज्ञान सिद्ध होगा, परन्तु ज्ञान को नित्य मानने पर तो आत्मा से भिन्न ज्ञान नहीं सिद्ध होता है। और जो गुण होता है, सो गुणी में कभी रहता है, कभी नहीं भी रहता है, जैसे वस्त्र के नील पीतादि गुण कभी रहते हैं, कभी नहीं रहते हैं, अतः गुण आगमापायी होते हैं॥ और ज्ञान के नित्य होने से आगमापायी नहीं है, अतः ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है। और ज्ञान को अनित्य कहैं, तो इन्द्रिय अथवा अन्तः करण से ज्ञान की उत्पत्ति कहना होगा। और सो कहना नहीं बन सकता, क्योंकि सुषुप्ति में इन्द्रियादि के अभाव रहते भी सुख का ज्ञान होता है, सो नहीं हो सकेगा। यदि सुषुप्ति में सुख के ज्ञान को नहीं माने, तो जागने पर "मैं सुख से सोया" ऐसी सुषुप्ति के सुख की स्मृति होती है, सो नहीं होनी चाहिए। क्योंकि जिस वस्तु का प्रथम ज्ञान हो, उसी की स्मृति होती है, अज्ञात की नहीं। और जागने पर सुषुप्ति के सुख की स्मृति होती है, अतः सुषुप्ति में सुख का ज्ञान होता है। और उस ज्ञान के जनक इन्द्रियादिक सुषुप्ति में नहीं रहते हैं, अतः ज्ञान नित्य है। और ज्ञान को त्यागकर=ज्ञान रहित आत्मा कभी नहीं रहता है। अतः ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। जैसे उष्णता से रहित अग्नि के कभी नहीं रहने से उष्णता अग्नि का स्वरूप है, तैसे ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप है। गुण आगमापायी होता है, उष्णता और ज्ञान आगमापायी नहीं, अतः अग्नि और आत्मा के स्वरूप हैं। जो वस्तु कभी उत्पन्न हो, और कभी नष्ट हो, सो आगमापायी कही जाती है। आगम ( उत्पत्ति ) और अपाय ( विनाश ) अन्तः करण की वृत्ति के होते हैं, स्वरूप ज्ञान के नहीं। और आत्म-स्वरूप ज्ञान विशेष व्यवहार का हेतु नहीं है, किन्तु ज्ञानसहित वृत्ति वा वृत्ति में स्थिर ज्ञान व्यवहार का हेतु है, यह अवच्छेद वाद की रीति है। और आभास वाद में आभास सहित वृत्ति से व्यवहार होता है, आभास द्वारा वा साक्षात् वृत्ति द्वारा आत्मस्वरूप ज्ञान से सब व्यव-

हार सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं । इस रीति से प्रकाशक ज्ञान स्वरूप आत्मा है, अतः चित् है ॥

और आत्मा आनन्द स्वरूप हैं । यदि आत्मा आनन्द स्वरूप नहीं हो, तो विषय सम्बन्ध से स्वरूपानन्द का भान ( ज्ञान ) नहीं होना चाहिए. और होता है । क्योंकि विषय में आनन्द नहीं है, यह वार्ता प्रथम कही गई है । यदि विषय में आनन्द हो, तो जिस विषय से एक को सुख होता है, उसी से अन्य को दुःख होता है, जैसे अग्नि के स्पर्श से अग्नि कीट और सर्प सिंह के स्वरूप देखने से सर्पिनी सिहिनी को आनन्द होता है, और अन्य प्राणी को दुःख होता है, सो नहीं होना चाहिए । और सिद्धान्त में तो अग्निकीट को अग्नि स्पर्श की इच्छा होने पर चञ्चल बुद्धि में स्वरूपानन्द का भान नहीं होता हैं । और अग्नि के सम्बन्ध से क्षणमात्र इच्छा की निवृत्ति होने पर निश्चल बुद्धि में स्वरूपानन्द का भान होता है । अन्य प्राणी को अग्नि स्पर्श की इच्छा नहीं होती है, किन्तु अन्य पदार्थ की इच्छा होती है, और अन्य वस्तु की इच्छा अग्नि सम्बन्ध से दूर नहीं होती, अतः चञ्चल अन्तःकरण में अग्नि के सम्बन्ध से अन्य को आनन्द नहीं होता है ॥

इस सिद्धान्त में यह शंका होती है कि, उक्त रीति से इच्छा रूप अन्तःकरण की वृत्ति का विषय की प्राप्ति से नाश हो जाता है, और वृत्ति के निमित्त के अभाव से अन्य वृत्ति की उत्पत्ति नहीं होती है, और वृत्ति के बिना स्वरूपानन्द का भान होता नहीं है, अतः विषय में ही आनन्द है, कि जिसके दर्शनादि से आनन्द का भान होता है ॥

इस शंका का समाधान है कि, यद्यपि विषय की प्राप्ति से इच्छा वृत्ति का अभाव होता है । और यदि इच्छा रूप वृत्ति रहे, तो भी उसमें आनन्द का प्रकाश नहीं हो सकता । क्योंकि इच्छा रूप वृत्ति राजस होती है । और आनन्द का प्रकाश सात्त्विक वृत्ति में होता है, तथापि वाँछित पदार्थ के मिलने पर उसके स्वरूप को विषय प्रकाश

करने के लिए सात्त्विक अन्तःकरण की वृत्ति होती है। क्योंकि सत्त्वगुण से ज्ञान होता है, यह नियम है। अतः उस सात्त्विक वृत्ति में आनन्द का भान होता है। परन्तु वह ज्ञान रूप वृत्ति बहिर्मुख रहती है। अतः उसके पीछे (पृष्ठ भाग में) स्थित अन्तः करण उपहित चेतन स्वरूप आनन्द का ग्रहण उस वृत्ति से नहीं होता है किन्तु विषय उपहित चेतन स्वरूप आनन्द का उस वृत्ति से भान होता है, और सो विषय उपहित आत्मा से भिन्न नहीं, अतः आत्मानन्द का ही विषय में भान कहा जाता है, और उस ज्ञान रूप वृत्ति में विषय के साथ नेत्रादि का सम्बन्ध ही निमित्त (कारण) है॥ अथवा वस्तु के ज्ञान रूप वृत्ति से अन्य अन्तर्मुख वृत्ति होती है, उसमें अन्तःकरण उपहित चेतन स्वरूप आनन्द का ही भान होता है, यह उत्तम सिद्धान्त है। उस अन्तर्मुख वृत्ति की उत्पत्ति में इच्छादिकों का अभाव ही निमित्त है। जैसे इच्छादि से रहित एकान्त निवासी उदासीन पुरुष को बहिर्मुख कोई वृत्ति नहीं होती है, और आनन्द का भान होता है, तहाँ इच्छादि के अभाव रूप निमित्त से अन्तर्मुख वृत्ति होती है, सो आनन्द को ग्रहण करने वाली होती है, तैसे ही वाँछित विषय के लाभ से इच्छादि के अभाव होने पर ज्ञान से अनन्तर अन्तर्मुख वृत्ति होती है, तिससे अन्तःकरण उपहित आनन्द का ही ग्रहण होता है। परन्तु वह स्वरूपानन्द का ग्रहण और विषय का ज्ञान अत्यन्त अव्यवहित होता है, अतः ज्ञाता को ऐसा भ्रम होता है कि "मैंने विषय में आनन्द का अनुभव किया है" प्रथम पक्ष से यह पक्ष उत्तम है। क्योंकि विषय के ज्ञान रूप वृत्ति से अन्तः करण उपहित चेतन रूप आनन्द का ग्रहण (भान) नहीं हो सकता, किन्तु उस वृत्ति से विषय उपहित आनन्द का भान हो सकता है, तहाँ मार्ग में जो वृक्षादि के ज्ञान रूप वृत्ति होती हैं, सो भी सात्त्विक होती हैं, उनसे भी वृक्षादि उपहित चेतन स्वरूप आनन्द का भान होना चाहिए। अर्थात् सब ज्ञान से ज्ञेय उपहित चेतना-

त्मक आनन्द का भान होना चाहिए । और अनात्म वस्तु के ज्ञान रूप बहिर्मुख वृत्ति से ज्ञेय उपहित चेतन स्वरूप आनन्द का ग्रहण ( भान ) होता नहीं है, अतः विषय के सम्बन्ध से उक्त रीति से आत्म स्वरूप आनन्द का भान होता है, सो आत्मा यदि आनन्द स्वरूप नहीं हो, तो विषय सम्बन्ध से आनन्द का भान नहीं हो सकता, अतः आत्मा आनन्द स्वरूप है ॥

और आत्मा सम्बन्धी वस्तु में प्रेम होता है, तहाँ सन्निहित में अधिक प्रेम होता है । अर्थात् बाहर २ के पदार्थों की अपेक्षा अन्तर २ के पदार्थों में अधिक प्रीति होती है । जैसे कि परम्परा से आत्मसम्बन्धी जो पुत्र का मित्र उसमें प्रीति होती है, पुत्र के मित्र की अपेक्षा पुत्र में अधिक प्रीति होती है । और पुत्र से भी स्थूल सूक्ष्म शरीर में अधिक प्रीति रहती है । शरीरों में भी स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म में अधिक प्रीति होती है, क्योंकि पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तर अन्तरात्मा के समीप हैं, आत्मा का आभास सूक्ष्म शरीर में रहता है, अन्य में नहीं । अतः आभास द्वारा आत्मा का सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध रहता है, अन्य से नहीं । स्थूल देह से सूक्ष्म का सम्बन्ध रहता है । अतः स्थूल के साथ सूक्ष्म द्वारा आत्मा का सम्बन्ध रहता है । और पुत्र से स्थूल शरीर द्वारा सम्बन्ज रहता है । और पुत्र के मित्र से पुत्र द्वारा सम्बन्ध होता है ॥ इस रीति से उत्तरोत्तर आत्म समीपी में अधिक प्रीति होती है । तहाँ जिस आत्मा के सम्बंध से अनात्मा में प्रीति होती है, तिस आत्मा में ही मुख्य प्रीति रहती है, अन्य में नहीं । जैसे पुत्र के सम्बंध से जो पुत्र के मित्र में प्रीति होती है, सो पुत्र में ही होती है, पुत्र के मित्र में नहीं, तैसे आत्मा के अधिक समीपी में जो अधिक प्रीति होती है, सो आत्मा में ही सबकी प्रीति है, "अर्थात् आत्म प्रीति मूलक ही अनात्म प्रीति होती है, स्वतः नहीं" ॥ सो मुख्य प्रीति सुख में और दुःख के अभाव में होती है, अन्य में नहीं, अन्य पदार्थों में जो प्रीति होती है, सो आनन्द

और दुःख के अभाव के ही लिए होती है, अतः आनन्द और दुःख के अभाव से अन्य में मुख्य प्रीति नहीं होने से सबके प्रीति का विषय आत्मा ही आनन्द स्वरूप है, और दुःख का अभाव भी आत्म स्वरूप हैं, क्योंकि कल्पित का अभाव अधिष्ठान स्वरूप होता है, अतः जैसे रज्जु सर्प का अभाव रज्जु स्वरूप होता है, तैसे आत्मा में कल्पित दुःख का अभाव भी आत्म स्वरूप होता है। और आत्मा उक्त रीति से आनन्द स्वरूप है ॥

न्यायमत में आनन्द को आत्मा का गुण माना गया है। सो समाचीन नहीं, क्योंकि यदि आनन्द रूप गुण को नित्य मानै, तो अगमापायी नहीं होने से आत्मा का स्वरूप ही आनन्द सिद्ध होगा, और सो नित्य आनन्द न्याय मत में मान्य भी नहीं हैं। और यदि अनित्य कहैं, तो अनुकूल विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से आनन्द की उत्पत्ति माननी होगी, अतः सुषुप्ति में आनन्द का भान नहीं होना चाहिए, क्योंकि सुषुप्ति में विषय और इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं रहता है। अतः आत्मा का आनन्द गुण नहीं है, किन्तु आत्मा आनन्द स्वरूप है ॥

इस रीति से आत्मा सत् चित् आनन्द स्वरूप है। सो सच्चिदानन्द परस्पर भिन्न नहीं है, किन्तु एक ही है, यदि सत् आदि आत्मा के गुण हों, तो परस्पर भिन्न भी हों। परन्तु आत्मस्वरूप हैं। अतः भिन्न नहीं, क्योंकि एक आत्मा निवृत्ति ( नाश ) रहित होने से सत् कहा जाता है। और जड़ से विलक्षण प्रकाश स्वरूप होने से चित् कहा जाता है, और दुःख से विलक्षण मुख्य प्रीति का विषय होने से आनन्द कहा जाता है। जैसे उष्ण प्रकाश स्वरूप एक अग्नि है, तैसे सच्चिदानन्द स्वरूप एक आत्मा हैं। और सच्चिदानन्द स्वरूप ही शास्त्र में ब्रह्म कहा गया है, अतः ब्रह्म स्वरूप आत्मा है। और ब्रह्म, व्यापक का नाम है। जिस का देश से अन्त नहीं हो ( किसी देश में अभाव नहीं हो ) सो

व्यापक कहा जाता है, यदि आत्मा व्यापक नहीं होगा, तो देश से अन्त वाला होगा ।

और जिसका देश से अन्त होता है, उसका काल से भी अन्त होता है ( उसका नाश होता है ) यह नियम है । अतःकाल से अन्त-वाला आत्मा अनित्य सिद्ध होगा । इसलिये ब्रह्म से भिन्न आत्मा नहीं । और यदि आत्मा से भिन्न ब्रह्म हो, तो अनात्मा होने से घटादि के समान ब्रह्म जड़ होगा, अतः ब्रह्म भी आत्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु सर्वात्मा ही ब्रह्म है । क्योंकि एक ही चेतन को सब प्रपञ्च और माया के अधिष्ठान होने से ब्रह्म कहते हैं । अविद्या और व्यष्टि देहादि के अधिष्ठान होने से आत्मा कहते हैं । "तत्त्वमसि" वाक्य गत तत्पद के लक्ष्य होने से भी ब्रह्म कहते है, त्वंपद के लक्ष्य को आत्मा कहते हैं, तहाँ ईश्वर साक्षी तत्पद का लक्ष्य है । जीव साक्षी त्वंपद का लक्ष्य है । व्यष्टि संघात उपहित चेतन जीव साक्षी है, समष्टि संघात उपहित चेतन ईश्वर साक्षी है ॥

यद्यपि जीव और ईश्वर की एकता नहीं बन सकती, तथापि जीव साक्षी और ईश्वर साक्षी का उपाधि के भेद से भेद भासता है, दोनों साक्षी स्वरूप से एक ही हैं । मठ में स्थिर घटाऽऽकाश और कठाकाश का जैसे उपाधि के भेद बिना भेद नहीं है, तैसे ही आत्मा और ब्रह्म का उपाधि के भेद के बिना भेद नहीं है, अतः वास्तव स्वरूप एक ही है, सो ब्रह्म स्वरूप आत्मा अजन्मा (जन्म रहित) है, यदि आत्मा का जन्म मानै, तो अनित्य सिद्ध होगा, सो अनित्य आत्मा परलोकवादी आस्तिक को इष्ट ( मान्य ) नहीं, क्योंकि यदि आत्मा उत्पत्ति नाश वाला हो, तो प्रथम जन्म काल में पूर्व कर्म के विना ही सुखादि का भोग सिद्ध होगा । और वर्तमान कृत कर्मों का भोग के बिना ही नाश होगा (इसको कृतनाश, अकृताभ्यागम कहते हैं ) । अतः आत्मा को कर्ता भोक्ता मानैं तो भी जन्म मरण रहित ही मानना उचित होगा ॥

और यदि आत्मा का जन्म माना जाय, तो हेतु के बिना तो किसी का जन्म होता नहीं, अतः किसी हेतु से ही जन्म कहना होगा, और सो कहना बनता नहीं। क्योंकि आत्मा से भिन्न को ही आत्मा का हेतु कहना होगा, और आत्मा से भिन्न सब आत्मा में कल्पित हैं। अतः आत्मा का हेतु नहीं हो सकते हैं। जैसे रज्जु में कल्पित सर्प रज्जु का हेतु नहीं, तैसे आत्मा में कल्पित वस्तु आत्मा का हेतु हो नहीं सकती है ॥

जैसे एक रज्जु में नाना पुरुष को दण्ड, सर्प, माला पृथिवी रेखा, जलधारा आदि की भ्रान्ति होती है, उस भ्रान्ति में दो अंश रहते (भासते) हैं। तहाँ इदम् अंश सामान्य रहता है, दण्ड, सर्पादिक विशेष अंश रहते हैं, और सामान्य रूप इदम् अंश, सब विशेष अंशों में व्यापक रहता है, यह दण्ड है, यह सर्प है, इत्यादि, इस रीति से दण्ड सर्पादि विशेष सब अंश में इदम् अंश व्यापक रहता है, सो व्यापक इदम् अंश रज्जु का स्वरूप रहता है। सामान्य इदम् अंश के ज्ञान को ही भ्रान्ति ज्ञान का हेतु कहा जाता है, और सो सामान्य इदम् अंश सत्य रहता है, क्योंकि रज्जु के ज्ञान होने पर दण्ड सर्पादि की निवृत्ति होती है, परन्तु इदम् अंश की स्थिति प्रतीति बनी रहती है। जैसे भ्रान्ति काल में "यह दण्ड है, यह सर्प है" इस प्रकार इदम् अंश की प्रतीति दण्ड सर्पादि के साथ होती है, तैसे भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर भी "यह रज्जु है" इस रीति से रज्जु के साथ इदम् अंश की प्रतीति होती है। यदि इदम् अंश भी मिथ्या हो, तो सर्पादि के समान भ्रम की निवृत्ति के बाद उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। और प्रतीति होती है, अतः मिथ्या सर्पादि में व्यापक इदम् अंश सत्य सिद्ध होता है। सो अधिष्ठान रज्जु रूप रहता है। और परस्पर व्यभिचारी दण्ड सर्पादि कल्पित रहते हैं ॥

तैसे सब पदार्थों में पाँच अंश हैं, १ नाम २ रूप ३ अस्ति ४ भाति ५ प्रिय, ये अंशों के नाम हैं, तहाँ "घट" यह दो अक्षर का

'नाम' १ है, गोल रूप=आकार २ है, "घट, है" यह "अस्ति" ३ है, और घट "भासता है, यह भाति ४ है, और "घट प्रिय है" यह प्रिय ५ है ( आनन्द है ) ( और सर्पादि भी किसी के प्रिय हैं, ऐसी कोई वस्तु नहीं जो किसी का प्रिय नहीं हो ) । इस रीति से सब पदार्थ में पाँच अंश हैं, तीन में अस्ति, भाति, प्रिय रूप तीन अंश सब पदार्थों में व्यापक हैं, और नाम, रूप दो व्यभिचारी ( अव्यापक ) है। क्योंकि घट के नाम और रूप पदादि में नहीं हैं। अतः सब पदार्थों के नाम रूप व्यभिचारी हैं। और अस्ति, भाति, प्रिय रूप सब पदार्थ में अनुगत=व्यापक हैं। अतः जैसे दण्ड सर्पादि में अनुगत इदम् अंश सत्य और अधिष्ठान है। तैसे सब पदार्थों में अनुगत, अस्ति, भाति और प्रिय स्वरूप सत्य हैं, और अधिष्ठान हैं। और सर्प दण्डादि के समान व्यभिचारी नाम रूप कल्पित हैं। और अस्ति, भाति, प्रिय, ये सच्चिदानन्द रूप हैं, अतः आत्म स्वरूप है। इस रीति से सच्चिदानन्द रूप आत्मा में सब नाम रूपात्मक प्रपञ्च कल्पित है, सो कल्पित कोई पदार्थ आत्मा के जन्म का हेतु नहीं हो सकता, अतः आत्मा अजन्मा है, जिस वस्तु का जन्म होता है, उसी के सत्ता ( देश काल में स्थिति ) प्रकटता, वृद्धि, परिणाम (अवस्थान्तर की प्राप्ति ) अपक्षय ( ह्रास ) और विनाश रूप पाँच विकार अन्य भी होते हैं, आत्मा अजन्मा है, अतः अन्य पाँच विकार भी नहीं होते हैं। इस रीति से अजन्मा आत्मा जन्मादि षट् 'छह' विकारों से रहित है ॥

और आत्मा असङ्ग ( सम्बन्ध रहित ) है। सो सम्बन्ध, सजातीय विजातिय, और स्वगत पदार्थों से होता है। घट का घटान्तर से सजातीय सम्बन्ध होता है, पट से विजातिय होता है। पट का तन्तु रूप स्वगत ( अवयव ) से स्वगत सम्बन्ध होता है। आत्मा के एक होने से आत्मा का सजातीय सम्बन्ध नहीं। आत्मा से विजातीय अनात्मा के आत्मा

में कल्पित होने से, मृग जल तुल्य असत्य अनात्मा के साथ विजातीय सम्बन्ध सत्यात्मा का नहीं होता, है, जैसे मृग कल्पित जल से भूमि का सम्बन्ध नहीं होता है, अन्यथा भूमि को उससे गिली होनी चाहिए। तैसे आत्मा में कल्पित अनात्मा से आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता है। और यदि आत्मा के अवयव (स्वगत) हों, तो आत्मा का स्वगत सम्बन्ध हों, और आत्मा नित्य है, अतः निरवयव है, उसका स्वगत सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इस रीति से सजातीय आदि सम्बन्ध के अभाव से आत्मा असङ्ग है। हे शिष्य! उक्त रीति से सच्चिदानन्द 'ब्रह्मस्वरूप' जन्मादि विकार रहित, असङ्ग आत्मा है। "सो तूँ है" यह प्रथम प्रश्न का उत्तर अर्ध दोहे से आचार्य ने कहा है॥

"जगत् का कर्ता कौन है" इस अद्वितीय प्रश्न का उत्तर अर्ध दोहे से कहते हैं कि—

॥ दोहा ॥

**विभु चेतन माया करै, जग को उत्पति भङ्ग ॥ १७ ॥**

**टीका**=विभु (व्यापक) चेतन के आश्रित रहने वाली और उस चेतन को विषय (आच्छादन) करने वाली माया (सत् असत् से विलक्षण अद्भुत शक्ति रूप अज्ञान) से जगत् की उत्पत्ति और भङ्ग (नाश) होता है। उत्पत्ति और भङ्ग के कथन से थिति का अर्थ से ग्रहण होता है। अतः यह अर्थ होता है कि—माया युक्त चेतन को ईश्वर कहते हैं, सो ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, पालन और नाश का हेतु है। इस कथन से "जगत् का कोई कर्ता है, या आप से होता है" इस प्रश्न का उत्तर कहा गया है, और "जगत् का कर्ता कोई जीव है, या ईश्वर है" इसका भी उत्तर कहा गया है कि जगत् का कर्ता ईश्वर है, आप ही नहीं होता है। यदि कर्ता के बिना जगत्

उत्पन्न हो, तो कुलाल के बिना घट होना चाहिये। अतः जगत् का कोई कर्ता है, और सो कर्ता सर्वज्ञ है, क्योंकि जो जिस कार्य का कर्ता होता है, सो उस कार्य को और उसके उपादान को जानकर कार्य को रचता है। अतः जगत् का कर्ता भी जगत् को और जगत् के उपादान को जानकर सृष्टि करता है। इस रीति से जगत् को और जगत् के उपादान को जानने वाला जगत् का कर्ता सर्वज्ञ है॥

और वह कर्ता सर्वशक्तिमान् है, क्योंकि अल्प शक्तिवाले जीवों से इस जगत् की रचना मन से भी चिन्तन योग्य नहीं है, अतः अद्भुत जगत् का कर्ता अद्भुत शक्तिवाला है। इस रीति से जगत् का कर्ता सर्वशक्तिमान् है॥ और स्वतन्त्र है, क्योंकि न्यून शक्ति वाला पराधीन होता है, सर्वशक्तिवाला नहीं, अतः स्वतन्त्र है॥

इस उक्त रीति से जगत् का कर्ता, सर्वज्ञ, शक्तिमान् स्वतन्त्र है। उसी को ईश्वर कहते हैं॥ और अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् पराधीन को जीव कहते हैं। यद्यपि जीव में भी परमार्थ से अल्पज्ञतादिक नहीं हैं, तथापि अविद्याकृत मिथ्या अल्पज्ञतादिक जीव में प्रतीत होते हैं। अतः अल्पज्ञ को जीव कहते हैं। अविद्याकृत अल्पज्ञतादिकों की भ्रान्ति=प्रतीति ही जीव में जीवता है। और ईश्वर में वह अल्पज्ञतादि की भ्रान्ति नहीं, किन्तु मायाकृत सर्वज्ञतादि ईश्वर में रहते हैं। इस अर्थ को आगे विस्तार से प्रतिपादन करेगें। इस रीति से जगत् का कर्ता जीव नहीं, किन्तु ईश्वर है॥ सो ईश्वर एकदेशी नहीं, किन्तु व्यापक है। यदि एकदेशी मानें, तो जिसका देश से अन्त होता है, उसका काल से भी अन्त होता है। अतः अनित्य होगा। और अनित्य होने पर कर्ता से जन्य होगा, क्योंकि अनित्य वस्तु कर्ता से जन्य होती है। अतः ईश्वर का भी कर्ता मानना होगा। सो ईश्वर का कर्ता मानना बन नहीं सकता। क्योंकि आप तो अपना कर्ता हो नहीं सकता। यदि अपना कर्ता ईश्वर आप हैं।

ऐसा माना जाय, तो आत्माश्रय दोष होगा, क्योंकि जहाँ आपही ( एकही ) क्रिया का कर्ता ( आश्रय ) और आपही क्रिया का कर्म ( विषय रूप कार्य ) हो, तहाँ आत्माश्रय दोष होता है। जैसे कुलाल क्रिया का कर्ता है और घट कर्म है, तैसे सर्वत्र क्रिया कर्ता और कर्म भिन्न होते हैं। एक नहीं। अतः ईश्वर आप अपना कर्ता हो तो आत्माश्रय दोष है। कर्म कार्य का नाम है। कार्य के विरोधी को दोष कहते है। कार्य के विरोधी होने से आत्माश्रय दोष है ॥

अतः ईश्वर को अनित्य मानने पर ईश्वर का अन्य कर्ता मानना होगा। सो अन्य भी कर्ता प्रथम कर्ता के समान कर्ता जन्य ही कहना होगा। और वह दूसरे कर्ता का कर्ता भी प्रथम के समान द्वितीय कर्ता से भिन्न कहना होगा, तहाँ प्रथम ईश्वर का द्वितीय कर्ता का कर्ता मानै, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। अतः द्वितीय का तृतीय अन्य कर्ता मानना होगा। और उस तृतीय का कर्ता यदि द्वितीय को मानै, तवतो अन्योन्याश्रय दोष होगा, और प्रथक को मानैं, तो चक्रिका दोष होगा। जैसे चक्र का भ्रमण हो, तैसे प्रथम कर्ता द्वितीय जन्य, और द्वितीय कर्ता तृतीय जन्य, और तृतीय प्रथम जन्य, सो प्रथम फिर द्वितीय जन्य होगें। इस रीति से कार्य कारण भाव का भ्रमण सिद्ध होगा, और सबको परस्पर की अपेक्षा से चक्रिका में किसी की सिद्धि नहीं होगी। अन्योन्याश्रय में दो की परस्पर अपेक्षा होती है। एक की सिद्धि के बिना अन्य की सिद्धि नहीं होती है ॥

अतः जैसे कुलाल अपना कर्ता आप नहीं, किन्तु उसका पिता कर्ता होता है, तैसे प्रथम ईश्वर का अन्य कर्ता हागा। और कुलाल का पिता अपने पुत्र से नहीं उत्पन्न होता है, किन्तु अन्य पिता से उत्पन्न होता है। तैसे द्वितीय कर्ता प्रथम कर्ता ( ईश्वर ) से उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः अन्य कर्ता से उत्पत्ति कहनी होगी। और कुलाल का पितामह, कुलाल और उसके पिता से नहीं उत्पन्न होता है, किन्तु चतुर्थ कुलाल के

प्रपितामह से उत्पन्न होता है। तैसे तृतीय कर्ता भी प्रथम और द्वितीय कर्ता से नहीं उत्पन्न हो सकता, अतः अन्य चतुर्थ कर्ता मानना होगा । उस चतुर्थ का पञ्चम कर्ता मानना होगा, अतः कर्ता का प्रवाह ( धारा ) रूप अनवस्था दोष होगा । और यदि कर्ता की धारा को मानै, तो कौन कर्ता जगत् को रचता है, यह निर्णय नहीं हो सकेगा। और धारागत किसी एक को जगत् का कर्ता मानने में कोई युक्ति नहीं है। और उस युक्ति के अभाव को विनिगमनाविरह कहते हैं। और यदि धारा की कहीं विश्रान्ति (अन्त) मानी जाय, तो जिस कर्ता में धारा का अन्त माना जायगा। सोई जगत् का कर्ता मानने योग्य होगा, प्रथम के सब निष्फल होगें, इसी को प्राग्लोप, कहते हैं। पहले के अभाव का प्राग्लोप नाम है। इस रीति से ईश्वर का देश से अन्त मानने पर, उत्पत्ति भी माननी होगी। और उत्पत्ति मानने पर आत्माश्रयादि दोष होगें, अतः देश से अन्त रहित व्यापक और नित्य ईश्वर है ॥

तिस व्यापक ईश्वर और जीव का स्वरूप से भेद नहीं है, किन्तु उपाधि से भेद है। क्योंकि अवच्छेद वाद में माया विशिष्ट चेतन को ईश्वर कहते हैं। और अविद्या विशिष्ट चेतन को जीव कहते हैं। आभास वाद में, माया आभास विशिष्ट चेतन को ईश्वर कहते हैं। और आभास सहित अविद्या विशिष्ट चेतन को जीव कहते हैं। आभास वाद में आभास सहित अविद्या और माया का भेद है, चेतन का नहीं तैसे अवच्छेद वाद में भी अविद्या और माया का भेद है, स्वरूप से चेतन का नहीं और ( प्रतिबिम्ब वाद में ) अज्ञान में चेतन का प्रतिबिम्ब जीव है। बिम्ब ईश्वर है, इस पक्ष में भी चेतन का स्वरूप से भेद नहीं है। किन्तु एक ही चेतन में जीवत्व, और ईश्वरत्व आरोपित है, यह वार्ता आगे कहेगें। इस रीति से जगत् का कर्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् स्वतन्त्र ईश्वर है, सो व्यापक है। उसका और

जीव का विशेषण मात्र में भेद है, स्वरूप में नहीं, यह द्वितोय प्रश्न का उत्तर कहा ॥

"मोक्ष का साधन ज्ञान है, अथवा कर्म है अथवा उपसना है, या दोहैं इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं कि—

॥ दोहा ॥

हेतु मोक्ष को ज्ञान इक, नहीं कर्म नहिं ध्यान।
रज्जुसर्प तबही नशै, होय रज्जु को ज्ञान ॥१८॥

**टीका**=मुक्ति का हेतु कर्म और ध्यान=उपासना नहीं है, किन्तु ज्ञान ही हेतु है। क्योंकि यदि आत्मा में बन्ध सत्य हो, तो उसकी निवृत्ति रूप मोक्ष ज्ञान से नहीं हो, किन्तु कर्म वा उपासना से होवै। परन्तु आत्मा में बन्ध सत्य नहीं है, किन्तु रज्जुसर्प तुल्य मिथ्या है। उस मिथ्या बन्ध की निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान से ही हो सकती है, कर्म वा उपासना से नहीं। जैसे रज्जु का सर्प किसी क्रिया से निवृत्त नहीं होता है, केवल रज्जु ज्ञान से निवृत्त होता है। तैसे आत्मा के अज्ञान से प्रतीत होने वाला जो बन्ध उसकी प्रतीति और अज्ञान की निवृत्ति आत्म ज्ञान से ही होती है॥

और यदि कर्म का फल मोक्ष होगा, तो अनित्य ही होगा, क्योंकि कृषि आदि कर्म के फल जो अन्नादि, और यज्ञादि कर्म के फल जो स्वर्गादि होते हैं, सो नियम से (अवश्य) अनित्य होते हैं। यदि मोक्ष कों भी कर्म का फल माना जाय, तो वह अनित्य ही सिद्ध होगा। अतः कर्म का फल मोक्ष नहीं॥ तैसे उपासना का फल रूप मोक्ष को मानैं, तो भी मोक्ष अनित्य होगा। क्योंकि उपासना भी मानस कर्म ही का नाम है, और कर्म का फल अनित्य होता है, अतः उपासना रूप कर्म का फल भी मोक्ष नहीं॥

और कर्म कर्ता को कर्म से पाँच प्रकार का उपयोग ( फल ) होता है + १ पदार्थ की उत्पत्ति२ पदार्थ का नाश ३ पदार्थ की प्राप्ति२ ४ पदार्थ का विकार ५ और संस्कार, ये कर्म के पाँच फल होते हैं ।। अन्यरूपता प्राप्ति विकार कहाता है । और मल की निवृत्ति तथा गुण की प्राप्ति रूप दो प्रकार का संस्कार होता है । मुमुक्षु को कोई उपयोग का सम्भव नहीं । अतः मुमुक्षु को ज्ञान के साधन श्रवणादि में ही प्रवृत्ति होना चाहिये, कर्म में नहीं । ( क्योंकि कर्म का फल उत्कट मुमुक्षा जिज्ञासा मुमुक्ष को सिद्ध रहता है ) और जैसे कुलाल के कर्म से घट की उत्पत्ति रूप उपयोग कुलाल को होता है, तैसे कर्म से मोक्ष की उत्पत्ति रूप उपयोग मुमुक्षु को नहीं हो सकता है । क्योंकि अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति मोक्ष है, सो अनर्थ की निवृत्ति आत्मा में नित्य सिद्ध है, जैसे कि रज्जु में सर्प की निवृत्ति सिद्ध हैं । और आत्मा परमानन्द स्वरूप है, अतः परमानन्द की प्राप्ति भी नित्य सिद्ध है । इस रीति से स्वभाव सिद्ध मोक्ष की कर्म से उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रथम से असिद्ध वस्तु की कर्म से उत्पत्ति होती है, सिद्ध की नहीं ।।

और वेदान्त का श्रवण भी मोक्ष की उत्पत्ति के लिए नहीं कहा गया है, किन्तु "आत्मा नित्यमुक्त है, किञ्चित् मात्र भी आत्मा में कर्तव्य नहीं है" इस वार्ता को जानने के लिए श्रवण किया जाता है । और ऐसा जानने से कर्तव्य की भ्रान्ति दूर होती है । और वेदान्त श्रवण के बाद भी जिनको सत्य कर्तव्य की प्रतीति होती है, उन लोगों ने तत्त्व नहीं समझा[1] है । इसी कारण से नित्य निवृत्त अनर्थ की निवृत्ति और नित्य प्राप्त आनन्द की प्राप्ति को वेदान्त श्रवण का फल

---

१ ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः । नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ।। १ ।। उत्तर गीता अ. १।२३ श्री जावलद. अ. १।२३ ।।

रूप देवगुरु ( सुरेश्वराचार्य ) ने नैष्कर्म्य सिद्धि में कहा है। अतः मोक्ष की उत्पत्ति रूप उपयोग मुमुक्षु को नहीं होता है ॥

और जैसे दण्ड के प्रहार रूप कर्म का घट का नाश रूप फल होता है, तैसे किसी पदार्थ का नाश रूप फल भी मुमुक्षु को नहीं बन सकता। क्योंकि अन्य पदार्थ का नाश तो मुमुक्षु को वांछित नहीं, बन्ध का नाश ही कर्म का फल कहना होगा, सो बन्ध आत्मा में है नहीं, मिथ्या प्रतीत होता है, और उस मिथ्या प्रतीति का नाश कर्म से नहीं हो सकता, आत्मा के यथार्थ ज्ञान से ही मिथ्या प्रतीति का नाश हो सकता है। अतः पदार्थ का नाश रूप फल भी मुमुक्षु को कर्म से नहीं हो सकता है ॥

और जैसे गमन रूप कर्म से ग्राम की प्राप्ति होती है, तैसे कर्म से मोक्ष की प्राप्ति रूप फल नहीं हो सकता है, क्योंकि नित्य मुक्त आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति कहना नहीं बनता है, जिसको बन्ध हो, उसी को मोक्ष की प्राप्ति कहना बनता हैं। और आत्मा में बन्ध है नहीं। अतः मोक्ष की प्राप्ति रूप कर्म का उपयोग मुमुक्षु को नहीं होता है ॥

और पाक रूप कर्म से अन्न का विकार रूप उपयोग पाचक को होता है, तैसे मुमुक्षु को कर्म से विकार रूप उपयोग भी नहीं बन सकता, क्योंकि अन्य कोई विकार तो कहा नहीं जा सकता, यदि आत्मा में प्रथम बन्ध माना जाय, और मोक्ष दशा में चतुर्भुजादि विलक्षण स्वरूप की प्राप्ति मानी जाय, तो अन्य रूप की प्राप्ति रूप विकार मुमुक्षु को कर्म का फल सिद्ध होय। सो अन्य रूपता की प्राप्ति आत्मा में मानी नहीं जाती है। अतः कर्म से विकार रूप उपयोग भी मुमुक्षु को नहीं बन सकता ॥ और जैसे वस्त्र के प्रच्छालन रूप कर्म का फल मल की निवृत्ति रूप संस्कार होता है, तैसे मल की निवृत्ति रूप संस्कार भी कर्म से उपयोग नहीं होता है। क्योंकि अन्य के मल की निवृत्ति तो मुमुक्षु को वाँछित नहीं हैं, आत्मा के मल की निवृत्ति कहनी होगी। सो आत्मा

नित्य शुद्ध है, उसमें मल है नहीं, अतः मल की निवृत्ति रूप संस्कार नहीं हो सकता है। और अन्तःकरण के पाप रूप मल की निवृत्ति रूप फल कर्म से कहा जाय, तो यह वार्ता सत्य है, परन्तु यहाँ शुद्धान्तःकरण वाले मुमुक्षु का विचार कर रहे हैं। उसके अन्तःकरण में पाप नहीं रहता है। अतः पाप की निवृत्ति रूप कर्म का उपयोग मुमुक्षु को नहीं हो सकता है। और यदि अज्ञान को मल कहें, तो सो अज्ञान यद्यपि आत्मा में है, तथापि उसकी निवृत्ति कर्म से नहीं होती है, क्योंकि अज्ञान का विरोधी ज्ञान है, कर्म नहीं। अतः मुमुक्षु को मल की निवृत्ति रूप संस्कार कर्म का फल नहीं बनता है॥ जैसे वस्त्र का कुसुंभ में मज्जन रूप कर्म का रक्त गुण की उत्पत्ति रूप संस्कार फल होता है। तैसे गुण की उत्पत्ति रूप संस्कार मुमुक्षु को कर्म से उपयोग नहीं, क्योंकि अन्य में उस गुण की उत्पत्ति को कहना नहीं बन सकता, आत्मा में ही कहना होगा, सो आत्मा निर्गुण है। उसमें गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः मुमुक्षु को गुण की उत्पत्ति रूप संस्कार भी कर्म का फल नहीं हो सकता। कर्म का पाँच ही प्रकार का फल होता है, अन्य नहीं। सो पाँचो प्रकार का फल मुमुक्षु को नहीं हो सकता। अतः कर्मों को त्याग कर ज्ञान के साधन श्रवणादि में मुमुक्षु प्रवृत्त होय। उपासना भी मानस कर्म ही है, अतः उसके खण्डन में पृथक् युक्ति नहीं कही गई है॥ इस रीति से केवल कर्म अथवा उपासना मोक्ष का हेतु नहीं है। किन्तु केवल ज्ञान मोक्ष का हेतु है॥

और कोई कर्म उपासना सहित ज्ञान को मोक्ष का हेतु मानते हैं। और उसमें, युक्ति रूप दृष्टान्त भी कहते हैं कि—जैसे पक्षी आकाश में एक पक्ष ( पाँख ) से नहीं ऊड़ता है, किन्तु दो पक्ष से ऊड़ता है। तैसे मोक्ष लोक की प्राप्ति एक ज्ञान रूप पक्ष=( साधन ) से नहीं होती है। किन्तु कर्मोपासना रूप एक पक्ष है, और ज्ञान रूप दूसरा पक्ष है। इनसे मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य करता है॥

अथवा जैसे रामेश्वर सेतु के दर्शन से पाप का नाश होता है, सो सेतु का दर्शन भी चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान रूप होता है, और पाप नाश में श्रद्धादि सहित गमनादि नियम की अपेक्षा करता है। अतः श्रद्धादि रहित सेतु के दर्शन से पाप नाश रूप फल नहीं होता है। इस लिये जैसे सेतु का दर्शन फल की उत्पत्ति में श्रद्धादि की अपेक्षा करता है। तैसे ब्रह्मज्ञान भी मोक्ष रूप फल की उत्पत्ति में कर्मोपासना की अपेक्षा करता है ॥

और केवल ज्ञान को मोक्ष का हेतु मानने वाले भी ज्ञान का हेतु कर्मोपासना को मानते ही हैं। क्योंकि शुद्ध और निश्चल अन्तः करण में ज्ञान होता है, और शुभनिष्काम कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होता है, उपासना से निश्चल होता है। इस रीति से अन्तः करण की शुद्धि और निश्चलता द्वारा कर्मोपासना ज्ञान के हेतु माने जाते हैं। तहाँ जैसे कर्मोपासना ज्ञान के हेतु माने जाते हैं, तैसे ज्ञान के फल रूप मोक्ष के हेतु भी मानने योग्य हैं, क्योंकि जैसे जल का सेचन वृक्ष की उत्पत्ति का हेतु होता है, सो वृक्ष के फल की उत्पत्ति का भी हेतु होता है। जहाँ बन के वृक्षों में जल सेचन के बिना फल होता है, तहाँ भी वृक्ष के मूल में नीचे जल का सम्बन्ध रहता है, अतः जल से ही वृक्ष में फल होता है। तैसे कर्मोपासना ज्ञान की उत्पत्ति का हेतु हैं। और ज्ञान के फल रूप मोक्ष का भी हेतु हैं। इस रीति से कर्म उपासना और ज्ञान ये तीनों मोक्ष के हेतु हैं, अतः ज्ञानवान् को भी कर्म कर्तव्य है ॥

अथवा कर्म और उपासना ज्ञान की रक्षा के हेतु हैं। क्योंकि यदि ज्ञानवान् कर्मोपासना को त्याग दे, तो उत्पन्न हुआ ज्ञान भी जल के बिना वृक्ष के समान नष्ट हो जायगा। शुद्ध अन्तः करण में ज्ञान होता है, और शुभ कर्म से रक्षित रहता है, क्योंकि यदि ज्ञानी कर्म को त्याग दे तो उसको पाप होगा, और उपासना के त्याग, से अन्तःकरण फिर

चञ्चल हो जायगा, तो उस मलिन और चञ्चल अन्तःकरण में ज्ञान नहीं टीकता है, जैसे सूखी भूमि में उत्पन्न वृक्ष नहीं टीकता=नहीं रहता है। तैसे ज्ञान का अभाव होगा, अतःज्ञान की रक्षा के लिये कर्मादि कर्तव्य है ॥

अथवा जैसे संस्कारों से शुद्ध किये हुए स्थान में वेदपाठी ब्रह्मचारी निवास करता है। और शुद्ध किया हुवा स्थान भी यदि किसी कारण से फिर मलिन हो जाय, तो उस स्थान को वह त्याग देता है। तैसे कर्म के त्याग से मलिन और उपासना के त्याग से चञ्चल अन्तः करण में ज्ञान नहीं रहता है। अतः कर्म और उपासना ज्ञान की रक्षा के हेतु हैं ॥ इस रीति से, कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों को मोक्ष के हेतु माने। अथवा ज्ञान की रक्षा के हेतु कर्म और उपासना को मानै, और केवल ज्ञान को मोक्ष का हेतु मानै। इस दोनों प्रकार से ज्ञानवान् को कर्म उपासना कर्त्तव्य हैं। इस सिद्धान्त को 'सम' समुच्चयवाद कहते हैं ॥

सो वाद समीचीन नहीं है, क्योंकि देह से भिन्न आत्मा को नहीं मानने वालों से पारलौकिक कर्म नहीं हो सकता है, जन्मान्तर के भोग के लिए वह कर्म किया जाता है। और देह का अग्नि में दाहादि होता हैं, उससे जन्मान्तर का भोग हो नहीं सकता। अतः शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञान कर्म का हेतु है, सो शरीर से भिन्न भी आत्मा का कर्ता भोक्ता रूप से ज्ञान कर्म का हेतु होता है। क्योंकि अपने को पुण्य पाप का कर्ता और कर्म फल का भोक्ता मानने ही वाला कर्म करता है। और ज्ञानवान् को कर्ता भोक्ता आत्मा का ज्ञान नहीं रहता है। अर्थात् कर्मी समझता है कि "मैं पुण्य पाप कर्ता हूँ, और इसका फल मुझे मिलेगा"। और ज्ञानी समझता है कि "पुण्यपाप और सुखादि से रहित असंग आत्मा ब्रह्मस्वरूप है"। ऐसा ज्ञान वेदान्त वाक्यादि से मुमुक्षु को होता है, सो ज्ञान कर्म का हेतु नहीं होता

है । उलटा कर्म का विरोधी होता है, अतः ज्ञानवान् से कर्म हो नहीं सकता है ।।

और कर्ता, कर्म तथा फल, का सत्य भेद ज्ञान कर्म का हेतु होता है, और ज्ञानवान् को आत्मा से भिन्न सत्य कर्ता, कर्म और फल की प्रतीति होती नहीं है, कर्ता आदि सब आत्म स्वरूप ही प्रतीत होते हैं, इस कारण से भी ज्ञानवान् से कर्म नहीं होता है ।। भाष्यकार ने बहुत प्रकार से ज्ञानी के कर्म के अभाव का प्रतिपादन किया है । कर्म और ज्ञान का फल द्वारा भी विरोध है, इस कारण से भी ज्ञान कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता है, क्योंकि कर्म का फल अनित्य संसार है । और ज्ञान का फल नित्य मोक्ष है ।।

और आत्मा में जाति, आश्रम, अवस्था का अध्यास कर्म का हेतु है, क्योंकि जाति आश्रम अवस्था के योग्य भिन्न भिन्न कर्म कहे गये हैं । अतः जाति आदि का अध्यास कर्म का हेतु है, यद्यपि जाति आश्रमादि देह के धर्म हैं, और देह में आत्म बुद्धिरहित कर्मी देह से भिन्न कर्ता भोक्ता आत्मा को जानता है, यह वार्ता प्रथम कही गई है, अतः जाति आश्रमादि की आत्मा में प्रतीति कर्मी को नहीं हो सकती । तथापि देह से भिन्न आत्मा का कर्मी को अपरोक्ष ज्ञान नहीं रहता है, किन्तु शास्त्र अनुमान से परोक्ष ज्ञान रहता है, और देह में आत्मता का अपरोक्ष ज्ञान रहता है । यदि देह से भिन्न आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान हो, तो देह में अपरोक्ष आत्मता के ज्ञान का विरोधी हो । और परोक्ष ज्ञान का अपरोक्ष ज्ञान से विरोध नहीं, अतः देह से भिन्न कर्ता आत्मा का ज्ञान, और देह में आत्मता ज्ञान, दोनों एक को होता है ।।

जैसे मूर्ति में शास्त्र से ईश्वरता का ज्ञान परोक्ष होता है, और पाषाण बुद्धि अपरोक्ष होती है, उन को विरोध नहीं, दोनों ज्ञान एक को होते हैं ।। और रज्जु में जिसको अपरोक्ष सर्प से भेद का ज्ञान हो,

उसको अपरोक्ष सर्प की भ्रान्ति दूर होती है। अतः यह नियम सिद्ध हुआ कि—अपरोक्ष भ्रान्ति का अपरोक्ष सत्य ज्ञान से विरोध है, परोक्ष से नहीं। अतःदेह से भिन्न आत्मा का परोक्ष ज्ञान और देह में अपरोक्ष आत्मता का ज्ञान एक को होता है, सो दोनों ज्ञान कर्म के हेतु होते हैं। देह से भिन्न भी कर्ता रूप से आत्मा का ज्ञान कर्म का हेतु है, सो कर्ता रूप से आत्मा का ज्ञान भ्रान्ति रूप होता है, और विद्वान् (ज्ञानी) को भ्रान्ति नहीं होती है। अतः ज्ञानी को कर्म का अधिकार नहीं ॥

और देह में अपरोक्ष आत्म बुद्धि होने पर, देह के धर्म जाति आश्रम अवस्था भी आत्मा में प्रतीत होते हैं। और विद्वान् को देह में आत्म बुद्धि नहीं होती है, किन्तु ब्रह्म रूप से आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होता है। अतः जाति आश्रमादि की भ्रान्ति के अभाव से भी विद्वान् को कर्म का अधिकार नहीं ॥

और उपासना भी "मैं उपासक हूं, देव उपास्य हैं" इस भेद बुद्धि से होती है, और विद्वान् को उपास्यउपासकभाव 'सत्य" नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि—"मेरा देहादि संघात, और देवका संघात स्वप्न के समान कल्पित हैं, और चेतन एक है" यह विद्वान् का निश्चय है। अतः ज्ञान का उपासना से विरोध है ॥ और पक्षी के ऊडने (गमन) का दृष्टान्त भी युक्त नहीं, क्योंकि पक्षी के दोनों पक्ष एक काल में रहते हैं, उनका परस्पर विरोध नहीं। और ज्ञान का तो कर्म उपासना से विरोध है, एक काल में साथ नहीं रह सकते ॥ और सेतु के ज्ञान का दृष्टान्त भी युक्त नहीं। क्योंकि सेतु का दर्शन दृष्ट (प्रत्यक्ष) फल का हेतु नहीं, किन्तु अदृष्ट (परोक्ष) फल का हेतु होता है, क्योंकि भोजन से तृप्ति के समान सेतु दर्शन से प्रत्यक्ष फल नहीं होता है। किन्तु पाप का नाश

रूप परोक्ष फल शास्त्र से जाना जाता है ।। अतः जैसे यज्ञादि कर्म स्वर्गादि रूप अदृष्ट फल के हेतु हैं, तैसे सेतु का दर्शन भी पाप के नाशरूप अदृष्ट फल का हेतु है । और जो अदृष्ट फल का हेतु होता है, सो शास्त्र में वर्णित सहायक सहित ही फल का हेतु होता है, केवल नहीं । अतः श्रद्धानियमादि सहित सेतु का दर्शन पाप नाशरूप फल का हेतु होता है, श्रद्धादि रहित नहीं । क्योंकि सेतु के दर्शन से प्रत्यक्ष तो कोई फल प्रतीत होता नहीं है, केवल शास्त्र से जाना जाता है, और श्रद्धादि सहित सेतु के दर्शन से ही शास्त्रफल का बोध कराता है । केवल सेतु के दर्शन से फल की उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं है, अतः सेतु का दर्शन फल की उत्पत्ति में श्रद्धानियमादि की अपेक्षा करता है । और ब्रह्म विद्या अपने फल की उत्पत्ति में कर्म उपासना की अपेक्षा नहीं करती है, क्योंकि ब्रह्मविद्या का फल भी यदि स्वर्ग के समान लोक विशेष रूप अदृष्ट हो, और सो भी केवल ब्रह्मविद्या से प्राप्ति योग्य शास्त्र से नहीं कहा गया हो । किन्तु कर्म उपासना सहित विद्या से फल का बोधन शास्त्र कराता हो, तो ब्रह्मविद्या भी सेतु के दर्शन के समान फल की उत्पत्ति में कर्मोपासना की अपेक्षा करै, सो ब्रह्मविद्या का फलरूप मोक्ष, स्वर्ग तुल्य लोक विशेषरूप अदृष्ट तो है नहीं, किन्तु मोक्ष नित्य प्राप्त है, और भ्रान्ति से बन्ध प्रतीत होता है, और उस भ्रान्ति की निवृत्ति ही ब्रह्म विद्या का फल है । सो भ्रान्ति की निवृत्ति ब्रह्मविद्या से हमारे ( ब्रह्मवेत्त ज्ञानी ) को प्रत्यक्ष है, और रज्जुज्ञान से सर्प भ्रान्ति की निवृत्ति सबको प्रत्यक्ष है । अतः अधिष्ठान ज्ञान का भ्रान्ति की निवृत्ति दृष्ट फल होता हैं ।। दृष्ट फल की उत्पत्ति-सिद्धि जितनी सामग्री से प्रत्यक्ष प्रतीत होती है, सो सामग्री दृष्ट फल की हेतु कही जाती ।। जैसे तुरी, तन्तु और वेम से पट की उत्पत्ति प्रत्यक्ष है, अतः तुरी, तन्तु, वेम पट के हेतु हैं । और केवल भोजन से तृप्ति रूप फल प्रत्यक्ष

प्रतीत होता है, अतः केवल भोजन तृप्ति का हेतु है, तैसे केवल अधिष्ठान ज्ञान से भ्रान्ति की निवृत्ति प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। अतः केवल अधिष्ठान का ज्ञान ही भ्रान्ति की निवृत्ति का हेतु है। जैसे रज्जु का ज्ञान भ्रान्ति की निवृत्ति में अन्य की अपेक्षा नहीं करता है, तैसे बन्ध की भ्रान्ति के अधिष्ठान नित्यमुक्त आत्मा का ज्ञान भी, बन्ध भ्रान्ति की निवृत्ति में कर्मोपासना की अपेक्षा नहीं करता है ॥

और ज्ञान के फल मोक्ष को यदि स्वर्ग के समान लोक विशेष रूप अदृष्ट=परोक्ष मानै, तो सो मानना वेद वाक्य से विरुद्ध है, क्योंकि ज्ञानवान् के प्राण किसी लोक में गमन नहीं करते, यह[1] वेद में कहा है। और लोक विशेष को मानने पर स्वर्ग तुल्य मोक्ष अनित्य सिद्ध होगा। अतः लोक विशेषरूप मोक्ष नहीं। और लोक विशेष रूप जो मोक्ष को मानेगा, उसको भी केवल ज्ञान से ही मोक्ष लोक की प्राप्ति मानना योग्य है, क्योंकि शास्त्र से प्रतिपादित अर्थ को शास्त्र के अनुसार ही अङ्गीकार करना योग्य ( उचित ) है, और शास्त्र केवल ज्ञान से मोक्ष कहता है। अतः केवल ज्ञान मोक्ष का हेतु है, कर्म, उपासना, ज्ञान, तीनों नहीं ॥

और वृक्ष का दृष्टान्त भी युक्त नहीं है। क्योंकि यद्यपि जल का सेचन वृक्ष की उत्पत्ति और रक्षा का हेतु है, तथापि वृक्ष के फल की उत्पत्ति का नहीं। वृद्ध ( पुराने ) वृक्ष में जल का सेचन वृक्ष की रक्षा का हेतु होता है, फल का नहीं। जल से पुष्ट वृद्ध ( वृद्धि युक्त ) वृक्ष ही फल का हेतु होता है, जल सेचन नहीं। तैसे कर्म उपासना का भी ज्ञान की उत्पत्ति में उपयोग होता है, मोक्ष में नहीं। अतः ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व ही अन्तःकरण की शुद्धि और निश्चलता

---

१ न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति ॥ बृहदा० अ० ४।४।६॥

के लिये कर्म और उपासना कर्तव्य हैं। ज्ञान के वाद मोक्ष के लिये नहीं, ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व भी जब तक अन्तःकरण में मल और विक्षेप हों, तब तक ही कर्तव्य हैं। जिस का अन्तःकरण शुद्ध और निश्चल हो, सो जिज्ञासु श्रवणादि के विरोधी कर्मादि का त्याग करे। मलरूप पाप अशुभ वासना का हेतु है, जब तक मल रहता है, तब तक अशुभ वासना होती है। जब अशुभ वासना ( इच्छा भावना ) नहीं हो, तब मल के अभाव का निश्चय करना चाहिये। अन्तःकरण की चञ्चलता और एकाग्रता अनुभव सिद्ध है। अतः उत्तम जिज्ञासु और विद्वान् को कर्म उपासना निष्फल हैं॥

और प्रथम जो कहा है कि—"ज्ञान की रक्षा के लिये कर्म उपासना करै, जैसे जल से उत्पन्न वृक्ष की जल से रक्षा होती है, जल के बिना वृक्ष सूख जाते हैं। तैसे कर्म उपासना से उत्पन्न ज्ञान की कर्म उपासना से रक्षा होती है, यदि ज्ञानी कर्मादि नहीं करे, तो फिर अन्तःकरण के मलिन और चञ्चल हो जाने से, शुष्क भूमि के वृक्ष तुल्य उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जायगा अतः ज्ञानी भी कर्मादि करे" सो कहना नहीं बन सकता, क्योंकि आभास युक्त वा चेतन युक्त अन्तःकरण की जो "मैं असङ्ग ब्रह्म हूँ" यह वृत्ति होती है, सो वेदान्त का फल रूप ज्ञान होता है, उसका कर्मादि के विना नाश होगा, अथवा चेतन स्वरूप ज्ञान का नाश होगा॥ यदि ऐसे कहै कि स्वरूप ज्ञान के नित्य होने से, उसका नाश और रक्षा तो हो नहीं सकता, किन्तु वेदान्त का फल रूप ब्रह्मज्ञान की कर्मोपासना से उत्पत्ति होती है। और कर्म उपासना के त्याग से उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जायगा, अतः उसकी रक्षा के लिये कर्मादि कर्तव्य हैं॥ तो सो कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि एक वार उत्पन्न हुई ब्रह्माकार वृत्ति रूप ज्ञान से, अज्ञान और भ्रम का नाश रूप फल तत्काल में ही सिद्ध होता है। अज्ञान और भ्रम के नाश के वाद फिर वृत्ति रूप ज्ञान की रक्षा का

कोई उपयोग ( फल ) नहीं । और कर्मोपासना से अन्तःकरण की वृत्ति की रक्षा हो भी नहीं सकती, क्योंकि जब कर्मोपासना का अनुष्ठान ( आचरण ) करेगा, तब कर्मोपासना की सामग्री का ही वृत्तिरूप ज्ञान होगा, ब्रह्म का ज्ञान नहीं । क्योंकि अन्य वृत्ति ( ज्ञान ) के होने पर प्रथम की वृत्ति नहीं रहती है । अतः कर्म और उपासना ज्ञान की उत्पत्ति के तो परम्परा से हेतु हैं, परन्तु उत्पन्न वृत्ति के विरोधी है, अतः कर्म उपासना से उत्पन्न ज्ञान की रक्षा नहीं होती है ।।

और प्रथम जो यह कहा है कि "ज्ञानी को कर्म के त्याग से पाप होता है, सो कहना भी अयुक्त है, क्योंकि शुभ कर्म का त्याग पाप का हेतु नहीं है, किन्तु निषिद्ध कर्म का अनुष्ठान ही पाप का हेतु है, इस वार्ता का प्रतिपादन भाष्यकार ने बहुत प्रकार से किया है, अतः कर्म के त्याग रूप अभाव से भाव रूप पाप की उत्पत्ति नहीं होती है ।। और ज्ञानी को सब प्रकार से पाप का असम्भव है, क्योंकि पुण्य, पाप और उनका आश्रय अन्तःकरण परमार्थ से ( वस्तुतः ) हैं नहीं, अविद्या से मिथ्या प्रतीत होते हैं । सो अविद्या और मिथ्या प्रतीति ज्ञानी को नहीं रहते हैं अतः ज्ञानी को शुभ कर्म के त्याग से अथवा[1] अशुभ के अनुष्ठान से पाप नहीं होता है, क्योंकि प्रारब्धाधीन स्वाभाविक प्रवृत्ति से पुण्य पाप नहीं होते हैं ।।

इस स्थान में यह सिद्धान्त है कि, मन्द और दृढ़ भेद से दो प्रकार का ज्ञान होता है, संशयादि सहित ज्ञान को मन्द कहते हैं, और संशयादि रहित को दृढ़ कहते हैं । जिसको दृढ़ ज्ञान हो, उसको किञ्चित् मात्र भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि एक बार उत्पन्न हुवा संशयादि रहित

---

१ नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन । भ० गी० अ० ३।१८।।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् । भ० गी० अ० ४।२१।।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे । मुण्डक० २।२।८।।

वृत्ति रूप ज्ञान अविद्या का नाश कर देता है, उस ज्ञान के निवृत्त होने पर भी उसके संस्कारादि के प्रभाव से, भली रीति से ज्ञात आत्म विषयक फिर भ्रान्ति नहीं होती है, क्योंकि भ्रान्ति का कारण अविद्या है, सो एक बार उत्पन्न ज्ञान से नष्ट हो जाती है, अतः भ्रान्ति और अविद्या के अभाव से वृत्ति ज्ञान की आवृत्ति का कोई उपयोग नहीं ॥

और जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिए यदि वृत्ति की आवृत्ति अपेक्षित हो, तो बारम्बार वेदान्त के अर्थ का ही चिन्तन करे, वेदान्त के अर्थ के चिन्तन से ही बारम्बार ब्रह्माकार वृत्ति होती है, कर्म उपासना से नहीं। क्योंकि कर्म और उपासना का अन्तःकरण की शुद्धि और निश्चलता द्वारा ही ज्ञान में उपयोग होता है, अन्य रीति से नहीं, और विद्वान् के अन्तःकरण में पाप और चञ्चलता रहती नहीं है। क्योंकि राग और द्वेष के द्वारा पाप और चञ्चलता का हेतु अविद्या है, और उस अविद्या का ज्ञान से नाश होता है। अतः विद्वान् के पाप और चञ्चलता के अभाव से कर्म उपासना का उपयोग नहीं ॥

और यदि ऐसे कहै कि राग द्वेषादि अन्तःकरण के सहज (स्वाभाविक) धर्म हैं। अतः जब-तक अन्तःकरण है, तब तक ज्ञानी के रागद्वेष का सर्वथा नाश नहीं होता है, और उस रागद्वेष से ज्ञानी का अन्तःकरण भी चञ्चल होता है, अतः चञ्चलता की निवृत्ति के लिये ज्ञानी भी उपासना करे। यद्यपि अन्तःकरण की चञ्चलता से ज्ञानी के विदेह मोक्ष में हानि नहीं होती है, तथापि चञ्चल चित्त में स्वरूपानन्द का भान नहीं होता है, अतः चञ्चलता जीवन्मुक्ति के आनन्द की विरोधिनी है, अतः जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिये उपासना से चञ्चलता निवारणीय है ॥ यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि दृढ़ बोध वालों के लिये समाधि और विक्षेप समान है, अतः अन्तःकरण की निश्चलता के लिये किसी यत्न का आरम्भ करना विद्वान् को सम्भव नहीं, तथापि विद्वान् की प्रवृत्ति

और निवृत्ति प्रारब्ध के आधीन होती है। प्रारब्ध कर्म सबके विलक्षण रहते हैं, किसी विद्वान् का जनकादि के समान भोग का हेतु प्रारब्ध रहता है, किसी का शुकदेव वामदेवादि के समान निवृत्ति का हेतु रहता है। जिसके प्रारब्ध भोग का हेतु रहता है, उसको प्रारब्ध से भोग की इच्छा होती है, और भोग के साधन का यत्न होता है। और जिसके प्रारब्ध निवृत्ति का हेतु रहता है, उसको जीवन्मुक्ति के आनन्द की इच्छा होती है, और भोग में ग्लानि होती है। जिसको जीवन्मुक्ति के आनन्द की इच्छा हो, सो ब्रह्माकार वृत्ति की आवृत्ति के लिये वेदान्तार्थ का चिन्तन ही करे ) उपासना नहीं। क्योंकि अन्तःकरण की निश्चलता मात्र से ब्रह्मानन्द का विशेषरूप से भान नहीं होता है। किन्तु ब्रह्माकार वृत्ति से ही भान होता है। और सो ब्रह्माकार वृत्ति वेदान्त चिन्तन से ही होती है, उपासना से नहीं।। और विद्वान् को अन्तःकरण की चञ्चलता भी वेदान्त के चिन्तन से निवृत्त होती है, अतः अन्तःकरण की निश्चलता के लिये भी उपासना में विद्वान् की प्रवृत्ति नहीं होती है। इस रीति से दृढ़ बोध वाले की कर्मोपासना में प्रवृत्ति नहीं होती है।।

और जिसको मन्द बोध हुवा हो, सो भी मनन और निदिध्यासन ही करे, कर्म उपासना नहीं। क्योंकि मन्द बोधवाला उत्तम जिज्ञासु होता है, और उत्तम जिज्ञासु के लिये मनन और निदिध्यासन से अन्य कर्तव्य नहीं है। इस वार्ता का शारीरक में सूत्रकार और भाष्यकार ने प्रतिपादन किया है।। और विद्वान् को मनन[1] निदिध्यासन भी कर्तव्य नहीं। यदि जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिये विद्वान् मननादि में प्रवृत्त होता है, तो सो भी अपनी इच्छा से प्रवृत्त होता है। और "मैं यदि वेद की आज्ञा का पालन नहीं करूंगा, तो मुझे जन्मादि संसार होगा"

**१ नैष्कर्म्येण न तस्यार्थो न तस्यार्थोऽस्ति कर्मभिः। न समाधान जप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः। योगवासिष्ठे। जप्यो जपः।।**

इस बुद्धि से जो क्रिया की जाती है, सो कर्तव्य कहाती है। और विद्वान् को आत्म जन्मादि की बुद्धि होती नहीं है, अतः निजेच्छा से जो विद्वान् मननादि करता है, सो कर्तव्य नहीं है। इस रीति से मन्द वा दृढ़ बोध वालों के लिये कर्मोपासना कर्तव्य नहीं हैं ॥

और जिसको बोध नहीं हुवा हो, आत्मज्ञान की तीव्र इच्छा हो, भोग की इच्छा नहीं हो, सो भी शुद्धान्तःकरण वाला है, अतः उत्तम जिज्ञासु है। उसके लिये भी श्रवणादिक ही कर्तव्य हैं। कर्म उपासना नहीं, क्योंकि कर्मोपासना का फल उसको सिद्ध (प्राप्त) है। और ज्ञान की सामन्य इच्छा से जो श्रवण में प्रवृत्त हुवा हो, और अन्तःकरण भोग में आसक्त हो, सो मन्द जिज्ञासु होता है, उसको भी श्रवण को त्याग कर कर्म उपासना में नहीं प्रवृत्त होना चाहिये, क्योंकि कर्म उपासना के फल अन्तःकरण की शुद्धि और निश्चलता उसको श्रवण से ही प्राप्त होगी। श्रवण की आवृत्ति से अन्तःकरण के दोषों के दूर होने पर इस जन्म में वा अन्य जन्म में अथवा ब्रह्मलोक में ज्ञान होता है। और श्रवण को त्याग कर जो कर्म उपासना में प्रवृत्त होता है, सो आरूढ पतित कहा जाता है। इस रीति से ज्ञानी और उत्तम जिज्ञासु का कर्म उपासना में अधिकार नहीं है। और वेदान्त श्रवण में प्रवृत्त मन्द जिज्ञासु का भी अधिकार नहीं है। ज्ञान की इच्छा होते भी भोग में आसक्त बुद्धि हो, और श्रवण में प्रवृत्ति जिसकी नहीं हो। उस मन्द जिज्ञासु का निष्काम कर्म और उपासना में अधिकार है। और जिसकी भोग में ही आसक्ति हो, ज्ञान की इच्छा नहीं हो, उस बहिर्मुख का सकाम कर्म में भी अधिकार है। अतः ज्ञानी को कर्म उपासना का अधिकार नहीं, क्योंकि कर्म उपासना का ज्ञान विरोधी है ॥

और कर्म उपासना भी अन्तः करण की शुद्धि और निश्चलता के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति के तो हेतु हैं। परन्तु ज्ञान की उत्पत्ति के

अनन्तर यदि कर्म उपासना करे, तो उत्पन्न हुवा ज्ञान नष्ट हो जायगा, अतः ज्ञान के अनन्तर के कर्म उपासना ज्ञान के विरोधी हैं। रक्षक नहीं। क्योंकि "मैं कर्ता हूँ, यज्ञादि मेरे कर्तव्य है, यज्ञादि के फल स्वर्गादि भोक्तव्य हैं" इस भेद बुद्धि से कर्म होते हैं। और "मैं उपासक हूँ, देव उपास्य हैं" इस भेद बुद्धि से उपासना होती है। सो दोनों प्रकार की बुद्धि "सर्वब्रह्म है" इस बुद्धि को दूर करके होती है, अतः कर्म उपासना ज्ञान के विरोधी हैं॥

यद्यपि ज्ञानी आत्मा को असङ्ग जानता है, तथापि भोजनादि रूप देह का व्यवहार, अथवा जनकादि के समान राज्यपालनादि रूप अधिक व्यवहार करता है। उस व्यवहार का ज्ञान विरोधी नहीं[1]। और व्यवहार भी ज्ञान[1] का विरोधी नहीं, क्योंकि जिस आत्मस्वरूप को ज्ञान से असङ्ग समझा है। उस आत्मस्वरूप में यदि व्यवहार (सत्य) प्रतीत हो, तो व्यवहार का विरोधी ज्ञान हो, तथा ज्ञान का विरोधी व्यवहार हो। सो विद्वान् को आत्मा में व्यवहार (सत्य) प्रतीत होता नही है। किन्तु सब व्यवहार देहादि के आश्रित हैं। और आत्मा में व्यवहार सहित देहादि का (सत्य) सम्बन्ध नहीं है। इस बुद्धि से सम्पूर्ण व्यवहार विद्वान् करता है। इसी कारण से विद्वान् की प्रवृत्ति भी निवृत्ति ही कही जाती है॥

जैसे अन्य व्यवहार ज्ञान का विरोधी नहीं होता है। तैसे कर्म उपासना को भी देह वाक् अन्तःकरण के आश्रित जान कर, और आत्मा को असङ्ग जानकर, बहिर्मुख पुरुषों से कर्मोपासना करवाने के लिए यदि ज्ञानी कर्मोपासना करे, तो कर्मादि ज्ञान के विरोधी नहीं होते हैं। क्योंकि जिस आत्मा को ज्ञानी असङ्ग समझा है, उसको कर्ता जानकर यदि कर्मोपासना करे। तो ज्ञान

१—विद्याऽऽरब्धे विरुद्ध्येते न भिन्नविषयत्वतः॥ इत्यादि पञ्चदशी॥

के विरोधी कर्मादि होयँ। और असंग आत्मा का विद्वान् से किया गया दृढ निश्चय कर्म उपासना से दूर ( निवृत्त ) नहीं होता है। अतः आभास रूप कर्म उपासना दृढ ज्ञान के विरोधी नहीं होते हैं। इसी कारण से जनकादिकों ने आभास रूप (कर्तृत्वाभिमान रहित) कर्म किया है ( आत्मा को असङ्ग जानकर और अन्य व्यवहार के तुल्य कर्म को देहादि के धर्म जानकर जो विद्वान् शुभ क्रिया करता है, सो आभास रूप कहा जाता है ) उस कर्म को ज्ञान से विरोध नहीं, और भाष्यकार ने जो कर्म उपासना का ज्ञान से विरोध कहा है, सो आत्मा में कर्तृत्व के अभिमान से किये गये कर्मादि के विरोध को कहा है, आभास रूप कर्म के विरोध को नहीं कहा है। ( अतः दृढ बोध के विरोधी यद्यपि आभास रूप कर्मादि नहीं हैं )॥

तथापि आभास रूप कर्म उपासना भी मन्द बोध के विरोधी हैं। क्योंकि संशयादि सहित बोध को मन्द बोध कहते हैं। तहाँ जिसको संशय हो कि "आत्मा असंग है, या नहीं" सो यदि बार बार ऐसा चिन्तन करे कि "आत्मा असङ्ग है, मुझे किञ्चित् भी कर्तव्य नहीं" तो संशय की निवृत्ति पूर्वक दृढ बोध उत्पन्न होता है, और साभिमान कर्म उपासना करने से उत्पन्न मन्द बोध भी निवृत्ति हो जाता है, और "मैं कर्ता भोक्ता हूँ" यह विपरीत निश्चय हो जाता है, अतः मन्द बोध की उत्पत्ति से पूर्व ही कर्म उपासना कर्तव्य हैं, फिर नहीं॥ और यदि मन्द बोध वाला कर्म उपासना करेगा, तो उत्पन्न बोध भी नष्ट होगा ( इस अर्थ में ) दृष्टान्त है कि—

जैसे पक्षी अपने अण्डे को पक्ष ( पाँख ) की उत्पत्ति से प्रथम ही सेवती है, पक्ष की उत्पत्ति के बाद नहीं। यदि पक्ष की उत्पत्ति होने पर भी अण्डे को सेवे तो बालक पक्षी के उस अण्डे के जल से पक्ष गल जाय। तैसे ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व ही कर्मादि का सेवन करे, पश्चात् नहीं, यदि पश्चात् सेवन करेगा, तो बालक पक्षी के पक्ष तुल्य

मन्द ज्ञान का नाश हो जायगा । और अण्डे के सम्बन्ध से जैसे वृद्ध पक्षी की कोई हानी नहीं होती है । तैसे दृढ बोध की कर्मादि से हानि नहीं होती है । और वृद्ध पक्षी तुल्य दृढ बोध को कर्मादि से कोई उपयोग ( उपकार ) भी नहीं होता है । इस रीति से ज्ञानी को मोक्ष के लिए किञ्चिन्मात्र भी कर्तव्य नहीं । यह तृतीय प्रश्न का उत्तर कहा गया है ॥ शिष्य को जो आचार्य ने उत्तर कहे सो वेद के अनुसार कहे, अतः यथार्थ हैं । यह वार्ता आगे कहते हैं कि—

॥ दोहा ॥

शिष्य कह्यो जो तोहि मैं, सर्व वेद को सार ।
लहै ताहि अनयास ही, संसृति नशै अपार ॥ १९१ ॥

टीका—हे शिष्य ! मैंने जो तुम को कहा है, सो सब वेद का सार है, अतः इसमें विश्वास करो । क्योंकि विश्वास पूर्वक इस अर्थ को जानने से अनायास (खेद के बिना) अपार जन्म मरणादि रूप संसृति ( संसार ) का नाश होता है ॥

यद्यपि खेद का आयास नाम है, उसके अभाव का अनायास नाम है, तथापि छन्द के लिए अनयास पढ़ा ( लिखा ) गया है । क्योंकि भाषा में छन्द के लिए, गुरु के स्थान में लघु और लघु के स्थान में दीर्घ पढ़ने का दोष नहीं माना जाता है । और मोक्ष के स्थान में मोछ ही भाषा में पाठ होता है, क्यों कि यह भाषा का सम्प्रदाय है कि—

॥ दोहा ॥

लघु गुरु गुरु लघु होत है, वृत्ति हेतु उच्चार ।
रू ह अरु के ठौर में, अब की ठौर वकार ॥ २० ॥

[1]संयोगी क्ष न, कपर ख न, नहीं टवर्ग णकार।
भाषा में ऋ लृ हूं नहीं, अरु तालव्य शकार।। २१ ।।

टीका=इतने अक्षर प्रान्तीय ग्रामीण पुरानी हिन्दी भाषा में नहीं होते है, ( नागरी भाषा में भी होते है ) यदि कोई भाषा छन्द में इन्हें लिखे, तो कवि अशुद्ध कहते हैं। क्ष के स्थान में छ। ख के स्थान में ष। ण के स्थान में न। ऋ लृ के स्थान में रि लि। और श के स्थान में स भाषा के छन्द में लिखने योग्य है ( नियम नहीं ) ।।

"जगत् का कर्ता ईश्वर है, सो तेरे स्वरूप से भिन्न नहीं। और सत् चित् आनन्द स्वरूप ब्रह्म तूं है" यह आचार्य ने प्रथम कहा है, सोई फिर भी कृपा करके कहते हैं कि—

।। कवित्त ।।

दीनता कूं त्यागि नर, अपनों स्वरूप देखि।
तूतो शुद्ध ब्रह्म अज, दृश्य का प्रकाशी है।।
अपने अज्ञान ते, जगत सब तूही रचै।
सर्व को संहार कर, आप अविनाशी है।।
मिथ्या परपञ्च देखि, दुःख जिन आनि जिय।
देवन को देव तू तौ, सब सुख राशी है।।
जीव जग ईश होय, माया से प्रभासै तूहि।
जैसे रज्जु साँप सीप, रूप ह्वै प्रभासी है।। २ ।।

---

१ अक्षरार्थ है कि भाषा में क्ष् के संयोग वाला क्ष नहीं होता है, न वर्णमाला में क से परे आने वाला ख होता है, किन्तु उसके स्थान में ष होता है, टवर्गी ण के स्थान में न होता है इत्यादि, प्र आदि संयोगी अक्षर का नियम भी छन्द के लिये नहीं माना जाता है, प्र आदि के स्थान में पर और सीता आदि को सिया लक्ष्मण को लखन लिखा जाता है इत्यादि। परन्तु अर्थ भेद के लिए शान्त-सान्तादि को लिखना ठीक है ।।

राग जारि लोभ हारि, द्वेष मारि मार वारि ।
वार वार मृग वारि, पार वार पेखिये ।।
ज्ञान भान आनि तम, तम तारि भाग त्याग ।
जीव शीव भेद छेद, वेदन सुलेखिये ।।
वेद को विचार सार, आप कूं सँभारि यार ।
टारि दास पास आश, ईश की न देखिए ।।
निश्चल तू चल न अचल चल दल छल ।
नभ नील तल मल तासूं न विशेखिये ।। ३ ।।

**टीका**==ज्ञान के साधन कहते हैं कि—हे शिष्य ! विषयों में आसक्ति रूप राग को दोष दर्शनादि द्वारा जलाय कर, तृष्णा रूप लोभ को हार==नाश कर, काम विघातक विषयक द्वेष को मार कर, मार ( काम ) को वारि ( दूर करो ) यहाँ राग, लोभ, द्वेष और काम के ग्रहण से सब राजसी तामसी वृत्तियों का ग्रहण है, अतः सब राजसी तामसी वृत्तियों का नाश करो, यह अर्थ सिद्ध होता है । राजसी और तामसी सब वृत्ति ज्ञान की विरोधिनी होती है । उनके नाश बिना ज्ञान नहीं होता है, अतः उनकी निवृत्ति जिज्ञासु को अपेक्षित है ।। विवेक, वैराग्य, शमादि सम्पत्ति और मुमुक्षुता, ये चार ज्ञान के साधन हैं, उन में विवेक प्रधान है, क्योंकि विवेक से वैराग्यादि उत्पन्न होते हैं, अतः विवेक का उपदेश आचार्य करते हैं कि पारवार ( संसार ) को बारम्बार मृगवारि ( मृगतृष्णा जल ) के समान मिथ्या जानो । पारवार (संसार) मिथ्या है, इस कथन से अपारवार, ( विभु आत्मा ) मिथ्या नहीं किन्तु सत्य है, यह सिद्ध होता है ।। जैसे बाजीगर के तमासे को देखने वाले पुत्र को पिता कहता है कि "हे पुत्र ! बाजीगर रचित ये आम्र वृक्षादि सब मिथ्या हैं" तहाँ इस कथन से पुत्र बाजीगर को मिथ्या नहीं जानता है, किन्तु सत्य समझता है । तैसे जगत् को मिथ्या कहने से, शिष्य !

आत्मा को सत्य समझेगा, इस अभिप्राय से आचार्य ने पारवार को मिथ्या कहा है, और इस रीति से जगत् मिथ्या है और आत्मा सत्य है, इस विवेक का उपदेश किया है। उस विवेक से अन्य साधन स्वयं उत्पन्न होते हैं, अतः विवेक के उपदेश से सब साधन का उपदेश अर्थ से सिद्ध होता है ॥

ज्ञान के बहिरङ्ग साधनों को कह कर, अन्तरंग साधनों का कथन करते हैं कि—हे शिष्य! ज्ञान रूपी भानु (सूर्य) को आनि कर (श्रवण द्वारा सम्पादन करके) तम अज्ञान, रूप तम (अन्धकार) को तारि (नाश करो) अन्धकार और अज्ञान दोनों को तम कहते हैं, अन्धकार उपमान है, और अज्ञान उपमेय है, पहला तम शब्द उपमेय का वाचक है, और दूसरा उपमान का वाचक है ॥

॥ दोहा ॥

**[1]जाकूं उपमा दीजिये, सो उपमेय बखानि।**
**जाकी उपमा दीजिये, सो कहिए उपमानि॥ २२॥**

ज्ञान का स्वरूप अन्य शास्त्रों में नाना प्रकार का माना गया है। अतः महावाक्य के अनुसार ज्ञान का स्वरूप कहते हैं कि—हे शिष्य जीव और ईश्वर में अविद्या और माया भाग को त्याग कर, उनके भेद जो प्रतीत होते है, उनका छेद (नाश) करो। और जीव ईश्वर में जो वेदन (चेतन) भाग है, उसको भेद रहित जानों॥ इस कथन से यह वार्ता कही गई है कि—महावाक्यों में भाग त्याग लक्षणा से जीव ईश्वर की एकता को जानो।

---

१ जिस वस्तु को सदृशता द्वारा सुन्दरादि समझाने के लिए उपमा (दृष्टान्त) दी जाय सो उपमेय होता है, जिस की उपमा दी जाय सो उपमान होता है, जैसे चन्द्र तुल्य मुख है। कमल तुल्य कर है, यहाँ मुख और कर उपमेय हैं, चन्द्र और कमल उपमान हैं। तैसे तम तुल्य अज्ञान उपमेय है तम उपमान है॥

पूर्व कथित अर्थ कों संक्षेप से चतुर्थ पाद द्वारा कहते हैं कि—हे शिष्य ! चल=विनश्वर देहादि संघात रूप तूं नहीं है । किन्तु अचल=अविनश्वर ब्रह्म तूं है । और चलदल ( चञ्चल पत्रवाला ) वृक्ष रूप संसार छल ( मिथ्या माया मात्र ) है । और जैसे नभ में नीलता, और तलमल ( कटाहरूपता ) मिथ्या प्रतीत होते हैं । तैसे संसार भी आत्मा में नहीं है, मिथ्या प्रतीत होता है ॥ श्रुति स्मृति[1] में संसार को वृक्ष रूप से कहा गया है । अतः वृक्ष के वाचक चल-दल शब्द का संसार में प्रयोग किया है ॥ ३ ॥

मोक्ष का साधन ज्ञान है, इस अर्थ को अन्य प्रकार से कहते हैं कि—

॥ कवित्त ॥

बन्ध मोक्ष गेह देहवान ज्ञानवान जान ।
रागरु विराग दोइ, धजा फररात हैं ॥
विषे विषै सत्य भ्रम भ्रम मति वात तात ।
हललात प्रात रात, घरी न ठहरात हैं ॥
साद्य साक्षी पूतरी अनूजरी रुऊजरी द्वौ ।
देखि रागी त्यागी ललचात जन जात हैं ॥
चञ्चल अचल भ्रम ब्रह्म लखि रूप निज ।
दुःख कूप आनन्द स्वरूप में समात हैं ॥ ४ ॥

**टीका**=हे शिष्य ! देहवान्=देहाभिमानीं अज्ञानी और ज्ञानवान्, बन्ध और मोक्ष के गेह=धाम हैं । अज्ञानी तो बन्ध का धाम है और ज्ञानी मोक्ष का धाम है । राग और विराग उनकी ध्वजा है । जैसे ध्वजा राजा के नगर का चिह्न होता है, तैसे राग और विराग उनके चिह्न हैं । अज्ञानी का राग चिह्न है, ज्ञानी का विराग चिह्न है । अज्ञानी में भी

१ कठोपनिषद् गीता पुराण में ( उर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः ) इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं ॥

विराग होता है, अतः ज्ञानी का अज्ञानी से विलक्षण विराग कहते हैं कि—हे तात ! शब्दादि विषयों में सत्य भ्रम=सत्यता की भ्रान्ति, और भ्रम-मति=रज्जुसर्प तुल्य विषयों में भ्रम रूपता का निश्चय, ये दोनों वायु के समान राग और विराग को हलाते हैं। जैसे वायु ध्वजा को चञ्चल करता है। तैसे विषयों में सत्य बुद्धि और भ्रमबुद्धि राग और विराग को चञ्चल करती है। शिथिल नहीं होने देती है। विषयों में सत्य बुद्धि से राग की शिथिलता दूर होती है। और विषयों में भ्रम बुद्धि से विराग की शिथिलता दूर होती है। विषय असत्य हैं, अतः उनमें सत्य बुद्धि भ्रान्ति रूप होती है। इस बात को जनाने के लिये कवित्त में सत्य भ्रम कहा है। सत्य बुद्धि नहीं कही है। भ्रान्ति ज्ञान और भ्रान्ति ज्ञान का विषय मिथ्या वस्तु दोनों भ्रम कहे जाते हैं। इस कथन से अज्ञानी के विराग से ज्ञानी के विराग का भेद कहा है, क्योंकि अज्ञानी का विराग विषयों में मिथ्या बुद्धि से नहीं उत्पन्न होता है; अतः भेद है। विषय मिथ्या है, यह बुद्धि अज्ञानी को नहीं होती है। यद्यपि शास्त्रयुक्ति से अज्ञानी भी मिथ्या जानता है। तथापि "विषय मिथ्या हैं" यह अपरोक्ष मति ज्ञानी को ही होती हैं, अज्ञानी को नहीं। अतः अज्ञानी की विषय में परोक्ष मिथ्या बुद्धि से अपरोक्ष सत्य भ्रान्ति दूर नहीं होती है। इस रीति से अज्ञानी को जब विषय में विराग होता है, उस काल में परोक्ष मिथ्या बुद्धि रहती भी है, परन्तु उससे प्रबल अपरोक्ष सत्य बुद्धि रहती है, अतः अज्ञानी की परोक्ष मिथ्या बुद्धि विराग का हेतु नहीं होती है किन्तु प्रबल सत्य बुद्धि से विषय से राग ही होता[1] है और

१—विवेक बिना जो वैराग्य होता है, उससे अविवेक के कारण अनर्थ ही होता है। और वैराग्य हुए बिना विज्ञान की बातें करना मानो व्यर्थ अभिमान प्रगट करना है। ऐसा मनुष्य मोह और दम्भ के कारण कष्ट उठाता है, इत्यादि। दासबोध, दशक १२ समास ४ ।।

जो कभी विराग होता है, सो भी मिथ्या बुद्धि से नहीं, किन्तु विषय में दोष दृष्टि से होता है ॥

और ज्ञानवान सब प्रपञ्च को अपरोक्ष रूप से मिथ्या जानता है। और उस अपरोक्ष मिथ्या बुद्धि से अपरोक्ष सत्य बुद्धि दूर हो जाती है। अतः राग का हेतु रूप विषय में सत्य बुद्धि ज्ञानी का नहीं रहती है विराग का हेतु विषय में मिथ्या बुद्धि रहती है। यदि ज्ञानी को विषय में फिर सत्य बुद्धि हो, तो राग भी फिर हो सकता है, और विराग दूर हो सकता है। परन्तु अपरोक्ष रूप से मिथ्या निश्चित पदार्थों में फिर सत्य बुद्धि नहीं होती है। जैसे अपरोक्ष रूप से मिथ्या निश्चित रज्जु सर्पादि में फिर सत्य बुद्धि नहीं होती है, तैसे ज्ञानी को विषयादि में सत्य बुद्धि नहीं होती है। इस रीति से राग की उत्पत्ति और विराग की निवृत्ति ज्ञानी के नहीं होती है। अतः ज्ञानी का दृढ़ विराग होता है ॥

और दोष दृष्टि से जो अज्ञानी को विराग होता है। सो तो दूर ( नष्ट ) हो जाता है, क्योंकि जिनपदार्थों में दोष दृष्टि होती है, उनमें ही कालान्तर में सम्यक् ( सुन्दर ) बुद्धि भी हो जाती है। जैसे सब पुरुष को पशुधर्म ( स्त्रीसंग ) के अन्त में स्त्री में दोष दृष्टि होती है, और कालान्तर में फिर सम्यक् बुद्धि होती है। इस रीति से जब दोष दृष्टि दूर होती है, तब अज्ञानी का विराग भी दूर हो जाता है। अतः अज्ञानी को दृढ़ विराग नहीं होता है ॥ उक्त[1] रीति से ज्ञानी और अज्ञानी के राग और विराग रूप चिह्न कहे गये हैं। अब अन्य भी चिह्न कहते हैं कि—हे शिष्य! जैसे धाम ( गृह ) के ऊपर ( दिवाल ) में पूतरि हस्ती आदि की मूर्ति=चित्र होती है, तैसे बन्धमोक्ष के धामरूप अज्ञानी और ज्ञानी के अन्तःकरण में साक्ष्य और साक्षी रूप पूतरी रहते हैं। अज्ञानी के अन्तःकरण

१ रागो लिङ्गमबोधस्य, नैष्कर्म्यसिद्धिः।

में साद्य ( साक्षी का विषय प्रपञ्च ) रूप पूतरी रहती है, और ज्ञानी के अन्तःकरण में साक्षीरूप पूतरी रहती है। तहाँ साद्यरूप पूतरी अनूजरी ( मलिन ) होती है। और साक्षी रूप पूतरी ऊजरी ( शुद्ध ) रहती है। ( अज्ञ रागी मलिन को ही देखकर लालच=लोभ करता है, त्यागी ऊज्वल को देखकर लोभ करता हैं ) चञ्चल भ्रम को निजरूप लखि और अचल ब्रह्म को निजरूप लखि, यह क्रम से अन्वय है ॥ अन्यार्थ स्पष्ट है ॥

भाग त्यागलक्षणा का कवित्त में विशेषरूप से ग्रहण किया गया है, उसमें हेतु कहने के लिये लक्षणा के भेद को कहते हैं कि—

॥ दोहा ॥

त्रिविध लच्छना कहत हैं, कोविद बुद्धि निधान।<br>
जहती अरु अजहती पुनि, भागत्याग जिय जान ॥२३॥<br>
आदि दोइ नहिं सम्भवै, महावाक्य में तात।<br>
भागत्याग ते रूप निज, ब्रह्मरूप दरशात ॥२४॥

॥ शिष्य उवाच ॥ अर्धशंकरछन्द ॥

अब लच्छना प्रभु कहत काकूं, देहु यह समुझाय।<br>
पुनि भेद ताके तीनि तिन के, लच्छनहु दरशाय ॥१

टीका=सामान्य ज्ञान के अनन्तर विशेष का ज्ञान होता है। जैसे सामान्य ब्राह्मण के ज्ञान होने पर सारस्वत आदि रूप विशेष का ज्ञान होता है, तैसे प्रथम लक्षणा सामान्य का ज्ञान हो, तो जहती आदि विशेष स्वरूपों का ज्ञान हो सकता है, लक्षणा के सामान्य स्वरूप को जाने बिना, जहती आदि विशेष स्वरूपों का ज्ञान नहीं हो सकता है, इस अभिप्राय से शिष्य कहता है कि--हे प्रभो ! लक्षणा किस को कहते हैं, यह मैं नहीं जानता हूँ। अतः लक्षणा के सामान्य स्वरूप

को दिखाय=समुझाय कर, फिर जहती आदि लक्षणा के जो तीन भेद=विशेष हैं। उनके जुदे-जुदे लक्षण दिखावो ॥

॥ गुरुवाक्य ॥ शंकरछन्द ॥

श्रुति चित्त निज एकाग्र करि। अब शिष्य सुनि बानि ॥
ज्यूं लच्छना अरु भेद ताके, लेहु नीके जानि ॥
सुनि वृत्ति है द्वै भाँति पद की, शक्ति तामें एक ॥
तहाँ लच्छना पुनि जानि दूजो, सुनहु सो सविवेक ॥२

टीका=पद का जो अपने अर्थ के साथ बोध्यबोधक भाव सम्बन्ध रहता है, उसको वृत्ति कहते हैं, सो सम्बन्ध रूप वृत्ति दो प्रकार की होती है। एक शक्ति वृत्ति होती है, दूसरी लक्षणा वृत्ति होती है, उनको सविवेक (विवेकसहित=लक्षण सहित) सुनि=सुनो ॥

(न्याय की रीति से शक्ति का लक्षण) ॥ दोहा ॥

जा पद ते जा अर्थ की, ह्वै[1] सुनते हि प्रतीति ॥
ऐसी इच्छा ईश की, शक्ति न्याय की रीति ॥२५॥

टीका=जा पद ते=जिस घटादि पद से जा अर्थ की=जिस कलशादि अर्थ की सुनते ही प्रतीति=ज्ञान, सब को हो, ऐसी (उस ज्ञान का हेतु) जो ईश्वर की इच्छा, उसको न्यायमत में शक्ति कहते हैं ॥

॥ अर्धशंकर छन्द ॥ (स्वमतानुसार शक्ति लक्षण)

सामर्थ्य पद की शक्ति जानहु, वेद मत अनुसार।
सो वह्नि में जिमि दाह की, है शक्ति त्यूं निरधार ॥३॥२॥

टीका=घट पद के श्रोता को कलशरूप अर्थ के ज्ञान कराने का घटपद में सामर्थ्य रूप शक्ति है। तैसे पटपद के श्रोता को वस्त्ररूप

---

१ व्याकरण कोश आप्त वचनादि द्वारा शक्ति ग्रहण (ज्ञान) के बाद जिस पद के सुनने से जिस अर्थ का ज्ञान हो इत्यादि तात्पर्य है ॥

अर्थ के ज्ञान कराने का पटपद में सामर्थ्य रूप शक्ति है। इसी प्रकार सब पदों में शक्ति समझना चाहिये। जैसे वह्नि में अपने से मिले= संयोगी वस्तु के दाह करने की सामर्थ्य रूप शक्ति है, तैसे श्रोता के कर्ण से मिले[२] पद में जो वस्तु के ज्ञान कराने का सामर्थ्य है, सो शक्ति कही जाती है। शक्ति, सामर्थ्य, बल, जोर; इत्यादि एक अर्थ के वाचक हैं। जैसे अग्नि में दाह की शक्ति है, तैसे जल में गीला करने की, तृषा दूर करने की और चूर्णादि के पिण्ड बाँधने के सामर्थ्य रूप शक्ति हैं। इस रीति से सब पदार्थों में अपने-अपने कार्य करने की समर्थता ही शक्ति है। यह वेद का सिद्धान्त है, उसी को निर्धार= निश्चय कर, और न्याय की रीति त्यागने के योग्य है॥

॥ शिष्य उवाच ॥ शंकरछन्द ॥

ननु वह्नि में नहिं शक्ति भासै, वह्नि बिनु कछु और।
है हेतुता जो दाह की, सो वह्नि में तिहि ठौर॥
इमि पदन हूँ में वरण बिनु कछु, शक्ति भासत नाहिं।
या हेतु ते जो ईश इच्छा, शक्ति मो मति माहिं॥४॥३॥

टीका=ननु शब्द सन्देह का वाचक है। वह्नि में उसके स्वरूप से भिन्न शक्ति नहीं भासती ( प्रतीत होती है ) और प्रथम जो दाह के सामर्थ्य को शक्ति कही गई है, सो युक्त नहीं है, क्योंकि दाह की हेतुता=जनकता केवल वह्नि में ही है। अप्रसिद्ध सामर्थ्य को वह्नि में मानकर, उसमें दाह की हेतुता मानने का और प्रसिद्ध वह्नि में हेतुता को त्यागने का कोई फल नहीं है॥ और जैसे दृष्टान्त में शक्ति

---

२ वह्नि ( अग्नि ) तुल्य शब्द में शक्ति हो तो शक्ति के ज्ञान बिना भी वह्नि कार्य के समान शब्द से शाब्द बोध होना चाहिये, और आधुनिक शब्द से परिभाषा रूप शंकेत ( इच्छा ) से ही शाब्द बोध सबको अनुभव सिद्ध है, अतः यह विचारणीय विषय है॥

का सम्भव नहीं, इमि ( इस रीति से ) पदों में भी वर्णों के समूह रूप पदों के स्वरूप से भिन्न शक्ति नहीं भासती है, न उसका कोई फल है। इस कारण से ईश्वर की इच्छा रूप न्याय की रीति वाली शक्ति मेरी मति में भासती है ( सत्य प्रतीत होती है ) ।।

॥ गुरुरुवाच ॥ शंकर छन्द ॥

प्रतिबन्ध[1] होते वह्नि ते नहिं, दाह उपजै अङ्ग।
उत्तेजकरु जब धरै तब, फिरि दहै वह्नि स्वसङ्ग ॥
है वह्नि में जो हेतुता, तो दाह है सब काल।
जो नशै उपजै वह्नि होते, हेतु शक्ति सु बाल ॥ ५ ॥ ४ ॥

टीका=हे अङ्ग ! प्रिय ! प्रति बन्धक ( कार्य निरोधक ) मणि मन्त्र औषधि के होते ( रहते ) अग्नि से दाह नहीं होता है। और उत्तेजक ( प्रतिबन्धक रहते भी कार्य साधक ) मणि आदि को अग्नि के समीप में धरै। तब अग्नि फिर स्वसंग ( स्वसम्बन्धी ) पदार्थ को प्रतिबन्धक के रहते भी दहती=जलाती है। यदि शक्ति के बिना अग्नि को दाह की हेतुता हो, तो सब काल ( सदा ) उत्तेजक सहित प्रतिबन्धक काल, और प्रतिबन्धक रहित काल के समान, उत्तेजक रहित प्रतिबन्धक काल में भी दाह होना चाहिये। क्योंकि दाह का हेतु अग्नि सदा रहती ही है ! और शक्तिवाद में यह दोष नहीं, क्योंकि

---

१ नैयायिक यहाँ प्रतिबन्धकाऽभाव को भी स्वतन्त्र कारण मान कर वा प्रतिबन्धकाऽभाव सहित अग्नि को दाह का हेतु मान कर अग्नि में शक्ति नहीं मानते हैं। परन्तु जैसे ईश्वर मायात्मक शक्ति से श्रुति के अनुसार उत्पत्ति का हेतु है, तैसे माया रूप शक्ति के अंश रूप शक्ति सब पदार्थ में सिद्ध होती है, ऐसा मानना युक्त है। प्रतिबन्ध का ऽभाव को मान कर शक्ति का अस्वीकार युक्त नहीं है, इत्यादि यहाँ तात्पर्य है ॥

अग्नि की शक्ति वा शक्ति सहित अग्नि दाह का हेतु है, केवल अग्नि नहीं। प्रतिबन्धक से अग्नि का नाश वा तिरोधान नहीं होता है, किन्तु अग्नि की शक्ति का नाश वा तिरोधान होता है। अतः प्रतिबन्धक काल में दाह का हेतु शक्ति वा शक्ति सहित अग्नि के अभाव होने से दाह नहीं होता है ॥

और जहाँ प्रतिबन्धक के समीप में उत्तेजक आता है, तहाँ यद्यपि प्रतिबन्धक अग्नि की शक्ति का नाश वा तिरोधान प्रथम करता है, तथापि उत्तेजक फिर शक्ति की उत्पत्ति वा प्रादुर्भाव कर देता है। अतः प्रतिबन्धक के रहते भी उत्तेजक की महिमा से दाह का हेतु शक्ति वा शक्ति सहित अग्नि की सिद्धि से दाह होता है ॥ चतुर्थ पाद का यह अक्षरार्थ है कि हे बाल ! (अज्ञाततत्व) प्रतिबन्धक से जो नशै=नाश को प्राप्त हो, और उत्तैजक से अन्य उपजै, सु=सो शक्ति दाह का हेतु है ॥

॥ अर्धशंकर छन्द ॥

शिष रीति यह सब वस्तु में तूं, शक्ति लेहु पिछानि।
बिनु शक्ति नहिं कछु काज होवै, यहै निश्चै मानि ॥६॥

टीका=हे शिष्य वह्नि तुल्य जलादि सब पदार्थों में तूं शक्ति पिछान=जान। शक्ति के बिना किसी हेतु से कोई कार्य होता नहीं ॥

सार्द्ध (डेढ) शंकर छन्द से शक्ति का प्रयोजन कहा॥ प्रथम जो शिष्य ने प्रश्न किया था कि "वह्नि से भिन्न शक्ति प्रतीत नहीं होती है" उसका समाधान कहने के लिए अर्द्धशंकर से शक्ति का अनुभव दर्शाते हैं—

॥ अर्द्ध शंकर छन्द ॥

अब शक्ति यामें है नहीं वह, शक्ति उपजी और।
यह शक्ति को परसिद्ध अनुभव, लोपि है किस ठौर ।७।५।

सिद्धान्त की रीति से शक्ति का स्वरूप और शक्ति में प्रमाण का निरूपण किया, अन्य मत की शक्ति का खण्डन करते हैं कि—

॥ अर्ध शंकर छन्द ॥

जो शक्ति इच्छा ईश की सो, पदन के न[1] नजीक।
मत न्याय को अन्याय या विधि, शक्ति जानि अलीक ॥८॥

टीका=न्याय की रीति से ईश्वर की इच्छा रूप जो पदों की शक्ति कही जाती है, सो कहना बनती नहीं है, क्योंकि ईश्वर की इच्छा ईश्वर का धर्म है, अतः ईश्वर में रहती है, सो पद की शक्ति है, यह कहना ठीक नहीं। यदि पद का धर्म इच्छा हो, तो पद की शक्ति हो। अतः पद का सामर्थ्य रूप ही पद की शक्ति है, क्योंकि इश्वर की इच्छा पद के नजीक=समीप भी नहीं है सो पद की शक्ति है, यह कहना अयुक्त है। क्योंकि अलीक=झूठ शक्ति जानने से न्याय का मत अन्याय रूप है॥

॥ अर्ध शंकर छन्द ॥

योग्यता जो अर्थ की पद-माँहिं शक्ति सु देखि।
यूं कहत वैयाकरण भूषण, कारिका हरि पेखि ॥९॥६॥

---

१ मायी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर ज्ञान इच्छा कृति ( यत्न ) सहित विभु सर्वात्मा स्वसिद्धान्त के अनुसार भी है, और उससे शब्दादि की सृष्टि जीवों के कर्मानुसार कही गई है। फिर संकेत रूप इच्छा पदों के समीप क्यों नहीं है, यह बिचारार्ह है। और यहाँ भी अनिर्वाच्य मायांश शक्ति में तात्पर्य है। नैयायिक ईश्वर संकेत को शक्ति कहते हैं, और आधुनिक संकेत को परिभाषा कहते हैं। उसकी अपेक्षा सर्वत्र अनिर्वाच्य शक्ति ठीक है, यह तात्पर्य प्रतीत होता है॥

टीका=पद में अर्थ की योग्यता=अर्थ ज्ञान की हेतुता ही पद में शक्ति है। जैसे घट पद में कलश रूप अर्थ के ज्ञान की हेतुता रूप योग्यता है, सोई शक्ति है। इस रीति से वैयाकर भूषण नामक ग्रन्थ में हरिकी कारिका ( श्लोक ) को प्रमाण मान कर शक्ति कही गई है। अथवा वैयाकरणके भूषण=उत्तम वैयाकरण हरि के श्लोक को देख कर योग्यता को शक्ति कहते हैं ॥

॥ सार्धशंकर छन्द ॥

सुन शिष्य वैयाकरण मत में, प्रबल दूषण एक।
सामर्थ्य पद में है न वा यह, पूछि ताहि विवेक ॥
भाखै जु है तौ शक्ति मानहु, ताहि लोक प्रसिद्ध।
कहि नाहिं जो असमर्थ पद सो, योग्य है यह सिद्ध ॥७॥
असमर्थ है पद अर्थ योग्य रु, कहत ही सविरोध।
जो और दूषण देखनो तो, ग्रन्थ दर्पण सोध ॥ १० ॥

टीका=प्रथम पाद का अर्थ स्पष्ट है, हे शिष्य! अर्थ ज्ञान की हेतुता रूप योग्यता को शक्ति मानते हों, उनसे यह विवेक=भेद पूछना चाहिए कि आप के मत के अनुसार पद में सामर्थ्य है, या नहीं, यदि प्रथम पक्षा कहे कि सामर्थ्य है, तो सिद्धान्त की शक्ति वलात् सिद्ध होती है, यह तृतीय पाद से कहा है कि "भाखै जु है तौ" इत्यादि। ( जु=जो भाखै है, तौ लोक प्रसिद्ध शक्ति ताहि मानहु ) यह अन्वय है। अर्थ है कि यदि वैयाकरण कहे कि पद में सामर्थ्य है, तो लोक में प्रसिद्ध जो सामर्थ्य रूप शक्ति है, उसी को पद में भी मानो। अर्थ ज्ञान की जनकता रूप योग्यता को शक्ति नहीं मानो ॥

अभिप्राय यह है कि—पद में सामर्थ्य रूप शक्ति मानने वाले को सामर्थ्य से भिन्न शक्ति के स्वरूप को मानना योग्य नहीं है। किन्तु सामर्थ्य रूप ही शक्ति को मानना योग्य है, क्योंकि सामर्थ्य, बल, जोर

और शक्ति ये चार नाम एक वस्तु के लोक में प्रसिद्ध हैं ॥ जोर रहित को लोक कहते हैं कि यह सामर्थ्य हीन हैं बल हीन है, इत्यादि । और भर्जित (भूंजे) अन्न को कहते हैं कि इस में अंकुर उत्पत्ति की शक्ति= सामर्थ्य नहीं है । इस रीति से सामर्थ्य और शक्ति की एकता लोक में प्रसिद्ध है । और वह्नि में भी सामर्थ्य रूप ही शक्ति निर्णीत है । अतः पद में सामर्थ्य रूप ही शक्ति मानने योग्य है । और पद में सामर्थ्य मान कर, उससे भिन्न योग्यता को शक्ति कहने का लोक प्रसिद्धि से विरोध के विना अन्य फल नहीं है, केवल लोक प्रसिद्धि का विरोध ही फल है । और यदि ऐसे कहैं कि, हम सामर्थ्य को ही योग्यता कहते हैं, तो सिद्धान्त में विरोध नहीं ॥ यदि ऐसे कहैं कि हम सामर्थ्य को मानै, तो सामर्थ्य रूप शक्ति पद में सिद्ध हो, परन्तु सामर्थ्य को हम नहीं मानते है, अतः अर्थ ज्ञान की जनकता रूप योग्यता ही पद में शक्ति है, तो उनको यह पूछना चाहिये कि सामर्थ्य का अभाव केवल पद में ही मानते हो, अथवा वह्नि आदि सब पदार्थों में सामर्थ्य का अभाव मानते हो, यदि अन्तिम पक्ष कहें, तो वह्नि आदि में सामर्थ्य रूप शक्ति के प्रतिपादन में वर्णित युक्ति से इस पक्ष को खण्डित समझना चाहिये । और केवल पद में सामर्थ्य का अभाव रूप प्रथम पक्ष कहै, तो उसमें अन्त्य पक्ष में उक्त दोष यद्यपि नहीं है, क्योंकि वह्नि आदि में सामर्थ्य रूप शक्ति के नहीं मानने पर, प्रतिबन्ध से दाह के अभाव का असम्भव रूप दोष अन्तिम पक्ष में प्राप्त होता है, प्रथम पक्ष में नहीं, क्योंकि वह्नि आदि में सामर्थ्य के स्वीकार से, प्रतिबन्धक से दाह के अभाव का असम्भव नहीं प्राप्त होता है ॥ तथापि पद में भी वह्नि के समान अवश्य सामर्थ्य मानना चाहिये, इस अर्थ को शंकर के दो पाद से प्रतिपादन करते हैं, "नाहिं जो असमर्थ" इत्यादि "सविरोध" पर्यन्त, नाहि=पद में सामर्थ्य नहीं है, यदि ऐसे कहो, तो जो पद असमर्थ है । सो अर्थ ज्ञान के योग्य=जनक है । यह सिद्ध=मत का निश्चय होगा,

सो असङ्गत होगा, क्योंकि पद असमर्थ है, और अर्थ योग्य=अर्थ ज्ञान का जनक हैं, यह वाक्य "नपुंसक का अमोघ वीर्य है" इस वाक्य के समान कहते ही सविरोध=विरोध सहित है। क्योंकि सामर्थ्य सहित को समर्थ, और सामर्थ्य=शक्ति रहित को असमर्थ कहते हैं। और असमर्थ से कोई कार्य होता नहीं है। यह लोक में प्रसिद्ध है, अतः असमर्थ पद से भी अर्थ का ज्ञान रूप कार्य नहीं हो सकता, इसलिये पद में सामर्थ्य मानना चाहिए। और सामर्थ्य के मानने पर सामर्थ्य स्वरूप ही पद में शक्ति मानने योग्य है॥ इस रीति से अर्थ ज्ञान की जनकता रूप योग्यता पद में शक्ति नहीं है। किन्तु सामर्थ्य रूप है॥ यदि वैयाकरण मत में और दूषण देखना हो। तो शक्ति निरूपण में दर्पण ग्रन्थ को सोधो=देखो। दूषण क्लिष्ट है। अतः दर्पण उक्त दूषण नहीं लिखा है॥

**"कुमारिल भट्ट की रीति से शक्ति का लक्षण" अर्धशंकरछन्द॥**

**सम्बन्ध पद को अर्थ से, तादात्म्य शक्ति सुवेद।**
**इमि भट्ट के अनुसारि भाखत, ताहि भेदाभेद॥११॥८॥**

**टीका**=पद का अर्थ से तादात्म्य सम्बन्ध को भट्ट के अनुयायी शक्ति कहते हैं, सो तूं वेद=जानो। और ताहि=उस तादाम्य को भेदाभेद रूप कहते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि—अग्नि पद का निजार्थ से अत्यन्त भेद नहीं है। क्योंकि यदि अत्यन्त भेद हो तो जैसे अग्निपद से अत्यन्त भिन्न जलादि का अग्निपद से बोध (प्रतीति) नहीं होता है, तैसे अग्नि पद से अङ्गारादि रूप निजार्थ का बोध नहीं होगा, और होता है, अतः अत्यन्त भेद नहीं है। और अत्यन्त भेद के समान अत्यन्त अभेद भी पद को निजार्थ के साथ नहीं है, क्योंकि यदि वाच्य वाचक का अत्यन्त अभेद हो, तो जैसे अग्निपद के वाच्य अर्थ से दाह होता है, तैसे अग्नि वाचक

अग्नि पद के उच्चारण से भी मुख का दाह होना चाहिये। और पद के उच्चारण से दाह नहीं होता है। अतः अत्यन्त अभेद भी नहीं है। किन्तु अग्नि आदि पदों को अपने २ अर्थों के साथ भेद सहित अभेद है। भेद है अतः दाहादि रूप अर्थ 'कार्य' पद से नहीं होता है। और अभेद है, अतः अग्नि पद से जलादि के समान निजार्थ के बोध का असम्भव नहीं। जैसे अग्निपद का अपने अर्थ से भेद सहित अभेद है, तैसे ही जल उदकादि पदों का जल से भेदाभेद है। अतः जलादि पदों के उच्चारण से मुख में शीतलता नहीं होती है, और जल का बोध भी अभेदांश से होता है। इस रीति से सर्वत्र वाच्य वाचक का भेद सहित अभेद है। उस भेद सहित अभेद को भट्ट के अनुसारी तादात्म्य सम्बन्ध और भेदाभेद कहते हैं, सो तादात्म्य सम्बन्ध ही पदों की अर्थ में शक्ति है। उससे भिन्न सामर्थ्य रूप शक्ति नहीं॥

भेदाभेद में युक्ति कही गई। अब प्रमाण कहते हैं कि—

॥ अर्ध शंकर छन्द ॥

यह ॐ अक्षर ब्रह्म है यूं कवत वेद अभेद।
पुनि बानि में पद अर्थ बाहिर, देखियत यह भेद ॥१२॥

टीका—माण्डूक्यादि वेद वाक्यों में "ॐ अक्षर ब्रह्म है" यह कहा है। तहाँ व्याकरण की रीति से प्रकाश रूप सबकी रक्षा कर्ता ॐ अक्षर का अर्थ है। ऐसा ब्रह्म है। अतः ॐ अक्षर ब्रह्म का वाचक है। और ब्रह्म वाच्य है। यदि वाच्य वाचक का परस्पर अत्यन्त भेद हो, तो वाचक ॐकार का वाच्य ब्रह्म का माण्डूक्यादि में अभेद नहीं कहा जाता। और अभेद कहा है कि "ॐ अक्षर ब्रह्म है" अतः वाच्य वाचक के अभेद में वेद वचन प्रमाण है॥ और सर्वलोक की प्रतीति से वाच्य वाचक का भेद सिद्ध है। क्योंकि अग्नि आदि पद वाणी में है, और उनका अर्थ वाणी से बाहर भूमि में है। तैसे ॐ अक्षर रूप पद वाणी

में हैं। और उसका अर्थ ब्रह्म वाणी में नहीं है, किन्तु वाणी से बाहर अपनी महिमा=स्वरूप में हैं। यद्यपि ब्रह्म व्यापक है, अतः वाणी में ब्रह्म का अभाव नहीं है। तथापि ब्रह्म में व्याप्य वाणी है, और वाणी में व्यापक ब्रह्म नहीं। इस रीति से सब लोक को पद वाणी में और अर्थ वाणी से बाहर प्रतीत होता है, अतः पद और अर्थ का भेद लोक में प्रसिद्ध है। इससे वाच्य वाचक के भेद में सर्व लोक का अनुभव प्रमाण है। और उनके अभेद में वेद वचन प्रमाण हैं। अतः पद का अर्थ से भेदाभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध प्रमाण सिद्ध है॥

प्रसङ्ग से अन्य स्थानों में भी भेदाभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध दिखाते हैं कि—

॥ अर्ध शंकर छन्द ॥

जो गुन गुनी औ जाति व्यक्ति, क्रिया अरु तद्वान।
सम्बन्ध लखि तादात्म्य इनको, कार्य कारण सान।१३।९।

**टीका**=रूप रस गन्ध आदि गुण हैं, उनका आश्रय गुणी कहा जाता है। जैसे रूपादि का आश्रय भूमि गुणी है। अनेक में रहने वाला एक धर्म जाति कही जाती है। जैसे सब ब्राह्मण शरीर में एक ब्राह्मणत्व रहता है। सब जीवों में एक जीवत्व, सब पुरुषों में पुरुषत्व, और सब घटों मे घटत्व रहता है। जिसको लोक में ब्राह्मणपना, जीवपना आदि कहते हैं, सोई ब्राह्मण शरीर आदि में ब्राह्मणत्वादि जाति है। जाति के आश्रय ब्राह्मण आदि व्यक्ति कहाते हैं। गमन आगमन रूप व्यापार क्रिया कही जाती हैं। और तद्वान्=उस क्रिया वाला, क्रिया का आश्रय पदार्थ होता है। इतने पदार्थों का तादात्म्य सम्बन्ध होता है, सो लखि=जान, और कार्य कारण को सान=इनमें मिलाव अर्थात् गुण गुणी आदि के समान कार्य कारण का भी तादात्म्य सम्बन्ध समझो॥

तहाँ गुण और गुणी का परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध है । अर्थात् गुण तादात्म्य सम्बन्ध से गुणी में रहता है । और गुणी गुण का तादात्म्य सम्बन्ध से आश्रय होता है । इसी प्रकार जाति व्यक्ति का सम्बन्ध है । क्रिया और क्रियावान् का सम्बन्ध है, तथा कार्य और कारण का भी तादात्म्य सम्बन्ध है ॥ और भेद सहित अभेद का तादात्म्य नाम है । यद्यपि निमित्त कारण और कार्य का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं रहता है, तथापि उपादान कारण और कार्य का परस्पर तादात्म्य रहता है । जैसे घट के निमित्त कारण कुलाल आदि का घट रूप कार्य से अत्यन्त भेद भी है, परन्तु उपादान कारण मृत्तिका और घट का तादात्म्य रहता है, यदि मृत्तिका से घट अत्यन्त भिन्न हो, तो जैसे मृत्तिका से अत्यन्त भिन्न तैलादि की उत्पत्ति नहीं होती है, तैसे घट की भी उत्पत्ति नहीं होगी । और उपादान कारण का कार्य से अत्यन्त अभेद हो, तो भी मृत्पिण्ड से घट की उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि अपने स्वरूप से अपनी उत्पत्ति नहीं होती हैं । अतः उपादान कारण का भेद सहित अभेद है । केवल भेद नहीं । अभेद भी है, अतः अत्यन्त भेद पक्ष का दोष नहीं । भेद भी है, अतः अभेद पक्ष का दोष नहीं । इस रीति से उपादान कारण का कार्य से भेदाभेद युक्ति सिद्ध है । और प्रतीति से भी उपादान से कार्य का भेदाभेद ही सिद्ध है । क्योंकि "यह मृत्पिण्ड है, यह घट है ॥ इस रीति की भिन्न प्रतीति से भेद सिद्ध होता है । और विचार से देखैं तो घट के बाहर भीतर मृत्तिका से भिन्न कुछ भी प्रतीत नहीं होता हैं, किन्तु मृत्तिका ही प्रतीत होती है, अतः अभेद सिद्ध होता है । इस रीति से उपादान कारण का कार्य से भेदाभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध है । तैसे गुण और गुणी का तादात्म्य है, यदि घट के रूप का घट से अत्यन्त भेद हो, तो जैसे घट से अत्यन्त भेदवाला पट घट के आश्रित नहीं रहता है, किन्तु स्वतन्त्र रहता है, तैसे घट के रूप भी

घट के आश्रित नहीं रहेगा, और गुण गुणी का अत्यन्त अभेद हो, तो भी घट का रूप घट के आश्रित नहीं रह सकता है, क्योंकि अपना आश्रय आप नहीं होता है, अतः गुणगुणी का तादात्म्य सम्बन्ध है ।। यही युक्ति, जाति और व्यक्ति, तथा क्रिया और क्रियावान् के भेदाभेद रूप तादात्म्य में समझना चाहिये ।। और जिस मत का खण्डन करना है, उसमें बहुत युक्ति कहने का फल नहीं, अतः और युक्ति नहीं लिखी है ।।

## ।। अथ भट्टमत खण्डन ।।

।। दोहा ।।

**एक वस्तु को एक में, भेद अभेद विरुद्ध ।**
**युक्ति-युक्त याते कहत, यह मत सकल अशुद्ध ।।२६।।**

टीका=अक्षरार्थ स्पष्ट है, भाव है कि यद्यपि एक घट में अपना अभेद है, और अन्य का भेद है, तथापि जिसका अभेद है, उसका भेद नहीं, और जिसका भेद है, उसका अभेद नहीं, इस अभिप्राय से एक वस्तु का भेदाभेद विरुद्ध कहा है, क्योंकि एक वस्तु रूप घट का अपने में अभेद, और पर में भेद है, परन्तु जिसमें अभेद है, उसमें भेद नहीं, और जिसमें भेद है, उसमें अभेद नहीं, अतः एक वस्तु का एक में भेदाभेद विरुद्ध कहा गया है । और भेद अभेद आपस में विरोधी है, अतः वाच्य वाचक, गुणगुणी, जाति व्यक्ति आदि का जो तादात्म्य माना है, सो अशुद्ध है ।। प्रथम वाच्य वाचक के भेदाभेद में जो प्रमाण कहा है कि "वाणी में वाचक है, और वाच्य बाहर है, अतः भेद है, और श्रुति में ॐ अक्षर को ब्रह्म कहा है, अतः अभेद है" इसका समाधान है कि—

।। दोहा ।।

**प्रणव वर्ण अरु ब्रह्म को, कह्यो जु वेद अभेद ।**
**तामें अन्य रहस्य कछु, लख्यो न भट्ट सु भेद ।।२७।।**

**टीका**=प्रणव वर्ण=ॐ अक्षर और ब्रह्म का जो वेद में अभेद कहा है, उन वेद वचनों का वाच्य वाचक के अभेद में तात्पर्य नहीं है, किन्तु उन वचनों में अन्य ही रहस्य=गोप्य अभिप्राय है, सो भेद=अभिप्राय भट्ट ने नहीं लखा। क्योंकि जो वाक्य ॐ अक्षर और ब्रह्म का अभेद कहा है, उस वाक्य का ॐ अक्षर और ब्रह्म के अभेद में तात्पर्य नहीं हैं, किन्तु "ॐ अक्षर की ब्रह्म रूप से उपासना करे" इस अर्थ में तात्पर्य है। उपासना की विधि में उपास्य का जैसा स्वरूप हो, वैसा ही विधान=चिन्तन का नियम नहीं है, किन्तु उपास्य के स्वरूप को त्याग कर अन्य स्वरूप की भी उसमें उपासना की जाती है। जैसे शाल ग्राम और नर्मदेश्वर की विष्णु और शिवरूप से उपासना कही है। तहाँ शंख चक्रादि सहित चतुर्भुज मूर्ति शालग्राम की नहीं है। गङ्गा से विभूषित जटाजूट डमरू आदि युक्त शरणागत रक्षक आत्मोपदेशक मूर्ति नर्मदेश्वर की नहीं है। किन्तु दोनों शिला रूप हैं, और शास्त्र की आज्ञा से उन दोनों में शिला दृष्टि को त्याग कर क्रम से विष्णु और शिव स्वरूप की उपासना=चिन्तना की जाती है, अतः उपास्य के स्वरूप के आधीन उपासना नहीं होती है, किन्तु विधि के आधीन होती है, जैसे शास्त्र का वचन विधान करे' तैसी उपासना कर्तव्य है ॥

जैसे छान्दोग्य उपनिषद् के पञ्चाग्नि विद्या प्रकरण में, १ स्वर्गलोक, २ मेघ, ३ भूमि, ४ पुरुष, ५ और स्त्री इन पाँच पदार्थों की अग्निरूप से उपासना वर्णित है, और १ श्रद्धा २ सोम ३ वर्षा ४ अन्न ५ और वीर्य इन पाँच पदार्थों की पञ्चाग्नि की आहुति रूप से उपासना वर्णित है। तहाँ स्वर्गादिक अग्नि नहीं हैं, और श्रद्धा सोमादिक आहुति नहीं है, तो भी वेद की आज्ञा से स्वर्गलोकादिकों की अग्नि रूप से और श्रद्धा आदिकों की आहुति रूप से उपासना की जाती है ॥ इसी रीति से ॐ अक्षर की ब्रह्म रूप से उपासना कही गई है,

तहाँ ॐ अक्षर यद्यपि ब्रह्म नहीं है, तथापि ब्रह्मरूप से उपासना होती है, उपासना वाक्य में वस्तु के अभेद की अपेक्षा नहीं रहती है, भेद रहते भी अभेद रूप से उपासना होती है। और विचार से देखें तो ब्रह्म वाचक ॐ कार का अपने वाच्य ब्रह्म से अभेद सिद्ध हो सकता है, परन्तु घटादि पदों को अपने जड़ अर्थों से अभेद नहीं हो सकता है। क्योंकि सब नाम रूप ब्रह्म में कल्पित हैं, ब्रह्म सब का अधिष्ठान है। ॐ अक्षर भी ब्रह्म का नाम है, अतः ब्रह्म में कल्पित है, कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं सिद्ध होता है, किन्तु अधिष्ठान स्वरूप ही होता है, अतः ॐ कार ब्रह्म स्वरूप है। और घटादि पदों के जो जड़ अर्थ है, सो अधिष्ठान नहीं हैं, किन्तु वाच्य सहित घटादि पद ब्रह्म में कल्पित हैं, और ब्रह्म, उनका अधिष्ठान है। अतः ब्रह्म से तो सबका अभेद बन भी वकता है। परन्तु घटादि पदों का अपने अर्थों के साथ किसी प्रकार भी अभेद नहीं हो सकता है। अतः भट्ट मत में वाच्य वाचक का अभेद असङ्गत है ॥

और वाच्य वाचक का केवल भेद को मानने वालों के मतमें भट्ट ने यह दोष कहा है कि—यदि घट पदका वाच्य घटपद से अत्यन्त भिन्न हो, तो जैसे घटपद से अत्यन्त भिन्न पट की प्रतीति घट पद से नहीं होती है। तैसे घटपद से अत्यन्त भिन्न घटकी प्रतीति भी नहीं होगी। और घटपद से वाच्य को भिन्न मानकर भी उसकी घटपद से प्रतीति मानी जाय तो, जैसे घटपद से अत्यन्त भिन्न कलश की प्रतीति होती है, तैसे अत्यन्त भिन्न पट की भी प्रतीति होनी चाहिये ॥ परन्तु यह दोष भी जो सामर्थ्य रूप वा इच्छा=संकेत रूप शक्ति नहीं मानता हो, उसके मत में है। जो शक्ति मानता है, उसके मतमें दोष नहीं है। क्योंकि घटपद का वाच्य कलश और अवाच्य पटादि, यद्यपि दोनों घटपद से भिन्न है, तथापि घटपद में घट रूप अर्थ के बोध कराने की शक्ति है, अन्यार्थ के ज्ञान कराने की नहीं। अतः घटपद

से कलश से भिन्न अर्थ की प्रतीति नहीं होती है । इस रीति से जिस पदों में जिस अर्थ की शक्ति है, उसी अर्थ की उस पद से प्रतीति होती है, अन्य अर्थ की नहीं, अतः वाच्य वाचक के अत्यन्त भेदमें दोष नहीं है, और उनका भेद सहित अभेद रूप तादात्म्य नहीं हो सकता है । क्योंकि भेदाभेद विरोधी हैं ॥

उक्त विरोध से ही उपादान कारण का भी कार्य से भेद सहित अभेद नहीं है, केवल भेद है । और केवल भेद में जो दोष कहा है, सो नैयायिक और शक्तिवादी के मत में नहीं है । क्योंकि कार्य कारण के अत्यन्त भेद में यह दोष है कि मृत्पिण्ड से अत्यन्त भिन्न घट की उत्पत्ति के समान अत्यन्त भिन्न तैलादि की भी उत्पत्ति होनी चाहिये, यदि भिन्न तैलादि की उत्पत्ति नहीं हो, तो भिन्न घट की मृत्तिका से नहीं उत्पत्ति होनी चाहिये ॥

यह दोष नैयायिक मत में नहीं है, क्योंकि सब वस्तु की उत्पत्ति में नैयायिक प्रागभाव को कारण मानते हैं । जैसे घट की उत्पत्ति में दण्ड चक्रादि कारण हैं, तैसे घटका प्रागभाव भी कारण है । और सब कार्य की उत्पत्ति में प्रागभाव कारण है, और वह घटका प्रागभाव घटके उपादान कारण में रहता है, अन्य में नहीं । तैल का प्रागभाव तिल में रहता है, अन्य में नहीं । इसी प्रकार सब कार्यों का प्रागभाव अपने अपने उपादान कारण में ही रहते हैं, जिस में जिसका प्रागभाव रहता है, उसी प्रागभाव युक्त से उस कार्य की उत्पत्ति होती है, अन्य से नहीं । अतः कार्य कारण को अत्यन्त भिन्न मानने से नैयायिक मत में दोष नहीं है ॥

और सामर्थ्य रूप शक्तिवादी के मत में भी दोष नहीं । क्योंकि मृत्पिण्ड में घट की शक्ति रूप सामर्थ्य है, तैल की नहीं । तिलों में तैल की शक्ति है, घट की नहीं । अतः मृत्पिण्ड से घट की उत्पत्ति होती है । तैल की नहीं । तिलों से तैल की उत्पत्ति होती है, घट की

नहीं। इस रीति से उपादान कारण और कार्य का अत्यन्त भेद मानने में दोष नहीं है ।। और भेद में तथा अभेद में जो भट्ट ने दोष कहा है सो दोनों पक्ष के दोष भट्ट मत में अवश्य प्राप्त होते हैं। क्योंकि भेद और अभेद दोनों को मानने से भेद और अभेद दोनों पक्ष के दोष प्राप्त होते हैं ।। गुण गुणी आदि के भी भेदाभेद मानने से भेद और अभेद दोनों पक्ष के दोष होगें ।।

और शक्तिवादी के मत में केवल भेद के अङ्गीकार से दोष नहीं है, क्योंकि गुणी में गुण को धारण करने की शक्ति हैं। अन्य की नहीं। अतः भेद पक्ष में जो दोष कहा था कि घट के रूपादि जैसे घट से भिन्न हैं। तैसे पटादि भी भिन्न हैं, अतः रूपादि के समान पटादि को भी घट में रहना चाहिये। अथवा पदादि के समान रूपादि को भी घट में नहीं रनना चाहिए। यह दोष शक्ति नहीं माने उसके मत में है, शक्ति को मानने वाले के मत में केवल भेद के मानने से यह दोष नहीं है। भट्ट मत में भेद अभेद दोनों के मानने से दोनों पक्ष के दोष हैं। और भेद अभेद रूप विरोधी धर्म का असम्भव दोष है। गुणादि के समान जाति व्यक्ति का क्रिया क्रियांवान् का भी केवल भेद है। तो भी व्यक्ति में जाति को धारण करने की शक्ति है। और क्रियावान् में क्रिया को धारण करने की शक्ति है, अन्य के धारण की शक्ति नहीं। इस रीति से उपादान कारण और कार्य का तथा गुणगुणी आदि का भेदाभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध असङ्गत है। क्योंकि सबके परस्पर भेदों के मानने में भट्ट उक्त दोषों को शक्ति ग्रसती ( दूर करती ) है ।। यद्यपि वेदान्त सिद्धान्त में भी कार्य, गुण, जाति क्रिया, का, उपादान, गुणी, व्यक्ति, क्रियावान् से अत्यन्त भेद नहीं, । किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध ही माना गया है। तथापि वेदान्त मत में भेदाभेद रूप तादात्म्य नहीं, किन्तु भेद और अभेद से विलक्षण ( कल्पित भेद और सत्य अभेद= तद्रुपता ) अनिर्वचनीय स्वरूप तादात्म्य वेदान्त में मान्य है। और

भेदाभेद से विलक्षण होने से भेद और अभेद पक्ष में वर्णित दोष का सम्भव नहीं है। अतः भेदाऽभेद से विलक्षण अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध तो है, परन्तु भेदाभेद रूप तादात्म्य असङ्गत है। इससे "वाच्य वाचक का भेदाभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध ही शक्ति है" यह भट अनुसारी का पक्ष समीचीन नहीं है। किन्तु पद के सुनते ही अर्थ के ज्ञान कराने की पद में सामर्थ्य रूप ही शक्ति है ॥ इतिशक्ति निरूपण ॥

लक्षणा के ज्ञान में शक्य ( वाच्य ) का ज्ञान उपयोगी है, क्योंकि शक्य का सम्बन्ध लक्षणा का स्वरूप है, शक्य को जाने बिना शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा का ज्ञान नहीं होता है, अतः शक्य का लक्षण कहते हैं कि—

॥ दोहा ॥

है पद में जा अर्थ की, शक्ति शक्य सो जानि।
वाच्य अर्थ पुनि कहत तिहि वाचक पद पिछानि ॥२८॥

**टीका**—जिस पद में जिस अर्थ की 'बोधक' शक्ति हो, उस पद का उस अर्थ को शक्य जानो। और शक्य अर्थ को ही वाच्य अर्थ भी कहते हैं। जैसे अग्नि पद में अंगार रूप अर्थ की शक्ति है, अतः अग्नि पद का अंगार शक्य और वाच्य अर्थ कहा जाता है ॥

॥ अथ लक्षणा और जहती आदि भेद तथा लक्षण ॥ कवित्त ॥

शक्य को सम्बन्ध जो, स्वरूप जानि लक्षना को।
लक्षना सो भान जाको, लक्ष्य सु पिछांनिये ॥
वाच्य अर्थ सारो त्यागि, वाच्य को सम्बन्ध जहाँ।
होई परतीति तहाँ, जहती बखानिये ॥
वाच्य युत वाच्य के, सम्बन्धी का जु ज्ञान होय।
ताहि ठौर लक्षना, अजहतीहि मानिये ॥

एक वाच्य भाग त्याग, होत तहाँ भाग त्याग।
दूजो नाम जहती, अजहती प्रमानिये ॥५॥

टीका=शक्य= वाच्य अर्थ का जो सम्बन्ध = मिलाप सो लक्षणा का स्वरूप=लक्षण जानो। और जिस अर्थ का ज्ञान पद की शक्ति से नहीं हो, किन्तु लक्षणा से भान ( ज्ञान ) हो, सो पद का लक्ष्य अर्थ कहा जाता है। कवित्त के एक पाद से लक्षणा का स्वरूप कहा, अब तीन पादों से लक्षणा के जहती आदि तीन भेदों के लक्षण कहते हैं कि—जहाँ सारो=सम्पूर्ण वाच्य अर्थ को त्याग कर वाच्य अर्थ के सम्बन्धी की प्रतीति हो, तहाँ जहती लक्षणा कही जाती है। जैसे कोई कहै कि "गङ्गा में ग्राम हैं" तहाँ गङ्गापद की तीर में जहती लक्षणा रहती है। क्योंकि वहाँ गङ्गा पद के वाच्यार्थ देवनदी के प्रवाह को त्याग कर, तीर में गंगापद का तात्पर्य=लक्षणा समझा जाता है। प्रवाह में नहीं, क्योंकि प्रवाह में ग्राम की स्थिति का असम्भव है। वाच्य के सम्बन्ध का लक्षणा नाम है, गंगा में ग्राम है, इस वाक्य गत गङ्गा पद के वाच्य प्रवाह का तीर के साथ संयोग सम्बन्ध है, अतः गङ्गापद के वाच्य का तीर से सम्बन्ध ही लक्षणा है, और सम्पूर्ण वाच्यार्थ के त्याग से जहती लक्षणा कही जाती है" "वाच्य युत" इत्यादि तृतीय पाद से अजहती लक्षणा दिखाते हैं कि—जहाँ वाच्य-युत=वाच्य सहित वाच्य के सम्बन्धी का जिस पद से ज्ञान हो, तहाँ उस पद में अजहती लक्षणा मानी जाती है। जैसे कोई कहे कि "शोण धावता=दौड़ता है" तहाँ शोणपद की लालरंग वाले अश्व में अजहती लक्षणा होती है। क्योंकि लालरंग का शोण नाम है, अतः शोणपद का वाच्य लालरंग है, और उस केवल रङ्ग में धावन का असम्भव है, अतः शोणपद के वाच्य लालरंग सहित अश्व में शोणपद की अजहती लक्षणा है। गुण और गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं, और लाल भी रूप का भेद=विशेष होने से गुण

है । अतः शोण पद का वाच्य लाल जो गुण है, उसका गुणी अश्व के साथ तादात्म्य सम्बन्ध ही लक्षणा है, और वाच्य का त्याग नहीं होता है, अधिक गुणी का ग्रहण होता है, अतः अजहती लक्षणा है ॥ अत्र "एक वाच्य" इत्यादि चतुर्थ पाद से भागत्याग लक्षण बताते हैं कि—जहाँ पदों के वाच्य अर्थ में से एक भाग का त्याग हो, और एक भाग का ग्रहण हो, तहाँ भागत्याग लक्षणा कही जाती है । भाग त्याग को ही, जहती अजहतो, लक्षणा भी कहते हैं । जैसे प्रथम देखे हुए पदार्थ को फिर अन्यदेश में देख कर मनुष्य कहता है कि "सो यह है" तहाँ भागत्याग लक्षणा है । क्योंकि अतीत=भूत काल और अन्यदेश में स्थिर वर्तमान वस्तु को "सो" कहते हैं । अतः अतीत काल और अन्यदेश सहित वस्तु 'सो' पद का वाच्य अर्थ है । और वर्तमान काल समीप देश में स्थिर=वर्तमान वस्तु को "यह" कहते हैं, अतः वर्तमान काल और देश सहित वस्तु "यह" पद का वाच्य अर्थ है ॥ और अतीत काल सहित अन्यदेश सहित जो वस्तु, सोई वर्तमान काल और समीप देश सहित है, यह समुदाय का वाच्य अर्थ है, सो सम्भव नहीं, क्योंकि अतीत काल और वर्तमान काल का विरोध है । तथा दूर देश और समीप देश का विरोध है, अतः दोनों पदों में देश काल रूप वाच्य भाग को त्याग कर, वस्तु मात्र में दोनों पदों की भाग त्याग लक्षणा है ॥५॥

"तत्त्वमसि" इस महावाक्य में लक्षणा दिखाने के लिये, "तत्" पद और "त्वं" पद के वाच्य अर्थ को दिखाते हैं कि—

॥ दोहा ॥

सर्वशक्ति सर्वज्ञ विभु, ईश स्वतन्त्र परोक्ष ।<br>
मायी तत्पद वाच्य सो, जामें बन्ध न मोक्ष ॥२६॥

**टीका**=सर्वशक्ति=सर्वसामर्थ्य वाला, सर्वज्ञ=सर्ववस्तु को जानने वाला, विभु=व्यापक, ईश=सब का प्रेरक=नियन्ता, स्वतन्त्र=कर्म के अनाधीन, परोक्ष=जीव के प्रत्यक्ष का अविषय, मायी=माया को वश में रखनेवाला, और बन्ध मोक्ष से रहित, क्योंकि जिसमें बन्ध हो, उसी का मोक्ष होता है। ईश्वर बन्ध रहित हैं, अतः ईश्वर में मोक्ष भी नहीं। इन उक्त धर्मों वाला ईश्वर चेतन, तत्, पद का वाच्य अर्थ है ॥ २९ ॥

**दोहा=कहे धर्म जो ईश के, सब तिन ते विपरीत।**
**ह्वै जिहि चेतन जीव तिहि, त्वं पद वाच्य प्रतीत ॥ ३० ॥**

टीका=जो ईश्वर के धर्म कहे गये हैं, उनसे विपरीत धर्म जिसमें हों, उस जीव चेतन को त्वंपद का वाच्य प्रतीत (जानो) इसका अभिप्राय यह है कि--अल्प शक्ति वाला, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न=एक देशी, अनीश=पराधीन, कर्माधीन, मया के वशवर्ती अविद्या से मोहित, बन्ध मोक्ष वाला और प्रत्यक्ष त्वं पद का वाच्य है, क्योंकि अपना स्वरूप किसी को परोक्ष नहीं है। "मैं हूँ" ऐसा प्रत्यक्ष सबको है। यद्यपि ईश्वर को भी अपना स्वरूप प्रत्यक्ष है, तथापि ईश्वर का स्वरूप जीवों को प्रत्यक्ष नहीं। अतः परोक्ष कहते हैं। और जीव के स्वरूप को जीव ईश्वर दोनों जानते हैं, अतः प्रत्यक्ष कहते हैं। इन उक्त धर्मों वाला जीव चेतन "त्वं" पद का वाच्य अर्थ है ॥ ३० ॥

**दोहा=महावाक्य में एकता, ह्वै दोनों की भान।**
**सो न बनै याते सुमति, लक्ष्य लक्षना जान ॥ ३१ ॥**

**टीका**=साम वेद के छान्दोग्य उपनिषद में कथा है कि उद्दालक मुनि ने अपने पुत्र श्वेत केतु को जगत् की उत्पत्ति कर्ता ईश्वर का उपदेश दे कर कहा कि "तत्त्वमसि" उसका वाच्य अर्थ है कि—"तत्" वह जगत् कर्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर—"त्वं" तूं अल्पज्ञ

अल्पशक्तिमाम् जीव "असि" है। यहाँ "वह==सो तूं है" इस कथन से जीव ईश्वर रूप तत् त्वं पद के वाच्य अर्थ की एकता का भान (ज्ञान) होता है, सो बन नहीं सकता है, क्योंकि, सर्वशक्ति और अल्प शक्ति, १, सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, २, विभु और परिच्छिन्न, ३, स्वतन्त्र और परतन्त्र=कर्माधीन, ४, परोक्ष और अपरोक्ष, ५, मायी और मोहित, ६, एक हैं, ऐसा कहना, "अग्नि शीतल है" इस कथन के समान है। अतः हे सुमति ! लक्षणा से ही लक्ष्य अर्थ को जानो, क्योंकि वाच्य अर्थ में विरोध है ॥ ३१ ॥

दोहा=आदि दोय नहिं सम्भवै, महावाक्य में तात ! ।
भाग त्याग याते लखहु, ह्वै जाते कुशलात ॥३२॥

टीका=हे तात ! महावाक्य में 'आदि दोय' प्रथम के दो=जहती अजहती लक्षणा नहीं सम्भव हैं। अतः भाग त्याग लक्षणा महावाक्य में लखो=जानो कि जिससे कुशलात=विरोध का परिहार हो ॥३२॥

दोहा=ज्ञेय जु साक्षी ब्रह्म चित, वाच्य माहिं सो लीन ।
मानै जहती लक्षना, ह्वै कछु ज्ञेय नवीन ॥ ३३ ॥

टीका=सम्पूर्ण वेदान्त से ज्ञेय, साक्षी चेतन, और ब्रह्म चित्= ब्रह्म चेतन है। सो साक्षी चेतन और ब्रह्म चेतन त्वंपद और तत्पद के वाच्य में लीन=प्रविष्ट हैं। और जहाँ जहती लक्षणा होती है, तहाँ सम्पूर्ण वाच्यार्थ को त्याग कर वाच्य का सम्बन्धी अन्य ज्ञेय होता है। अतः महावाक्य में जहती लक्षणा मानी जाय, तो वाच्य में प्रविष्ट (आया हुवा) चेतन से भिन्न नवीन=कल्पित अन्य कछु=कोई ज्ञेय सिद्ध होगा। और चेतन से भिन्न असत् जड दुःख रूप वस्तु के जानने से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती है। अतः महावाक्य में जहती लक्षणा नहीं मानी जाती है ॥३३॥

**दोहा=वाच्यहु सारो रहत है, जहाँ अजहती मीत।**
**वाच्य अर्थ सविरोध यूं, तजहु अजहती रीत ॥ ३४ ॥**

**टीका**=हे मीत=प्रिय! जहाँ अजहती लक्षणा होती है, तहाँ सम्पूर्ण वाच्य अर्थ ज्ञेय रहती है, और वाच्य से अधिक का भी ग्रहण=ज्ञान होता है। यदि महावाक्य में अजहती लक्षणा माने, तो सम्पूर्ण वाच्य अर्थ का ग्रहण होगा=सब वाच्यार्थ रहेगा। और सो वाच्यार्थ महावाक्यों में सविरोध=विरोध सहित है। और विरोध को दूर करने के लिए लक्षणा मानी जाती है, और अजहती मानने से महावाक्यों में विरोध दूर नहीं होता है, अतः अजहती की रीति को महावाक्यों में त्यागो ॥ ३४ ॥

॥ दोहा ॥ ( भाग त्याग लक्षणा )

**त्यागि विरोधी धर्म सब, चेतन शुद्ध असङ्ग।**
**लखहु लक्षणा ते सुमति, भाग त्याग यह अङ्ग ॥ ३५ ॥**

**टीका**=हे अङ्ग=हे प्रिय! तत्पद के वाच्य ईश्वर और त्वंपद के वाच्य जीव के विरोधी धर्मों को त्याग कर शुद्ध असङ्ग चेतन को लक्षणा से एक समझो=लखो, यही भाग त्याग लक्षणा है॥ इस स्थान में यह सिद्धान्त है कि ईश्वर जीव का स्वरूप अनेक प्रकार वाला अद्वैत ग्रन्थों में कहा है। विवरण ग्रन्थ में, अज्ञान में प्रतिबिम्ब रूप जीव और बिम्ब रूप ईश्वर कहा है॥ और स्वामीविद्यारण्य के मत में शुद्ध सत्त्वगुण सहित माया में आभास रूप ईश्वर, और मलिन सत्त्व-गुण सहित, अन्तः करण के उपादान कारण रूप, अविद्या के अंश में आभास रूप जीव कहा जाता है॥

यद्यपि पञ्चदशी ग्रन्थ में विद्यारण्य स्वामी ने अन्तःकरण में आभास को जीव कहा है। तथापि अन्तःकरण के आभास को जीव मानै, तो सुषुप्ति में अन्तःकरण के अभाव से जीव का अभाव होना

चाहिये, और प्राज्ञ स्वरूप जीव सुषुप्ति में भी रहता है। अतः विद्यारण्य स्वामी का यह अभिप्राय है कि अन्तः करण रूप परिणाम को प्राप्त होने वाली अविद्या के अंश में आभास जीव है। और वह अविद्या का अंश ( कारण रूप से अन्तः करण ) सुषुप्ति में रहता है, अतः प्राज्ञ का अभाव नहीं होता है। और केवल आभास ही जीव वा ईश्वर नहीं है, किन्तु माया का अधिष्ठान चेतन और माया सहित आभास ईश्वर हैं। और अविद्या के अंश का अधिष्ठान चेतन और अविद्या के अंश सहित आभास जीव है। ईश्वर की उपाधि में शुद्ध सत्त्व गुण है। अतः ईश्वर में सर्व शक्ति सर्वज्ञता आदि धर्म हैं। जीव की उपाधि में मलिन सत्त्वगुण है, अतः जीव में अल्पशक्ति अल्पज्ञता आदि धर्म हैं। इसको आभासवाद कहते हैं॥

और विवरण के मत में जीव ईश्वर दोनों की उपाधि यद्यपि एक ही अज्ञान है। अतः दोनों अल्पज्ञ होना चाहिये। तथापि जिस उपाधि में प्रतिबिम्ब होता है, उसका यह स्वभाव होता है कि प्रतिबिम्ब में अपने दोष गुण का आरोप करता है। बिम्ब में नहीं। जैसे दर्पण रूप उपाधि में मुख का प्रतिबिम्ब होता है, और ग्रीवा ( गरदन ) में स्थिर मुख बिम्ब रहता है। तहाँ दर्पण रूप उपाधि के श्याम, पीत, लघुता आदि अनेक दोष गुण प्रतिबिम्ब में भासते हैं। बिम्ब रूप मुख में नहीं। तैसे ही दर्पण स्थानी अज्ञान गत प्रतिबिम्ब रूप जीव में अज्ञानकृत अल्पज्ञता आदि भासते हैं, और बिम्ब स्वरूप ईश्वर में नहीं। अतः ईश्वर में सर्वज्ञतादिक हैं, और जीव में अल्पज्ञतादिक हैं॥

आभास और प्रतिबिम्ब का यह भेद है कि, आभास पक्ष में आभास मिथ्या है, और प्रतिबिम्बवाद में प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य है। क्योंकि प्रतिबिम्ब वाद में दर्पण में प्रतीत होने वाला मुख का प्रतिबिम्ब मुख की छाया नहीं है, क्योंकि छाया का यह स्वभाव है कि

जिस दिशा में छायावान् के मुख और पृष्ठ हों, उसी दिशा में छाया के मुख और पृष्ठ भी भासते हैं। और दर्पण में प्रतिबिम्ब के मुख तथा पीठ बिम्ब से विपरीत भासते हैं। अतः दर्पण में छाया रूप प्रतिबिम्ब नहीं। किन्तु दर्पण को विषय करने=प्रकाशने के लिये नेत्र द्वारा निकसी हुई अन्तःकरण की वृत्ति, दर्पण को विषय करके, तत्काल ही लौट कर, ग्रीवा में स्थिर मुख को विषय करती है, जैसे भ्रमण के वेग से आलात का चक्र भान होता है, चक्र रहता नहीं है। तैसे दर्पण और मुख के विषय करने में वृत्ति के वेग से, दर्पण में मुख भासता है। और ग्रीवा में ही रहता है, दर्पण में नहीं, और छाया भी दर्पण में नहीं रहता है। वृत्ति के वेग से दर्पण में मुख की प्रतीति मात्र प्रतिबिम्ब है। अन्य नहीं॥ इस रीति से दर्पण रूप उपाधि के सम्बन्ध से ग्रीवा में स्थिर एक मुख ही बिम्ब रूप और प्रतिबिम्ब रूप से भासता (प्रतीत होता) है। और विचार से बिम्ब प्रतिबिम्बभाव है नहीं। तैसे अज्ञान रूप उपाधि के सम्बन्ध से असङ्ग चेतन में विम्बस्थानी ईश्वर भाव और प्रतिबिम्ब स्थानी जीवभाव प्रतीत होता है, और विचार दृष्टि से ईश्वरता जीवता है नहीं। किन्तु अज्ञान से जो चेतन में जीवभाव=जीवता की प्रतीति होती है, सोई अज्ञान में प्रतिबिम्ब कहा जाता है। अतः बिम्बत्व प्रतिबिम्बत्व तो मिथ्या है, और स्वरूप से बिम्ब प्रतिबिम्ब सत्य है। क्योंकि बिम्ब प्रतिबिम्ब का स्वरूप दृष्टान्त में मुख है, और दार्ष्टान्त में चेतन है, सो मुख और चेतन सत्य है॥

इस रीति से प्रतिबिम्ब को स्वरूप से सत्य होने से सत्य कहते हैं। और आभास के स्वरूप को छाया मानते हैं, अतः वह मिथ्या है। यह आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद का भेद है॥

और कितने ग्रन्थों में, शुद्ध सत्त्वगुण सहित मायाविशिष्ट=युक्त चेतन को ईश्वर कहते हैं। और मलिन सत्त्व गुण सहित, अन्तःकरण का उपादान, अविद्या के अंश से विशिष्ट चेतन को जीव कहते

हैं । इस को अवच्छेदवाद कहते हैं ॥ यद्यपि सब ही वेदान्त की प्रक्रिया अद्वैत आत्मा के ज्ञान के लिये है । अतः जिस प्रक्रिया से जिस जिज्ञासु को बोध हो, सोई उसके लिये समीचीन है, तथापि वाक्य वृत्ति और उपदेश साहस्री में भाष्यकार ने आभासवाद ही लिखा है, अतः आभासवाद ही मुख्य है ॥ उस आभासवाद की रीति से माया और माया में आभास, और माया का अधिष्ठान चेतन, इन तीनों का समूह स्वरूप सर्वशक्ति सर्वज्ञतादि धर्म वाला ईश्वर है । सोई तत्पद का वाच्य है । और व्यष्टि=अंश रूप अविद्या, उसमें आभास, और उसका अधिष्ठान चेतन, इनका समूह स्वरूप अल्पशक्ति अल्पज्ञता आदि धर्म वाला जीव है, सो त्वंपद का वाच्य है । और उन दोनों की तत्त्वमसि, वाक्य से एकता का बोध कराया जाता है, सो बन नहीं सकता । अतः आभास सहित माया और मायाकृत सर्वज्ञता सर्वशक्ति आदि धर्म रूप तत्पद वाच्य भाग को त्याग कर, तत्सम्बन्धी चेतन भाग में तत्पद की लक्षणा है । तैसे आभास सहित अविद्या अंश और अविद्या कृत अल्पज्ञता अल्पशक्ति आदि धर्म रूप त्वंपद वाच्य भाग को त्याग कर चेतन भाग में त्वंपद की भाग त्याग लक्षणा है । इस रीति से भाग त्याग लक्षणा के द्वारा ईश्वर और जीव के स्वरूप गत लक्ष्य चेतन भाग की एकता को "तत्त्वमसि" महा वाक्य बोध कराता है ॥

तैसे "अयमात्मा ब्रह्म" इस वाक्य में, आत्मपद का जीव वाच्य है, और ब्रह्म पद का ईश्वर वाच्य है । ब्रह्म पद का शुद्ध वाच्य नहीं, ईश्वर ही वाच्य है, यह चतुर्थ तरङ्ग में प्रतिपादन किया गया है । पूर्व के समान दोनों पद में लक्षणा है । और लक्ष्य अर्थ परोक्ष नहीं है, इस अर्थ को समझाने के लिये 'अयं' पद है । 'अयं' सबके अपरोक्ष आत्मा ब्रह्म है । यह वाक्य का अर्थ है । "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य में अहं पद का जीव वाच्य है । और ब्रह्म पद का ईश्वर वाच्य है । दोनों पदों की चेतन भाग में लक्षणा है । 'मैं ब्रह्म हूँ" यह वाक्य का अर्थ

है। "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस महावाक्य में प्रज्ञानपद का जीव वाच्य है ब्रह्म पद का ईश्वर हैं। पूर्व के समान लक्षणा है। लक्ष्य ब्रह्मात्मा आनन्द गुण वाला नहीं, किन्तु आनन्द स्वरूप हैं, इस अर्थ को समझाने के लिए आनन्द पद है। आत्मा से अभिन्न ब्रह्म आनन्द स्वरूप है, यह वाक्य का अर्थ हैं ॥

जैसे महावाक्यों में भाग त्याग लक्षणा है, तैसे अन्य वाक्यों में, सत्य, ज्ञान और आनन्द पद भी भाग त्याग लक्षणा से ही शुद्ध ब्रह्म के बोधक होते हैं। क्योंकि शुद्ध ब्रह्म किसी पद का वाच्य नहीं, यह सिद्धांत है। अतः सत्यादि सब पद विशिष्ट के वाचक, और शुद्ध के लक्षक हैं। माया की आपेक्षिक सत्यता और चेतन की निरपेक्षिक सत्यता मिली हुई सत्य पद का वाच्य हैं। निरपेक्षिक सत्य लक्ष्य है। बुद्धि वृत्ति रूप ज्ञान और स्वयं प्रकाश ज्ञान दोनों मिले हुए ज्ञानपद का वाच्य है। और स्वयं प्रकाश भाग लक्ष्य है। विषय सम्बन्ध जन्य सुखाकार अन्तःकरण की वृत्ति और परम प्रेम का आस्पद स्वरूप सुख, ये दोनों मिलित आनन्द पद का वाच्य हैं। वृत्ति को त्याग कर स्वरूप भाग लक्ष्य है। इस रीति से सब पदों की शुद्ध चेतन में लक्षणा का प्रतिपादन संक्षेप शारीरक में किया गया है ॥

॥ उक्तार्थ संग्रह ॥ ॥ कवित्त ॥

"गङ्गा में ग्राम" जहति लक्षणा ठौर लखि,<br>
"शोण धावै" लक्षणा अजहति जनाइये[1]।<br>
"सोइ यह वस्तु" इहाँ, लक्षना है भाग त्याग,<br>
दूजो नाम जहति अजहति सुनाइये[1] ॥<br>
"तत्त्वमसि" आदि महावाक्यन में भागत्याग,<br>
लक्षणा न जहति अजहति बताइये[1]।

१ समझिये—समझाइये।

ब्रह्म काहु पद को न वाच्य यूं बखानै वेद,
याते सर्व पदन मैं रीति यूं लखाइयै ॥६॥
माया माँहि सत्यता जु और[1] भाँति भाखियत,
ब्रह्ममाँहि सत्यता सु और[2] भाँति भाखिये ।
दोउ मिलि सत्य पद वाच्य मुनि भाखत हैं,
ब्रह्म माँहि सत्यता सुलक्ष्य भाग राखिये ॥
बुद्धि वृत्ति संवित[3] द्वै मिले ज्ञानपद वाच्य,
संवित स्वरूप लक्ष्य बुद्धि वृत्ति नाखिये[4] ।
आत्म और विषय को सुख, वाच्य पद आनन्द को,
विषय सुख त्यागि आत्म सुख लक्ष्य[5] आखिये ॥७॥

महावाक्यों में विरोध को दूर ( निवारण ) करने के लिये दोनों पदों में लक्षणा मानी गई है, तहाँ कहते हैं कि एक पद में लक्षणा के मानने से ही विरोध दूर हो जाता है, अतः दोनों पद में लक्षणा मानने का कोई फल नहीं है ॥

॥ दोहा ॥

एक हि पद में लक्षना, मानैं नहीं विरोध ।
दोय पदन में लक्षना, निष्फल कहत सुबोध ॥३६॥

**टीका**==सुबोध=सुज्ञ=सुन्दर विद्वान्, दो पदों में लक्षणा निष्फल कहते हैं । क्योंकि एकही पद में लक्षणा के मानने से विरोध दूर हो जाता है । इसका यह भाव है कि—यद्यपि शर्वज्ञतादि विशिष्ट की

---

१ व्यावहारिक=आपेक्षिक सत्यता कहते है, माया अपने कार्यों की अपेक्षा सत्य है । ब्रह्म की अपेक्षा से नहीं ॥ २ पारमार्थिक-निरपेक्ष-सत्यता कहते हैं, ब्रह्म सर्वापेक्षा से सत्य है ॥ ३ चित्स्वरूपात्मा ॥ ४ त्यागिये ॥ ५ कहिये ॥

अल्पज्ञतादि विशिष्ट के साथ एकता नहीं बन सकती है। तथापि एक पद के लक्ष्य शुद्ध आत्मा की विशिष्ट अन्य पदार्थ के साथ एकता बन सकती है ॥ जैसे "शूद्र मनुष्य ब्राह्मण है" इस रीति से शूद्रत्व-धर्म विशिष्ट मनुष्य की ब्राह्मणत्व धर्मविशिष्ट के साथ एकता कहना विरुद्ध है। और मनुष्य ब्राह्मण है, इस रीति से शूद्रत्व धर्म रहित शुद्ध मनुष्य को ब्राह्मणत्व विशिष्टता ( ब्राह्मण के साथ एकता ) कहने में विरोध नहीं। तैसे अल्पज्ञतादि धर्म विशिष्ट चेतन की और सर्वज्ञतादि धर्म विशिष्ट की एकता विरुद्ध भी है, परन्तु जीव वाचक पद वा ईश्वर वाचक पद की चेतन में लक्षणा करके चेतन मात्र की सर्वज्ञतादि धर्म विशिष्ट के साथ, या अल्पज्ञतादि विशिष्ट के साथ एकता कहने में विरोध नहीं है, अतः दो पद में लक्षणा मानने में कोई युक्ति नहीं है ॥३६॥

॥ समाधान ॥=॥ कवित्त ॥

लक्षणा जो कहै एक पद माँहि ताहि यह,<br>
पूछि दोय पदन में कौन से में लक्षणा।<br>
प्रथम वा द्वितीय में कहै ताहि भाखि यह,<br>
वाक्यन को होय गो विरोध मूढ लक्षणा॥<br>
तीनि वाक्य मध्य जीव-वाचक प्रथम पद,<br>
"तत्त्वमसि" यामें आदि पद ईश लक्षणा।<br>
प्रथम वा द्वितीय को नेम नहिं बनै याते,<br>
भाखत द्वै पदन में लक्षणा सुलक्षणा॥८॥

टीका=जो एक पद में लक्षणा मानै, उसको यह पूछना चाहिये कि, दोनों पदों में से कौन पद में लक्षणा मानते हो॥ यदि कहै कि, सब महा वाक्यों के प्रथम पद में लक्षणा है, द्वितीय में नहीं। अथवा सबके द्वितीय पद में लक्षणा है, प्रथम में नहीं॥ हे शिष्य! उसको

यह भाखि=कहो कि—हे मूढ लक्षण ! प्रथम या द्वितीय पद में यदि नियम से सब वाक्यों में लक्षणा मानैं, तो वाक्यों का परस्पर विरोध होगा । क्योंकि ( तीन वाक्य मध्ये ) "अहं ब्रह्मास्मि" "प्रज्ञानमानन्दं-ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" इन तीन वाक्यों में जीव वाचक पद प्रथम= पहले हैं । और "तत्त्वमसि" इस एक वाक्य में आदि पद = प्रथम पद, ईशलक्षण=ईश्वर का बोधक है । यदि सब वाक्य के प्रथम पद में लक्षणा मानैं, तो तीन वाक्यों का तो यह अर्थ होगा कि—सब चेतनात्मा सर्वज्ञतादि विशिष्ट ईश्वर स्वरूप हैं । और "तत्त्वमसि" वाक्य का यह अर्थ होगा कि—चेतनात्मा अल्पज्ञतादि विशिष्ट संसारी जीव रूप है । क्योंकि तीन वाक्य में प्रथम जीव वाचक पद हैं, उसकी चेतन भाग में लक्षणा होगी, और द्वितीय ईश्वर वाचक पद के वाच्य का ग्रहण होगा ।। और "तत्त्वमसि" वाक्य में प्रथम ईश्वर वाचक पद है, उसकी चेतन भाग में लक्षणा होगी, और द्वितीय जीव वाचक पद के वाच्य का ग्रहण होगा । अतः इसरीति से लक्षणा का प्रथम पद में नेम=नियम करैं, तो वाक्यों का परस्पर विरोध होगा । तैसे सब वाक्यों के द्वितीय=अगले पद में लक्षणा मानै तो, तीन वाक्यों में प्राथमिक जीव पदों के वाच्य का ग्रहण होगा, और उत्तर ईश पद की चेतन भाग में लक्षणा होगी । अतः अल्पज्ञतादि विशिष्ट चेतन है, यह तीन वाक्यों का अर्थ होगा । और "तत्त्वमसि" में आदि= प्रथम ईश पद के वाच्य का ग्रहण होगा । और द्वितीय जीव पद की चेतन भाग में लक्षणा होगी, अतः सर्वज्ञतादि विशिष्ट चेतन है । यह तत्त्वमसि का अर्थ होने से परस्पर विरोध ही होवेगा ।।

इस रीति से प्रथम वा द्वितीय पद में लक्षणा का नेम नहीं बन सकता है । अतः सुलक्षणा=सुन्दर लक्षण वाले आचार्य द्वैपदन= दोनों पदों में लक्षणा भाखते=कहते हैं ।।८।।

यदि ऐसे कहै कि प्रथम पद वा द्वितीय पद में लक्षणा का नियम नहीं है, किन्तु सब महावाक्य गत ईश्वर वाचक पद में लक्षणा का नियम है सो ईश्वर वाचक पद प्रथम हो, या उत्तर में हो, उसमें लक्षणा वृत्ति के मानने से वाक्यों का परस्पर विरोध नहीं है ।।

॥ इसका समाधान ॥

॥ दोहा ॥

**ईश पद हि लक्षक कहै, सब अनर्थ की खानि ।**
**ज्ञेय होय श्रुति वाक्य में, ह्वै पुरुषारथ हानि ॥३८॥**

**टीका**=यदि ईश्वर वाचक पद को ही लक्षक=लक्षणा से बोधक कोई कहै, तो सब अनर्थ=अल्पज्ञता-पराधीनता-संसारिता आदि रूप दुःख की खानि स्वरूप संसारी जीव ही श्रुति वाक्यों में ज्ञेय होगा, अतः पुरुषार्थ=मोक्ष की हानि होगी ॥

इसका यह भाव है कि ईश्वरवाचक पद में ही लक्षणा मानने पर, वाक्यों का यह अर्थ होगा कि "तत्पद का लक्ष्य जो अद्वय असङ्ग मायामल रहित चेतन, सो कामादि के अधीन अल्पज्ञ, अल्प शक्ति, परिच्छिन्न, है, और पुण्य पाप, सुख दुःख, जन्ममरणादि अनन्त अनर्थ का पात्र है"। यदि महावाक्य का ऐसा अर्थ हो, तो जिज्ञासु को इसी अर्थ में बुद्धि की स्थिति करनी होगी। और जिसमें बुद्धि की स्थिति रहती है, प्राण वियोग के अनन्तर उसी की प्राप्ति होती है, अतः वेद वाक्यों के विचार से मुमुक्षु को अनर्थ की ही प्राप्ति होगी। आनन्द की नहीं। अतः ईश्वर वाचक पद में लक्षणा है। जीव वाचक में नहीं। यह नियम असङ्गत है ॥ ३८ ॥

और यदि ऐसे कहै कि सब महावाक्यों के जीव वाचक पदों में लक्षणा है, ईश वाचक पदों में नहीं, अतः पुरुषार्थ की हानि का प्रसङ्ग

नहीं है, क्योंकि जीव वाचक पदों में लक्षणा मानैं, तो महावाक्यों का यह अर्थ होगा कि—"जो त्वंपद का लक्ष्य चेतन भाग है, सो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति वाला, स्वतन्त्र जन्मादि बन्धन रहित ईश्वर स्वरूप है"। इस अर्थ में बुद्धि की स्थिति से जिज्ञासु को अति उत्तम ईश्वर भाव की ही प्राप्ति होगी। अतः जीव वाचक पद में लक्षणा का नियम कर्तव्य है ॥

॥ इसका समाधान ॥ दोहा ॥

**साक्षी त्वंपद लक्ष्य कहु, कैसे ईश स्वरूप।**
**याते दोपद लक्षना, भाखत यतिवर-भूप ॥ ३९ ॥**

**टीका**=त्वंपद का लक्ष्य जो साक्षी, सो ईश स्वरूप कैसे ? यह कहु। अर्थ यह है कि—त्वंपद के लक्ष्य को ईश्वर स्वरूप कहना नहीं बन सकता है। अतः यतियों=संन्यासियों में वरों=श्रेष्ठों का भूप=स्वामी दोनों पद में लक्षणा भाखते=कहते हैं ॥

इसका यह भाव है कि, यदि जीव वाचक पद में लक्षणा मानी जाय। और ईशवाचक पद में नहीं। तो विचारना चाहिये कि—जीव वाचक पद की लक्षणा व्यापक चेतन में हो सकती है। अथवा जीव की उपाधि देश मात्र में स्थित साक्षी चेतन में लक्षणा हो सकती है। तहाँ व्यापक चेतन में तो त्वंपद की लक्षणा विचार से नहीं सिद्ध हो सकती। क्योंकि वाच्यार्थ में जिसका प्रवेश हो, उसी अर्थ में भाग त्याग लक्षणा होती है, और त्वंपद के वाच्य में व्यापक चेतन का प्रवेश नहीं रहता है। किन्तु जीवता की उपाधि देश में स्थित साक्षी चेतन का त्वंपद के वाच्य में प्रवेश रहता है। अतः साक्षी चेतन में ही त्वंपद की लक्षणा होती है। व्यापक चेतन में नहीं। और उस साक्षी चेतन में अन्तर्यामिता, व्यापकता आदि ईश्वर के धर्मों का असम्भव हैं। और सदा अपरोक्ष साक्षी में ईश्वर के परोक्षता धर्म का सर्वथा अत्यन्त असम्भव

है। और माया रहित को माया सहित कहना असम्भव है। जैसे अदण्डी को दण्डी कहना, संस्कार रहित को संस्कृत कहना असम्भव है। अतः साक्षी का ईश्वर से अभेद वाक्यों से कहा जाय, तो महावाक्य असंभावित अर्थ के प्रतिपादक होंगें ॥

और दोनों पद में लक्षणा मानैं तो कोई दोष नहीं है। क्योंकि एकता के विरोधी धर्मों को त्याग कर, प्रकाश स्वरूप सर्व धर्म रहित चेतन भाग में दोनों पद की लक्षणा है ॥ उपाधि और उपाधि कृत धर्मों से चेतन का भेद है, स्वरूप से नहीं। अतः उपाधि और उपाधि कृत धर्मों को त्यागने पर, दोनों पदों के लक्ष्य चेतन की एकता का सम्भव है। जैसे घटकाश में घट दृष्टि को त्याग कर मठ विशिष्ट आकाश से एकता नहीं बनती हैं। और मठ दृष्टि को भी त्यागने पर एकत बनती है ॥ ३९ ॥

॥ दोहा ॥

तत् त्वं त्वं तत् रीति यह, सब वाक्यन में जानि।
जाते होय परोक्षता, परिच्छिन्नता हानि ॥ ४० ॥

**टीका**=सब वाक्यों में "तत् त्वं, त्वं तत्" इस रीति से ओत प्रोत भाव की रीति को जानि=जानो, कि जिस ओत प्रोत भाव के करने से वाक्य के अर्थ में परोक्षता और परिच्छिन्नता की भ्रान्ति की हानि होती है। 'तत् त्वम्" इस कथन से तत्पद के अर्थ का त्वंपद के अर्थ से अभेद कहा जाता है, और सो त्वंपद का अर्थ साक्षी नित्य अपरोक्ष है, अतः उससे अभिन्न तत्पदार्थ में परोक्षता की भ्रान्ति निवृत्त होती है। और "त्वं तत्" इस कथन से त्वं पद के अर्थ का तत्पद के अर्थ से अभेद सिद्ध होता है। अतः त्वं पदार्थ में परिच्छिन्नता की भ्रान्ति की निवृत्ति होती है ॥ तैसे ही "अहं ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, आत्मा ब्रह्म,' इन

कथनों से परिच्छिन्नता की हानि होती है । और "ब्रह्म अहं, ब्रह्म प्रज्ञानम् ब्रह्म आत्मा" इन से परोक्षता की हानि होती है ॥ ४० ॥

दोहा—जीव ब्रह्म की एकता, कहत वेद-स्मृति बैन ।
शिष्य तहाँ पहिचानिये, भाग त्याग की सैन ॥ ४१ ॥

टीका—जहाँ जो वेद बैन—वाक्य, और स्मृति बैन जीव ब्रह्म की एकता कहै, तहाँ सब वाक्य में भाग त्याग का सैन—तात्पर्य पहचानना चाहिए ॥ ४१ ॥

दोहा—अस शिष गुरु उपदेश सुनि, भौ ततकाल निहाल[1] ।
भलै विचारै याहि जो, ताके नशत जञ्जाल[2] ॥ ४२ ॥

सोरठा—मिथ्या गुरु सुर[3] बानि, कियो ग्रन्थ उपदेश यह ।
सुनत करत तम हानि, यह ताकी भाषा करी ॥ ३ ॥

॥ दोहा ॥

अगृध[4] देव कूं स्वप्न में, यह किय गुरु उपदेश ।
नश्यो न तहुँ दुःखमूल वह, मिथ्या बन को बेष ॥४॥

॥ बेष—स्वरूप—आकार ॥

॥ चौपाई ॥

भगवन तुम यह ग्रन्थ पढ़ायो । अर्थ सहित सो मो हिय आयो ॥
बन दुख मूल तऊ मुहि भासै । कहु उपाय जाते यह नाशै ॥३॥

---

१ निहाल—कृतकृत्य—जीवन्मुक्त ॥ २ मोहादि रूप संसार ॥
३ देव भाषा संस्कृत में मिथ्या गुरु ने उपदेश किया ॥

४ अनिच्छा, परेच्छा, निजेच्छा से प्रारब्ध का भोग जाग्रत् काल में होता है । परन्तु स्वप्न में अनिच्छा से ही भोग होता है । अगृध ( इच्छा रहित ) देव जीवात्मा को कुभोग प्राप्त हुवा, तो भोग की समाप्ति के विना दुःख मूल मिथ्या भी वह दुःख का कारण रूप बन का स्वरूप नहीं मिटा ॥

॥ गुरुरुवाच ॥

बोले गुरु सुनि शिष की बानी । सुनु शिष ह्वै जाते बन हानी ॥
अस उपाय को और नहीं है । बन का नाशक हेतु यही है ॥४॥
महावाक्य का अर्थ विचारहु । "मैं अगृध" यूं टेरि पुकारहु ॥
सुनि पुनि वाक्य विचारे चेला । "अहं अगृध" यह दीनो हेला ॥५॥
निद्रा गई नैन परकासे । बन गुरु ग्रन्थ सबै वह नाशै ॥
भयो सुखी बनदुख विसरायो । हुतो[1]अगृध[1]निज रूप सुपायो॥६॥

॥ दोहा ॥

अगृध देव में नीन्द ते, भौ बन दुख जिहि रीति ।
आतम में अज्ञान ते, त्यूं जग दुःख प्रतीति ॥ ४५ ॥
ज्यूं मिथ्या गुरु ग्रन्थ ते, मिथ्या बन संहार ।
त्यूं मिथ्या गुरु वेद ते, मिथ्या जग परिहार ॥ ४६ ॥
लक्ष्य अर्थ लखि वाक्य को, ह्वै जिज्ञासु निहाल ।
निरावरण सो आप हैं, दादू दीन दयाल ॥ ४७ ॥

इति श्री विचार सागरे गुरु वेदादि साधन मिथ्यात्व वर्णनं नाम षष्टस्तरङ्गः समाप्त ॥ ६ ॥

ॐ शम शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

---

१ हुतो=था। जो अगृध था सो अपने स्वरूप को पाया (समझा) जैसे स्वप्न के मिथ्या गुरु और ग्रन्थ से मिथ्या बन का नाश हुआ, तैसे जाग्रत् के मिथ्या (व्यावहारिक) गुरु और वेद से मिथ्या जन्मादि रूप संसार की निवृत्ति होती है ॥ ४६ ॥ क्योंकि गुरुद्वारा वेद वाक्य के लक्ष्यार्थ को समझ कर जिज्ञासु निहाल (संसार रहित) होता है, और सो लक्ष्यार्थ स्वरूप दीनदयालु ( ईश्वरात्मा ) दादूगुरु आप हैं, अतः दादूस्वरूप गुरु के उपदेश से अवश्य मिथ्या जगत की निवृत्ति होती है ॥ ४७ ॥

भूमि पदारथाऽभाविनी, मिथ्या जग संहार ।
सुगुरु कृपा ते पाइये, रहि असग संसार ॥ १ ॥

# ॥ विचार सागर । सप्तमस्तरङ्ग ॥

## ॥ अथ जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति वर्णनम् ॥

ज्ञानी के व्यवहार में नियम नहीं है--

॥ दोहा ॥

उत्तम मध्यम कनिष्ठ तिहुँ, सुनि अस गुरु उपदेश ।
ब्रह्म आत्म उत्तम लख्यो, रह्यो न संशय लेश ॥ १ ॥

यद्यपि गुरु ने तीनों को साथ ही उपदेश दिया, तथापि गुरु के उपदेश से उत्तम तत्त्वदृष्टि को आत्मा का साक्षात्कार ( अपरोक्ष-ज्ञान ) हुआ ॥ १ ॥

भ्रमण करत ज्यों पवन ते, सूखो पीपर पात ।
शेष[1] कर्म प्रारब्ध ते, क्रिया करत दरशात ॥२॥
कबहुँक चढ़ि रथ वाजि गज, बाग बगीचे देखि ।
नग्न पाद पुनि एकले, फिर आवत तिहि लेखि ॥३॥
विविध वेष शय्या[2] शयन, उत्तम भोजन भोग ।
कबहुँक अनशन[3] गिरि, गुहा, रजनि शिला संयोग ॥४॥
करि प्रणाम पूजन करत, कहुँ जन लाख हजार ।
उभय लोक ते भ्रष्ट[4] लखि, कहत कर्मि धिक्कार ॥५॥
जो ताकी पूजा करत सञ्चित[5] सुकृत सु लेत ।
दोष दृष्टि तिहि जो लखै ताहि पाप फल देत ॥६॥

---

१ शेष==अभुक्त=बाकी प्रारब्ध कर्म से । २ पलंग पर शयन ॥ ३ उपवास । ४ पतित ॥ ५ पुण्य ॥

ऐसे ताके देह को, बिना नियम व्यहार।
कबहुँ न भ्रम संदेह ह्वै, लख्यो तत्त्व[1] निर्धार ॥ ७ ॥
नहिं ताको कर्तव्य कछु, भयो भेद भ्रम नाश।
उपज्यो वेद प्रमाण ते, अद्वय ब्रह्म प्रकाश ॥८॥

(ज्ञानी के व्यवहार में नियम का आक्षेप)

ज्ञानी के समाधि और शरीर निर्वाह से अधिक प्रवृत्ति के अभाव के नियम का आगे आक्षेप (खण्डन) किया जाता है कि—

ज्ञानी के व्यवहार में, कोइ कहत हैं नेम।
त्रिपुटि[2] तजै दुख हेतु लखि, लहै सलाध सप्रेम ॥९॥
ह्वै किञ्चित व्यवहार जो, भिक्षाऽशन जल पान।
भूलै नाहि समाधि सुख, ह्वै त्रिपुटी ते ग्लान ॥१०॥
लहै प्रयत्न समाधि को, पुनि ज्ञानी इह हेत।
जो समाधि सुख तजि भ्रमत, नर कूकर खर प्रेत ॥१०॥
गौड़ पाद मुनि कारिका, लिख्यो समाधि प्रकार।
ज्ञानी तजि विच्छेप यों, लहै सकल सुख सार ॥१२॥
अष्ट अङ्ग बिनु होत नहिं, सो समाधि सुख मूल।
अष्ट अङ्ग ते अब सुनो, जे समाधि अनुकूल ॥१३॥
पाँच-पाँच यम नियम लखि, आसन बहुत प्रकार।
प्राणायाम अनेक विधि, प्रत्याहार विचार ॥१४॥
छठी धारणाध्यान पुनि, अरु सविकल्प समाधि।
अष्ट अङ्ग ये साधि के निर्विकल्प आराधि ॥१५॥

---

१ सत्यात्मा का निश्चय ज्ञान= अपरोक्षानुभव ॥

२ ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयादि तीन के समूह को, भोक्ता भोग्य भोगादि भेद दृष्टि को त्यागे।

सुनि समाधि कर्तव्यता, तत्त्व दृष्टि हँसिदेत ।
उत्तर कछु भाखत नहीं, लखितिहि बकत सप्रेत ॥१६॥

**टीका**=सप्रेत=प्रेत सहित=प्रेताविष्ट जैसे बकै, तैसे अन्यथा वचन सुनकर तत्त्व दृष्टि ( ज्ञानी ) हँसता है। अन्य अक्षरार्थ स्पष्ट है ॥ भाव है कि ज्ञानवान् के शरीर व्यवहार का नियम नहीं है, क्योंकि ज्ञानी के अज्ञान और अज्ञान के कार्य भेद भ्रान्ति तथा भेदभ्रम के कार्य रागद्वेषादि तो रहते नहीं हैं। किन्तु प्रारब्ध कर्म शेष रहते हैं, सोई ज्ञानी के व्यवहार के निमित्त=कारण होते हैं। और सो प्रारब्ध पुरुष ( प्राणी ) भेद से नाना प्रकार के होते हैं। अतः ज्ञानी के प्रारब्धकर्मजन्य व्यवहार का नियम नहीं हो सकता है। यह सिद्धान्त पद्य है ॥

कोई कहते कि ज्ञानी के व्यवहार में अन्य किसी कर्म का नियम तो नहीं है, किन्तु ज्ञानी की निवृत्ति का नियम है, प्रवृत्ति भी हो तो भिक्षा, भोजन, कौपीन, आच्छादन ( वस्त्र ) के ग्रहण में प्रवृत्ति होनी चाहिये, अन्य नहीं। क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति से प्रथम जिज्ञासा काल में दोषदर्शनादि से वैराग्य होता है, सो वैराग्य ज्ञान की उत्पत्ति के बाद ( पीछे ) भी दोष दृष्टि, तथा विषयों में मिथ्यात्व बुद्धि से बना रहता है। क्योंकि अपरोक्ष रूप से मिथ्या समझे हुए पदार्थों में फिर सत्य बुद्धि नहीं होती है, और दोष दृष्टि से राग नहीं होता है, अतः ज्ञानी में राग के असम्भव से राग मूलक ज्ञानी की प्रवृत्ति नहीं होती है। और शरीर निर्वाहक भोजनादि में तो रागादि के बिना भी प्रारब्ध कर्म से प्रवृत्ति का सम्भव है। क्योंकि कर्म तीन प्रकार के होते हैं। सो सञ्चित १ आगामी २ और प्रारब्ध ३ कहे जाते हैं। उनमें जन्मान्तर कृत फलारम्भ रहित कर्म सञ्चित कहाते हैं, १। भविष्यत् कर्म आगामी कहाते हैं, २। जन्मान्तरकृत वर्तमान शरीरादि

के हेतु कर्म प्रारब्ध कहाते हैं, ३।। उनमें सञ्चित कर्म का ज्ञान से नाश होता है। १। और आत्मा में कर्तृत्वादि के भ्रम अभिमानादि के अभाव से ज्ञानी में आगामी का सम्भव=संग नहीं होता है। २ ।। परन्तु जिस प्रारब्ध ने ज्ञानी के शरीर का आरम्भ किया है। सोई कर्म शरीर की स्थिति के लिये भिक्षादि प्रवृत्ति कराता है, क्योंकि प्रारब्ध कर्म का भोग के बिना नाश नहीं होता है ।।

कोई कहते हैं कि सञ्चित और आगामी कर्मों के समान ज्ञानी के प्रारब्ध[1] कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ( नहीं रहते हैं ) अतः ज्ञानी की भोजनादि में भी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, उस कथन का अभिप्राय है कि ज्ञानी की दृष्टि से आत्मा में कर्म तथा कर्म फल का सम्बन्ध नहीं होता है। अतः इस अभिप्राय से ही आत्मा में प्रारब्ध का भी निषेध किया है। प्रारब्ध से ज्ञानी को शारीरिक भोग नहीं होता है, इस अभिप्राय से प्रारब्ध कर्म का निषेध नहिं किया गया है। क्योंकि सूत्रकार ने ब्रह्म सूत्र में लिखा है कि ज्ञानी के सञ्चित कर्म का ज्ञान से नाश होता है। आगामी का सम्बन्ध नहीं होता है, प्रारब्ध का भोग से नाश होता हैं। अतः प्रारब्ध के बल से शरीर निर्वाहक क्रिया ज्ञानी की होती है। अधिक नहीं ।।

परन्तु यहाँ शंका होती है कि कर्म नाना प्रकार के होते हैं, जहाँ एक कर्म नाना शरीर का आरम्भक हो, तहाँ प्रथम रचित शरीर में जिसको ज्ञान हो, उस ज्ञानी को भी अन्य शरीर की प्राप्ति होनी चाहिये क्योंकि वर्तमान फलारम्भक कर्म को प्रारब्ध कहते हैं, और पूर्ण फल भोग के बिना उसका नाश नहीं होता है, और अनेक शरीर के हेतु कर्म जन्य प्रथम शरीर में जिसको ज्ञान होता है उसके ज्ञान के बाद भी

---

१ ( तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते। देहादीनामसत्त्वात्तु यथा स्वप्नो निबोधतः। अपरोक्षानुभूतिः, ९१ )

शरीर का हेतु प्रारब्ध कर्म बाकी ( शेष ) रहता है, अतः उससे उस ज्ञानी को भी अन्य शरीर की प्राप्ति होनी चाहिये ।

यदि कहा जाय कि इस प्रकार के ज्ञानी का भी शेष कर्म के भोग पर्यन्त जन्म होता है । कर्म फल भोगना पड़ता है, परन्तु प्रारब्ध से अधिक भोग ज्ञानी को नहीं होता है, अतः ज्ञान भी सफल होता है, तो सो कहना नहीं बन सकता है, क्यों कि वेद का ढँढोरा है कि "ज्ञानी के प्राण अन्य लोक वा इस लोक के अन्य शरीर में नहींजाते हैं" किन्तु शरीर के पात स्थान में ही अन्तः करण इन्द्रिय सहित प्राण लीन होते हैं । और प्राण के गमन के बिना अन्य शरीर की प्राप्ति का सम्भव नहीं है । अतः प्रारब्ध कर्म के शेष ( बाकी ) रहने पर ज्ञानी को फिर शरीर होता है, यह कहना नहीं बन सकता है ॥ किन्तु उक्त शंका का यह समाधान है कि जहाँ अनेक शरीर का आरम्भक ( जनक ) एक कर्म हो, तहाँ अन्तिम शरीर में ज्ञान होता है, पूर्व शरीर में नहीं, क्योंकि अनेक शरीर का आरम्भक कर्म ही ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है। जैसे विषयासक्ति, बुद्धिमन्दता, कुसङ्ग, भेदवाद में विश्वासादि ज्ञान के प्रतिबन्धक होते हैं । तैसे विलक्षण प्रारब्ध भी ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है । और ज्ञान के प्रतिबन्धक रहते ज्ञान के साधन श्रवणादि करने पर, प्रतिबन्धक के नष्ट होने पर जन्मान्तर में श्रवणादि के बिना भी पूर्वजन्म के श्रवणादि के संस्कार से ज्ञान होता है । जैसे वामदेव ने पूर्व जन्म में श्रवणादिकिये, किन्तु प्रारब्ध के शेष रहने से ज्ञान नहीं हुवा, फिर शरीर के पात होने पर, प्रतिबन्धक की निवृत्ति से श्रवणादि के संस्कार द्वारा गर्भ में ही ज्ञान हो गया । अतः ज्ञान के अनन्तर अन्य शरीर का सम्भव नहीं है । और वर्तमान शरीर की चेष्टा प्रारब्ध से होती है, सो शरीर के निर्वाह मात्र के लिये होती है, अधिक नहीं । अतः रागादि के अभाव से सब प्रवृत्ति से रहित ज्ञानी रहता है । उसका व्यवहार निवृत्ति प्रधान होता है ॥

यहाँ शंका होती है कि मन अतिचञ्चल स्वभाव वाला है, निरालम्ब मन की स्थिति नहीं होती हैं, किसी अवलम्बन से मन स्थिर होता है, अतः मन के किसी अवलम्ब के लिये ज्ञानी की अवश्य प्रवृत्ति होती है। इस शंका का समाधान है कि यद्यपि समाधि रहित प्राणी का मन चञ्चल रहता है, तथापि समाधि से मन का विजय होता है। और ज्ञानी समाधिस्थ रहता है, अतः उसकी अन्य प्रवृत्ति नहीं होती है। और सो समाधि, यम, १ नियम, २, आसन, ३, प्राणायाम, ४, प्रत्यहार, ५, धारणा, ६, ध्यान, ७, और सविकल्प समाधि, ८, इन आठ अङ्गों ( साधनों ) से प्राप्त होती है ॥

अहिंसा १, सत्य २, अस्तेय ३, ब्रह्मचर्य ४, और अपरिग्रह ५ ये पाँच यम कहे जाते हैं। शौच १, सन्तोष २, तप ३, स्वाध्याय ४, और ईश्वर प्रणिधान ( चिन्तन=भक्ति ) ये पाँच नियम कहे जाते हैं। और ज्ञान समुद्र ग्रन्थ में दश प्रकार के यम और दश प्रकार के नियम कहे गये हैं। सो पुराण की रीति से कहे गये हैं, वेदान्त के संप्रदायादि में यम और नियम के पाँच-पाँच भेद कहे गये हैं। और आसन के अनन्त भेद हैं, उनमें स्वस्तिक १, गोमुख २, वीर ३, कूर्म ४, पद्म ५, कुक्कुट ६, उत्तान ७, धनुष ८, मत्स्य ९, पश्चिमतान १०, मयूर ११, शव १२, सिंह १३, भद्र १४, सिद्ध १५, इत्यादिक चौरासी आसन योग ग्रन्थों में वर्णित है। उनके लक्षण भी कहे गये हैं। ग्रन्थ के विस्तार के भय से तथा वेदान्त में अत्यन्त उपयोग ( फल ) के अभाव से यहाँ लक्षण नहीं लिखे गये हैं। उन आसनों में सिंह १, भद्र २, पद्म ३ सिद्ध ४ ये चार आसन प्रधान हैं। उनमें भी सिद्ध आसन अत्यन्त प्रधान है। वामेपाद ( चरण ) की ऐंडी को गुदा और मेढ़् के मध्य मेंढ़् लगाकर नाडी को दबाकर धरे, और दहिने पैर की ऐंडी को मेढ़् ( लिंग ) के ऊपर दाव कर धरे, भ्रुकुटी के अन्तर में दृष्टि को स्थिर रखे, फिर स्थाणुतुल्य

निश्चल स्थिर हो, उसको सिद्धासन कहते हैं। कोई वाम और दक्षिण एड़ी को मेढ़्र के ऊपर ही क्रम से धारण पूर्वक उक्त स्थिति को सिद्धासन कहते हैं। यह सिद्धासन अति प्रधान हैं, क्योंकि कितने आसन तो रोग नाशक हैं, और कोई आसन प्राणायामादि योग साधन में उपयोगी होते हैं। और सिद्धासन समाधि काल में रहता है। इसी को वज्रासन, मुक्तासन, और गुप्तासन भी कहते हैं॥

आसन की सिद्धि के बाद प्राणायाम कर्तव्य है। सो बहुत प्रकार का है, संक्षेप से लक्षण है कि इडा नामक वाम नासिका से वायु को उदर में पूर्ण करे, फिर दोनों नासिका को बन्द करके वायु के निरोध रूप कुम्भक करे, फिर वाम नाडी को बन्द रख कर पिङ्गला नामक दहिनी नासिका द्वारा वायु को धीरे त्यागे ( रेचन करे, ) फिर दहिने से पूरक करके कुम्भक करके वाम नाडी से रेचन करे, तो यह एक प्राणायाम होता है। सो मानस प्रणवादि के जप सहित सगर्भ कहा जाता है, जप रहित अगर्भ कहा जाता है॥ विषयों से सब इन्द्रियों के निरोध को प्रत्याहार कहते है॥ किसी स्थान लक्ष्य में मनोवृत्ति की स्थिति को धारणा कहते हैं॥ अन्तराय ( व्यवधान ) सहित अद्वैत वस्तु में मन की स्थिति चिन्तन को ध्यान कहते हैं॥ और व्युत्थान ( व्यवहार ) के संस्कार के अभिभव पूर्वक निरोध संस्कार की प्रकटता से मनोवृत्ति की एकाग्रता को समाधि कहते हैं। सो समाधि सविकल्प निर्विकल्प भेद से दो प्रकार के होती है। तहाँ ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय रूप त्रिपुटी के भान सहित अद्वितीय ब्रह्माकार मनोवृत्ति की स्थिति को सविकल्प समाधि कहते हैं, यह सविकल्प भी शब्दानुविद्ध और शब्दाननुविद्ध भेद से दो प्रकार की होती है, 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि शब्द भावना सहित को शब्दानुविद्ध कहते हैं। शब्द भावना रहित को शब्दाऽननुविद्ध कहते हैं। और त्रिपुटी के भान से रहित अखण्ड ब्रह्माकार मनोवृत्ति की स्थिति को निर्विकल्प

समाधि कहते हैं। इन दोनों में सविकल्प साधन रूप होता है, और निर्विकल्प फल रूप होता है, तहाँ सविकल्प समाधि में यद्यपि त्रिपुटी की प्रतीति होती है। तथापि जैसे मृत्तिका के विकार घटादि विवेकी को मृत्तिका रूप ही प्रतीत होते है, तैसे ही सविकल्प समाधि काल में त्रिपुटी रूप द्वैत ब्रह्म रूप ही प्रतीत होता है। और निर्विकल्प समाधि काल में वर्तमान भी द्वैत प्रतीत नहीं होता है। जैसे जल में दिया हुवा लवण नेत्र से नहीं प्रतीत होता है, तैसे निर्विकल्प समाधि में द्वैत की प्रतीति किसी इन्द्रिय वा मन से नहीं होती है॥

निर्विकल्प समाधि को सुषुप्ति से यह भेद है कि सुषुप्ति में सब वृत्ति सहित अन्तःकरण का अज्ञान में लय होने से अभाव रहता है, और निर्विकल्प समाधि में ब्रह्माकार वृत्ति रहती है, अन्तःकरण रहता है, परन्तु वृत्ति सहित अन्तःकरण की भी प्रतीति नहीं रहती हैं। और सविकल्प समाधि के अभ्यास से वह निर्विकल्प समाधि काल की ब्रह्माकार वृत्ति होती है, अतः आठ अङ्ग (साधन) में सविकल्प समाधि गिनी गई है। फल रूप निर्विकल्प समाधि भी अद्वैत भावना रूप और अद्वैतावस्थान रूप दो प्रकार की होती है। तहाँ अद्वैत ब्रह्माकार ज्ञान रूप वृत्ति सहित को अद्वैतभावना रूप निर्विकल्प कहते हैं। और अधिक अभ्यास से ब्रह्माकार वृत्ति के भी शान्त होने पर अद्वैतावस्थान रूप निर्विकल्प कहते हैं। और जैसे तप्त लोहे पर गिराया गया जल विन्दु तप्त लोहे में लीन होता है, तैसे ही अद्वैत भावना रूप निर्विकल्प के दृढ अभ्यास से अत्यन्त प्रकाश स्वरूप ब्रह्म में ब्रह्माकार वृत्ति का लय होता है। अतः अद्वैतावस्थान का अद्वैत भावना साधन है। और अद्वैतावस्थान समाधि का सुषुप्ति से यह भेद है कि सुषुप्ति काल में अज्ञान में वृत्तियों का विलय होता है, और अद्वैतावस्थान समाधि काल में ब्रह्म प्रकाश में वृत्ति का विलय होता है, और सुषुप्ति में अज्ञान से आवृत्त आनन्द रहता है। और समाधि में निरावरण ब्रह्मानन्द का भान होता है।

उक्त निर्विकल्प समाधि में वर्जनीय ( त्याज्य ) चार विघ्न होते हैं, जिनको लय १, विक्षेप २, कषाय ३, और रसास्वाद ४ कहते हैं, आलस्य वा निद्रा से ध्येयाकार वृत्ति के अभाव को लय कहते हैं, कि जिससे सुषुप्ति तुल्य अवस्था होने के कारण ब्रह्मानन्द का भान नहीं होता है, अतः आलस्यादि से वृत्ति को निजोपादान अन्तःकरण में लय होते हुए जब योगी समझे, तब सावधानी से आलस्यादि के निवारण पूर्वक वृत्ति को जागृत स्थिर करे, इस प्रकार की जागृति को गौडपादाचार्य ने चित्त सम्बोधन कहा है ।। १

और बाज वा बिल्ली आदि से डर कर चटका पक्षी घर में पैठे, परन्तु भय के कारण व्याकुलता से गृह के अन्दर उसको शीघ्र अपना स्थान दीख नहीं पड़े, तो फिर बाहर आकर भय वा मरण दुःख पाता है । तैसे ही अनात्म पदार्थों को दुःखद जानकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त= विषय करने के लिए वृत्ति अन्तर्मुख होती है, परन्तु वृत्ति के विषय ब्रह्मानन्द चिदात्मा के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण कुछ काल तक अन्दर में वृत्ति की स्थिति के बिना उस ब्रह्मानन्द का लाभ ( अनुभव ) नहीं होता है, अतः वृत्ति बहिर्मुख हो जाती है, उस बहिर्मुखता को विक्षेप कहते हैं । उससे ब्रह्मानन्द का लाभ नहीं होता है, अतः बाह्य पदार्थों में दोष दर्शन से वृत्ति को बहिमुख नहीं होने दे, किन्तु वृत्ति को अन्तर्मुख ही स्थिर करे, इस प्रकार विक्षेप विघ्न के निवारक योगी के प्रयत्न को गौडपादाचार्य ने शम कहा है ।। २ ।।

रागादि दोषों को कषाय कहते हैं, सो बाह्य और आन्तर भेद से दो प्रकार के होते हैं । वर्तमान पुत्र, स्त्री, धनादि विषयक रागादि को बाह्य कषाय कहते हैं । और भूत वा भावी के चिन्तन=मनोराज्य (मनोरथ) को आन्तर कषाय कहते हैं । यद्यपि ये दोनों प्रकार के कषायों का समाधि में प्रवृत्त योगी में सम्भव नहीं है । क्योंकि चित्त की पाँच भूमि

का ( अवस्था ) होती है । सो क्षेप १, मूढता २, विक्षेप ३, एकाग्रता ४, और निरोध ५, कही जाती है । तहाँ देह वासना, लोकवासना, शास्त्रवासना आदि रूप रजोगुण के परिणामात्मक दृढ अनात्म वासना को क्षेप कहते हैं, निद्रालस्यादि रूप तमोगुण के परिणाम को मूढता कहते हैं, ध्यान में प्रवृत्त चित्त की कादाचित्क बाह्य प्रवृत्ति को विक्षेप कहते हैं, और अतीत तथा वर्तमान अन्तःकरण का परिणाम समानाकार ( एकाकार ) हो, उसको एकग्रता कहते हैं । सो योग सूत्र में लिखा है, उसका भाव है कि समाधि काल में चित्त के एकाग्र होने पर वृत्ति का अभाव नहीं होता है, किन्तु सब वृत्ति ब्रह्मविषयक होती है । अतः अन्तःकरण के अतीत वर्तमान परिणाम के केवल ब्रह्माकार होने से समानाकार परिणाम होता है, और उसी को निरोध कहते हैं, ये पाँच भूमिका ( अवस्था ) अन्तःकरण की होती हैं, उन अवस्थाओं से युक्त अन्तःकरण के, क्षिप्त १, मूढ २, विक्षिप्त ३, एकाग्र ४, और निरुद्ध ५ ये क्रम से पाँच नाम हैं, उन क्षिप्त और मूढ अन्तःकरण वाले का तो समाधि मे अधिकार नहीं है, विक्षिप्त अन्तःकरण वाले का अधिकार है, एकाग्र और निरुद्ध अन्तःकरण समाधि काल में रहता है, यह योग ग्रन्थों में कहा गया है । और रागादि दोष सहित क्षिप्त अन्तःकरण वाले का योग में अधिकार नही है, अतः रागादि दोष रूप कषाय योग ( समाधि ) के विघ्न हैं, यह कहना नहीं बन सकता । तथापि बाह्य और आन्तर रागादि के अनधिकारी के क्षिप्त अन्तःकरण में रहते भी, पूर्व अनेक जन्म के राग द्वेषादि के सूक्ष्म संस्कार (वासना) विक्षिप्त अन्तःकरणादि में भी रहते हैं, अतः राग द्वेषादि को कषाय नहीं कहते हैं, किन्तु उनके संस्कार को कषाय कहते हैं, सो संस्कार अन्तःकरण के रहते दूर नष्ट नहीं होते हैं । अतः समाधिकाल में भी अन्तःकरण में रहते हैं, परन्तु उद्बुद्ध ( व्यक्त ) रागादि के संस्कार समाधि के विरोधी होते हैं, अनुद् भूत (अप्रकट) नहीं । अतः समाधि

में प्रवृत्त योगी को यदि रागादि के संस्कार उद्भूत हों, तो विषयादि में दोष दर्शनादि से उन्हें दबावे। और बाह्यविषयाकार वृत्ति को विक्षेप कहते हैं। जहाँ यत्न से अन्तर्मुख हुई वृत्ति, रागादि के उद्भूत संस्कार से रुक जाय, ब्रह्म को नहीं विषय करे (ब्रह्माकार नहीं होय) तहाँ उसको कषाय दोष कहते हैं। और विषयों में दोषदर्शन सहित योगी के यत्न से उस कषाय रूप योग के विघ्न की निवृत्ति होती है ॥ ३ ॥

रसाऽऽस्वाद का अर्थ है कि—योगी को ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है, और विक्षेप रूप दुःख की निवृत्ति का अनुभव होता है, कहीं दुःख की निवृत्ति से भी आनन्द होता है, जैसे भार वाही के भार के उतरने से उसको आनन्द होता है, तहाँ आनन्द में अन्य कोई विषयादि रूप हेतु के नहीं रहते भी भार जन्य दुःख की निवृत्ति से कहता है कि—"मुझे आनन्द हुआ है" अतः दुख की निवृत्ति भी आनन्द का हेतु सिद्ध होता है। तैसे समाधि में विक्षेप जन्य दुःख की निवृत्ति से जो योगी को आनन्द होता है, उसके अनुभव को रसास्वाद कहते हैं, यदि दुःख की निवृत्ति जन्य आनन्द के अनुभव से ही योगी अलं (पूर्ण) बुद्धि करले, तो सर्वोपाधि रहित ब्रह्मानन्दाकार वृत्ति के अभाव से, उसका अनुभव समाधि में नहीं होता है। अतः दुःख की निवृत्ति जन्य आनन्द का अनुभव रूप रसास्वाद भी समाधि में विघ्न रूप होता है। वाँछित (इष्ट) की प्राप्ति के बिना भी विरोधी की निवृत्ति से आनन्द की उत्पत्ति में अन्य दृष्टान्त है कि जैसे भूमि में अत्यन्त विषधर सर्पों से रक्षित निधि हो। तहाँ निधि की प्राप्ति से पूर्व काल में भी निधि प्राप्ति के विरोधी सर्पों की निवृत्ति से आनन्द होता है, तहाँ सर्प की निवृत्ति जन्य आनन्द में यदि अलंबुद्धि करले तो उद्यम के त्याग से निधि की प्राप्ति जन्य परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती है। तैसे ही अद्वैतब्रह्म स्वरूप निधि, देहादि रूप अनात्मा में सत्यता की प्रतीति रूप विक्षेपात्मक सर्प से मानो रक्षित है, तहाँ विक्षेप की निवृत्ति

जन्य अवान्तर आनन्द रूप रस का आस्वाद=अनुभव, ही अद्वैत ब्रह्म निधि की प्राप्ति जन्य परमानन्द की प्राप्ति का प्रतिबन्धक होने से विघ्न कहा जाता है। अथवा रसास्वाद का यह अन्य अर्थ है कि सविकल्प समाधि के बाद निर्विकल्प समाधि होती है, तहाँ सविकल्प समाधि में त्रिपुटी की प्रतीति होती है, अतः वहाँ का आनन्द त्रिपुटी रूप उपाधि सहित (सोपाधिक) कहा जाता है। और निर्विकल्प समाधि में त्रिपुटी की प्रतीति नहीं होने से वहाँ का आनन्द निरुपाधिक होता है। तहाँ यदि निरुपाधिक आनन्द से प्रथम प्राप्त सोपाधिक आनन्द को योगी नहीं त्याग सके, किन्तु उसी के अनुभव में लगा रहे, तो वह रसास्वाद कहा जाता है। अतः विक्षेप की निवृत्ति जन्य आनन्द का अनुभव अथवा सविकल्प समाधि जन्य आनन्द का अनुभव रसास्वाद कहा जाता है। सो दोनों निर्विकल्प समाधि के परमानन्द के अनुभव का विरोधी होने से विघ्न है अतः त्यागने योग्य है ॥४॥

उक्त चारों विघ्न समाधि के आरम्भ में होते हैं। अतः सावधानी से चारों विघ्नों को रोक कर समाधि में परमानन्द का अनुभव जो विद्वान् (ज्ञानी) करता है। उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। इस रीति से ज्ञानी का चित्त निरालम्ब नहीं होता है। प्रारब्ध बश समाधि से उत्थान होने पर भी समाधि में अनुभूत परमानन्द का स्मरण होता है, अतः उत्थान काल में भी ज्ञानी का चित्त निराऽऽलम्ब नहीं होता है। और ज्ञानी की भोजनादि में प्रारब्ध वश प्रवृत्ति होती है, तहाँ खेद मान कर ज्ञानी प्रवृत्त होता है, क्योंकि भोजनादि में प्रवृत्ति भी समाधि सुख की विरोधिनी है। और शरीर निर्वाहक भोजनादि में प्रवृत्ति भी जिसको खेद रूप प्रतीत होती है। उसकी अधिक प्रवृत्ति का सम्भव नहीं है॥ इस रीति से बहुत आचार्यों ने यही पक्ष लिखा है। और जीवन्मुक्ति का आनन्द बाह्य प्रवृत्ति में नहीं होता है, किन्तु

निवृत्ति में होता है, अतः जीवन्मुक्ति के सुखार्थी ज्ञानी की वाह्य प्रवृत्ति का सम्भव नहीं हो सकता है ॥

उक्त आक्षेप का समाधान है कि—यद्यपि बहुत आचार्यों का उक्त मत है। तथापि ज्ञानी की निवृत्ति का भी नियम नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रवृत्ति वा निवृत्ति विषयक वेद की आज्ञा रूप विधि तो ज्ञानी के लिए है नहीं कि जिससे ज्ञानी के व्यवहार में नियम हो, अतः ज्ञानी निरंकुश होता है, उसका व्यवहार प्रारब्ध से होता है। जिस ज्ञानी का प्रारब्ध भिक्षा भोजनादि मात्र फल का हेतु होता है, उसकी भिक्षा आदि मात्र में प्रवृत्ति होती है। और जिसका प्रारब्ध अधिक भोग का हेतु होता है, उसकी अधिक प्रवृत्ति भी होती है। और यदि कोई कहे कि भिक्षा आदि मात्र में प्रवृत्ति के हेतु प्रारब्ध वाले को ही ज्ञान होता है, अन्यथा प्रारब्ध वाले को ज्ञान नहीं होता है, अतः भिक्षा भोजनादि से अधिक ज्ञानी का व्यवहार नहीं होता है, और जिसकी अधिक प्रवृत्ति हो सो ज्ञानी नहीं रहता है। तो सो कहना नहीं बनता है। क्योंकि याज्ञवल्क्य, जनकादि ज्ञानी कहे जाते हैं। और सभा विजय से धन संग्रह रूप व्यवहार याज्ञवल्क्य का, तथा राज्यपालन व्यवहार जनक का वर्णित है। योगवासिष्ठ ग्रन्थ में अनेक ज्ञानी के नाना प्रकार के व्यवहार कहे गये हैं। अतः ज्ञानी की प्रवृत्तिवा निवृत्ति का नियम नहीं है। यद्यपि याज्ञवल्क्य जी ने सभा विजय के बाद, विद्वत्संन्यास रूप निवृत्ति का ही धारण किया था, और प्रवृत्ति में ग्लानि के कारण नाना दोषों का वर्णन किया है। तथापि विद्वत्संन्यास से पूर्व उनको ज्ञान नहीं था, यह कहना तो सम्भव नहीं है। परन्तु संन्यास से पूर्व ज्ञान के रहते भी उनको जीवन्मुक्ति का आनन्द नहीं था। अतः जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिए सब संग्रह का उन्होंने त्याग किया। क्योंकि उनका प्रारब्ध कुछ कालतक अधिक भोग का हेतु था, फिर न्यून भोग का हेतु था, अतः प्रथम ग्लानि के

विना अधिक भोग हुवा, फिर ग्लानि से सब भोग का त्याग हुवा। और जनक का प्रारब्ध मरणपर्यन्त राज्यपालनादि समृद्धि भोग का हेतु था, अतः सदा त्याग का अभाव ही रहा। भोग में ग्लानि भी नहीं हुई। और वाम देवादि का प्रारब्ध सदा न्यून भोग का हेतु रहा, अतः भोगों में ग्लानि से सदा प्रवृत्ति का अभाव ही रहा। और योगवासिष्ठ में प्रसंग ( कथा ) है कि शिखरध्वज, की ज्ञान के बाद अधिक प्रवृत्ति हुई है। इस रीति से नाना प्रकार के विलक्षण व्यवहार ज्ञानियों के कहे गये हैं। तिन सबके ज्ञान[1] समान ( तुल्य ) थे, और ज्ञान का फल मोक्ष भी तुल्य हुवा, परन्तु प्रारब्ध के भेद से व्यवहार में भेद हुआ। व्यवहार की न्यूनता से जीवन्मुक्ति सुख की अधिकता हुई। और व्यवहार की अधिकता से जीवन्मुक्ति सुख की न्यूनता हुई॥

विदेह मोक्ष को त्यागकर पर ( उत्तम ) लोकादि की इच्छा ज्ञानी को नहीं हो सकती है, इस अर्थ का आगे प्रतिपादन है॥ अर्थात् कोई शंका करते हैं कि जीवनमुक्ति के सुख को त्याग कर तुच्छ राज्यादि भोग में प्रवृत्त होने वाला ज्ञानी, विदेह मोक्ष को भी त्याग कर वैकुण्ठादि की इच्छा करके वैकुण्ठादि में जायगा, विमुक्त नहीं होगा॥ परन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्ति के सुख का त्याग और भोगों में प्रवृत्ति तो ज्ञानी की प्रारब्ध के बल से सम्भव है। और विदेह मोक्ष का त्याग तथा परलोक में गमन नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञानी के प्राण बाहर गमन नहीं करते हैं। और ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर प्रारब्ध की भोग से निवृत्ति के वाद स्थूल सूक्ष्म शरीराकार अज्ञान का चेतन में विलय विदेह मोक्ष कहा जाता है, सो अवश्य होता है। क्योंकि यदि मूल अज्ञान बाकी वर्तमान हो,

---

१ ( स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा। अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः। पञ्चदशी ) अविशिष्टतुल्यः॥ रु

या नष्ट अज्ञान की फिर उत्पत्ति हो, तो विदेह मोक्ष का अभाव हो सकता है। और मूल अज्ञान के विरोधी ज्ञान के होने पर अज्ञान बाकी नहीं रहता है, और प्रमाण ज्ञान से नष्ट अनादि अज्ञान की फिर उत्पत्ति नहीं होती है, अतः ज्ञानी के विदेह मोक्ष का अभाव नहीं हो सकता है। और विदेह मोक्ष के त्याग तथा परलोक में गमन विषयक ज्ञानी की इच्छा भी नहीं हो सकती है। क्योंकि ज्ञानी की इच्छा केवल प्रारब्ध से होती है। जिन सामग्रियों के बिना प्रारब्ध का भोग नहीं हो सकता, उन सामग्रियों को प्रारब्ध रचता है, और इच्छा के बिना भोग नहीं हो सकता, अतः ज्ञानी की इच्छा भी प्रारब्ध का फल रूप होती है। और अन्य लोक में वा इस लोक में अन्य शरीर का सम्बन्ध ज्ञानी को प्रारब्ध से भी नहीं हो सकता है। यह इसी तरङ्ग में प्रथम प्रतिपादन किया गया है। अतः ज्ञानी को विदेह मोक्ष के त्याग की वा परलोक में गमन की इच्छा प्रारब्ध के नहीं होती है ॥

परन्तु ज्ञानी के मन्द प्रारब्ध से जीवन्मुक्ति सुख के विरोधी प्रवृत्ति होती है ॥ क्योंकि जीवन्मुक्ति के सुख के विरोधी वर्तमान शरीर में अधिक भोग की इच्छा भिक्षा भोजनादि की इच्छा समान होती है। यहाँ यह रहस्य है कि ज्ञानी की बाह्य प्रवृत्ति जीवन्मुक्ति की विरोधिनी नहीं होती है, किन्तु जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख की विरोधिनी होती है, क्योंकि आत्मा नित्यमुक्त है, अविद्या से बन्ध की प्रतीति होती है, अतः ज्ञान काल में ही अविद्याकृत बन्ध का भ्रम नष्ट हो जाता है, ज्ञान के बाद बन्ध की भ्रान्ति नहीं होती है। और शरीर सहित के बन्ध भ्रम के अभाव को ही जीवन्मुक्ति कहते हैं, देहादि की प्रवृत्ति वा निवृत्ति से ज्ञानी को आत्मा में बन्ध की भ्रान्ति नहीं होती है, अतः बाह्य प्रवृत्ति से भी जीवन्मुक्ति का अभाव नहीं होता है। किन्तु बाह्य प्रवृत्ति से विलक्षण सुख नहीं होता है। क्योंकि एकाग्रता रूप अन्तःकरण के परिणाम में सुख अभिव्यक्त होता है, और वह एकाग्रता

बाह्य प्रवृत्ति से नहीं होती है। इस रीति से प्रारब्ध भेद के कारण ज्ञानी के व्यवहार नाना प्रकार के होते हैं, परन्तु अधिक प्रवृत्ति का हेतु रूप ज्ञानी का प्रारब्ध मन्द कहा जाता है, क्योंकि अधिक प्रवृत्ति एकाग्रता की विरोधिनी होती है। और एकाग्रता के बिना निरुपाधिक आनन्द प्रतीत नहीं होता है। सो समाधि के निरूपण में कहा गया है ॥

। ज्ञानी के व्यवहार का अनियम ।

प्रथम जो कहा है कि "सब अनात्म पदार्थों में मिथ्यात्व बुद्धि से ज्ञानी को राग नहीं होता है, अतः ज्ञानी की प्रवृत्ति का सम्भव नहीं है" सो कहना नहीं बन सकता है। क्योंकि जैसे देह में ज्ञानी की मिथ्यात्व बुद्धि के होते भी प्रारब्ध से देह के अनुकूल भिक्षादि में प्रवृत्ति होती है। तैसे ही अधिक भोग का हेतु प्रारब्ध जिसको रहता है, उस ज्ञानी की अधिक प्रवृत्ति होती हैं। जैसे बाजीगर के तमासे को मिथ्या जानने पर भी सब लोगों की देखने के लिये प्रवृत्ति होती है, तैसे सब पदार्थों में मिथ्यात्व बुद्धि होने पर भी ज्ञानी की प्रवृत्ति का सम्भव है। यदि कोई कहे कि जिस पदार्थ में जिसकी दोषदृष्टि होती है, उसकी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती है। और ज्ञानी को भी अनात्मपदार्थ में दोष दृष्टि से राग नहीं होता है, अतः प्रवृत्ति का सम्भव नहीं है, तो सो कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि जिस अपथ्य के सेवन में 'अन्वय व्यतिरेक' भावाभाव से रोगी ने दोष का निश्चय किया है, उस अपथ्य के सेवन में भी जैसे रोगी की प्रारब्ध से प्रवृत्ति होती है, तैसे दोष दृष्टि होते भी प्रारब्ध से ज्ञानी की सब व्यवहार में प्रवृत्ति हो सकती है इस रीति से ज्ञानी के व्यवहार का नियम नहीं है, सो विद्यारण्य स्वामी ने विस्तार से 'तृप्ति[1] दीप' में प्रतिपादन किया है।

---

१ इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम्। अपथ्य सेविनश्चोरा राजदाराता अपि। जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्ध कर्मतः ॥१॥ इत्यादि ॥

अतः तत्त्वदृष्टि का व्यवहार नियम रहित हुआ, और समाधि के नियम विधि को सुन कर हँसा ॥

॥ देशादि की अपेक्षा रहित तत्त्वदृष्टि के देहान्त का वर्णन ॥

दोहा

भ्रमण करत कछु काल यों, तत्त्वदृष्टि सुज्ञान।
भोग्यो निज प्रारब्ध तब, लीन भये तिहि प्रान ॥१७॥

**टीका**—प्रारब्ध भोग के वाद ज्ञानी के प्राण गमन नहीं करते है, अतः तत्त्वदृष्टि के प्राण लीन हुए यह कहा है[१] । और ज्ञानी के शरीर त्याग में काल विशेष की अपेक्षा नहीं होती हैं उत्तरायण में में वा दक्षिणायन में देह का पात हो, ज्ञानी सर्वथा मुक्त होता है[२] । तैसे ही देश विशेष की अपेक्षा नहीं होती है, काशी आदि पवित्र देश में वा अत्यन्त मलिन देश में ज्ञानी का देहान्त हो, सर्वथा मुक्त होता है[३] । तैसे ही आसन विशेष की अपेक्षा नहीं होती है, भूमि में शव आसन से वा सिद्धासन से देह पात हो, तैसे ही सावधान ब्रह्म-चिन्तन करते हुए का, वा रोग से व्याकुल हाहा पुकारते का देह पात हो, सर्वथा ज्ञानी मुक्त होता है । क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति काल में ही अज्ञान की निवृत्ति से ज्ञानी मुक्त होता है । अतः विदेह मुक्ति में देश, काल आसनादि की अपेक्षा नहीं होती है । तैसे ही ज्ञान के लिये श्रवणादि में भी देश काल आसनादि की अपेक्षा नहीं होती है, और उपासक को देशकाल आसनादि की अपेक्षा ( आवश्यकता ) होती है । यद्यपि भीष्मादि ज्ञानी कहे जाते हैं, और भीष्म ने उत्तरायण के बिना प्राण का त्याग नहीं किया । तथापि भीष्म अधिकारी पुरुष थे, अतः उपासकों के प्रति उपदेश के लिये उन्हों ने काल विशेष की प्रतीक्षा की । और वसिष्ठादि भीष्मादि अधिकारी थे, इसीसे उनके अनेक

जन्म हुए हैं, क्योंकि अधिकारियों का एक कल्प पर्यन्त प्रारब्ध रहता है। कल्प के अन्त बिना उनको विदेह मोक्ष नहीं होता है। और कल्प के अन्दर उनके नाना शरीर इच्छा के बल से होते हैं, तो भी निजस्वरूप में जन्मादि की भ्रान्ति उनको नहीं होती है, अतः जीवन्मुक्त रहते हैं, उन अधिकारियों के सब व्यवहार अन्य के उपदेश के लिये होते हैं, अधिकारी से अन्य ज्ञानी के व्यवहार में कोई नियम नहीं होता है, इस तात्पर्य से तत्त्वदृष्टि के देहपात का देशकालादि नहीं कहा गया है ॥१७॥

दूजो शिष्य अदृष्टि सो, गङ्गातट शुभ थान।
देश इकन्त पवित्र अति, कियो ब्रह्म को ध्यान ॥१८॥
शास्त्र रीति तजि देह को, पूरव कह्यो जु राह।
जाय मिल्यो सो ब्रह्म से, पायो अधिक उछाह ॥१९॥

**टीका**—ज्ञानी से विपरीत उपास की गति को समझना चाहिये, उत्तम देश कालादि में उपासक शरीर को त्यागे, तब उपासना का फल होता है। और मरण काल में ज्ञानी को सावधानी से ज्ञेय की स्मृति की अपेक्षा नहीं रहती है। और उपासक को मरण काल में ध्येय स्वरूप की स्मृति की अपेक्षा रहती है, क्योंकि ध्येय की स्मृति से उपासना का फल होता है। और ध्येय ब्रह्म की स्मृति के समान पञ्चम तरंग में वर्णित ध्येय की प्राप्ति के मार्ग की स्मृति भी होनी चाहिये। क्योंकि मार्ग का चिन्तन भी उपासना का अङ्ग है, अतः अदृष्टि के गङ्गा तट में ध्यान पूर्वक योग रीति से देह त्याग कहा है ।१९।

(तर्क दृष्टि के निश्चय, विद्या के अष्टादश प्रस्थान, और सर्वशास्त्र की ज्ञान हेतुता का वर्णन)

तर्क दृष्टि पुनी तीसरो, लहि गुरुमुख उपदेश।
अष्टादश प्रस्थान जिन, अवगाहन करिवेष ॥२०॥

जेती वाणी वैखरी, ताको अलं पिछान।
हेतु मुक्ति को ज्ञान लखि, अद्वय निश्चय ज्ञान ।।२१।।

टीका—तर्क दृष्टि नामा तीसरा शिष्य ने गुरु से उपदेश को सुनकर, सुने हुए अर्थों में अन्य शास्त्र के विरोधों को दूर करने के लिये, सब शास्त्रों के अभिप्राय को विचार कर निश्चय किया कि सब शास्त्रों का परम प्रयोजन ( फल ) मोक्ष है १, और मोक्ष का साधन ज्ञान है २, सो ज्ञान अद्वैतात्मनिश्चय रूप है ३, सत्य भेद का निश्चय यथार्थ ज्ञान नहीं है ४, सब शास्त्र साक्षात् वा परंपरा से ब्रह्मज्ञान के हेतु हैं ५।। यद्यपि संस्कृत वैखरी वाणी के अष्टादश १८ प्रस्थान हैं, उनमें कोई कर्म का प्रतिपादन करता है, १, कोई विषय सुख के उपायों का प्रतिपादन करता है, २, कोई ब्रह्म भिन्न देव की उपासनाओं का बोधक है ३, और ज्ञानार्थक न्याय सांख्यादि शास्त्र भी भेद ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान कहते हैं, अतः सब को अद्वैत ब्रह्म की बोधकता नहीं है, तथापि सब शास्त्र के कर्ता सर्वज्ञ और कृपालु हुए हैं, अतः उनके मूल सूत्रों का वेद के अनुसार ही अर्थ है, परन्तु उनके व्याख्याता भ्रान्त हुए हैं, अतः मूल सूत्रकारों के अभिप्राय से विभिन्न अर्थ किये हैं, वस्तुतः वेद से विरुद्ध उन सूत्रों का अर्थ नहीं है, किन्तु सबशास्त्र का वेदानुसारी अर्थ है। तर्क दृष्टि ने उत्तम संस्कार से ऐसा निश्चय किया।। विद्या के अष्टादशप्रस्थान ये हैं, चारवेद, चार उपवेद, षट् ( छौ ) वेद के अङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, इनको विद्या के प्रस्थान कहते हैं।। ऋग्, यजुः, साम, और अथर्व, ये चार वेद हैं, उन में कितने वचन ज्ञेय ब्रह्म के बोधक हैं। कितने ध्येय के बोधक हैं। और अन्य कर्म के बोधक हैं। जो कर्मों के बोधक हैं, उनका भी अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ज्ञानही प्रयोजन है। और प्रवृत्ति में किसी वेद वचन का अभिप्राय नहीं है। किन्तु निषिद्ध

स्वाभाविक प्रवृत्ति से रोकने में अभिप्राय है। अतः अभिचारादि विधायक अथर्व वेद का भी निवृत्ति में तात्पर्य है। द्वेष से शत्रु को मारने के लिये विष प्रदानादि नहीं करे, इसलिये अभिचारनामक, शत्रुनाशक, श्येनयागादि का वर्णन किया गया है। तहाँ श्येनादि से अतिरिक्त क्रिया से निवृत्ति में ही तात्पर्य है, प्रवृत्ति में नहीं, क्योंकि द्वेष से स्वयं प्राप्त अर्थ में वेद वाक्य का तात्पर्य नहीं हो सकता है। इस रीति सब अथर्व वेद का निवृत्ति में तात्पर्य है और कर्म बोधक अन्य तीन वेदों का अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान में उपयोग ( सम्बन्ध ) स्पष्ट है ॥

उपवेदों का भी ब्रह्मज्ञान में तात्पर्य है। आयुर्वेद १, धनुर्वेद २, गान्धर्ववेद ३, और अर्थवेद ४, ये चार उपवेद कहे जाते हैं। उन में आयुर्वेद के कर्ता ब्रह्मा, प्रजापति, अश्विनीकुमार, धन्वन्तरि आदि हुए हैं, चरक, वाग्भट्टादि चिकित्सा शास्त्र आयुर्वेद है। और वात्स्यायन कृत कामशास्त्र भी आयुर्वेद के अन्तर्गत है, क्योंकि काम शास्त्र के विषय वाजीकरण स्तम्भनादि का भी चरकादिकों ने कथन किया है। उस आयुर्वेद का वैराग्य में ही तात्पर्य है। क्योंकि आयुर्वेद की रीति से रोगादि की निवृत्ति होने पर भी फिर रोगादि उत्पन्न होते हैं, अतः लौकिक उपाय तुच्छ हैं, इस अर्थ में आयुर्वेद का तात्पर्य है। और औषध दानादि के द्वारा पुण्य से अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान में उपयोग होता हैं ॥१॥

और विश्वामित्रकृत धनुर्वेद में आयुधों का निरूपण किया गया है। मुक्त १, अमुक्त २, मुक्तामुक्त ३, यन्त्रमुक्त ४, ये चार प्रकार के आयुध होते हैं। जो चक्रादि हाथ से फेंके जायँ सो मुक्त कहे जाते हैं। खड्गादि अमुक्त कहाते हैं। बरछी आदि मुक्तामुक्त कहाते हैं। शर ( बाण ) गोली आदि यन्त्रमुक्त कहाते हैं। इन में मुक्त आयुध को अस्त्र कहते हैं, अमुक्त को शस्त्र कहते हैं। इन आयुधों के ब्रह्मा,

विष्णु, पशुपति, प्रजापति, अग्नि, वरुण आदि देवता, मन्त्र कहे गये हैं। क्षत्रिय अधिकारी कहे गये हैं, उनके अनुसारी ब्राह्मणादि भी अधिकारी कहे गये हैं। उनके पदाति १, रथारूढ़, २, अश्वारूढ़ ३, और गजारूढ़ ४ ये चार भेद कहे गये हैं। और युद्ध में शकुन मङ्गल कहे गये हैं। इतने अर्थ धनुर्वेद के प्रथम पाद में कहे गये हैं। और आचार्य के लक्षण, तथा आचार्य से शस्त्रादि के ग्रहण=ज्ञान की रीति द्वितीय पाद में कहे गये हैं। शस्त्रादि का अभ्यास, मन्त्रसिद्धि देवसिद्धि के प्रकार तृतीय अध्याय में कहे गये हैं। सिद्ध-मन्त्रों का प्रयोग चतुर्थ पाद में कहा गया है ॥

ब्रह्मा प्रजापति आदि से विश्वामित्र को धनुर्वेद प्राप्त हुवा था, उन्होंने उसको प्रकट किया, उनसे धनुर्वेद उत्पन्न नहीं हुआ है। दुष्ट चौरादि को से प्रजा का पालन रूप क्षत्रियों के धर्म का बोधक धनुर्वेद है, अतः अन्तकरण की शुद्धि से ज्ञानद्वारा मोक्ष में ही धनुर्वेद का तात्पर्य है ॥२॥

गान्धर्व वेद को भरत ने प्रकट किया किया है, तिस में, स्वर, ताल, मूर्छना सहित, गीत, नृत्य, वाद्य का विस्तार से निरूपण किया है। और देवाराधन, निर्विकल्पसमाधि की सिद्धि गन्धर्व वेद का फल कहा है। अतः अन्तःकरण की शुद्धि एकाग्रता पूर्वक ज्ञानद्वारा मोक्ष ही उसका प्रयोजन ( फल ) है ॥३॥

अर्थ वेद नाना प्रकार का है—नीति शास्त्र, अश्वशास्त्र, शिल्प-शास्त्र, सूपकारशास्त्रादिक धन की प्राप्ति के उपायों के बोधकशास्त्र अर्थ वेद कहे जाते हैं। धन प्राप्ति के सब उपायों में कुशल को भी भाग्य के बिना धनकी प्राप्ति नहीं होती है। अतः अर्थ वेद का भी वैराग्य में तात्पर्य है ॥४॥

शिक्षा, १ कल्प, २, व्याकरण, ३ निरुक्त, ४ ज्योतिष ५, और पिङ्गल, ये छः चारवेद के उपयोगी होने से वेदों के अङ्ग हैं। उन में

शिक्षा का कर्ता पाणिनि हुए हैं। वैदिक शब्दों में अक्षरों के स्थानों का तथा उदात्त अनुदात्त, स्वरित का ज्ञान शिक्षा से होता है। वेद के व्याख्यान रूप प्रतिशाख्यादि अनेक ग्रन्थ भी शिक्षा के अन्तर्गत हैं ॥१॥

वेदोक्त कर्मों के अनुष्ठान की रीति कल्प सूत्रों से जानी जाती है, यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों के करने योग्य भिन्न भिन्न कर्मों के प्रकार का ज्ञान भी कल्पसूत्रों से होता है। उन सूत्रों के कर्ता कात्यायन आश्वलायनादि मुनि हुए हैं। सो कल्पसूत्र वेद के उपयोगी होने से वेद का अङ्ग है ॥ २ ॥

व्याकरण से शब्द की शुद्धि का ज्ञान होता है, सो व्याकरण सूत्र आठ अध्याय रूप पाणिनि मुनि ने किया है। कात्यायन और पतञ्जलि ने वार्तिक और भाष्य किये हैं। अन्य व्याकरण में वैदिक शब्दों का विचार नहीं है, किन्तु पुराणादि में वे भी उपयोगी हैं। पाणिनि कृत व्याकरण में वैदिक शब्दों का भी विचार है। अतः वह वेद का अङ्ग है ॥ ३ ॥

यास्क नामक मुनि ने त्रयोदश १३ अध्याय रूप निरुक्त किया है तहाँ वेदमन्त्रों में अप्रसिद्धार्थक पदों के अर्थबोध के लिए नामों का निर्वचन किया है, अतः वैदिक पदार्थ के ज्ञान में उपयोगी होने से वेद का निरुक्त अंग है। यास्ककृत पाँच अध्यायरूप निघण्टु भी निरुक्त के अन्तर्गत है। और अमरसिंहादि रचित कोश भी निरुक्त के अन्तर्गत है ॥ ४ ॥ आदित्य गर्गादि कृत ज्योतिष भी वेद का अंग है। क्योंकि वैदिक कर्मों के आरम्भ में काल ज्ञान की आवश्यकता होती है, और काल का ज्ञान ज्योतिष से होता है, अतः वेद काअङ्ग है ॥ ४ ॥ पिङ्गल मुनि ने आठ अध्याय रूप सूत्रों द्वारा छन्दों का निरुपण किया है, जिससे वैदिक गायत्री आदि छन्दों का ज्ञान होता है, अतः वह

वेद का अंग है। उक्त वेद के षडङ्गों में कहीं वेद के अनुपयोगी अर्थों का प्रसंग से निरूपण है। प्रधानता से नहीं, अतः वेद का प्रयोजन ही षडङ्ग का प्रयोजन है, पृथक् नहीं ॥ ६ ॥

व्यास नामक मुनिकृत अष्टादश १८ पुराण है, तिनके ये नाम हैं ब्राह्म १, पाद्म २, वैष्णव ३, शैव ४, भागवत ५, नारदीय ६, मार्कण्डेय ७, आग्नेय ८, भविष्य ६, ब्रह्मवैवर्त १०, लैङ्ग ११, वाराह १२, स्कन्द १३, वामन १४, कौर्म १५, मात्स्य १६, गारुड १७, ब्रह्माण्ड १८ ये महापुराण हैं। कल्कि, काली पुराणादि उपपुराण कहे जाते हैं। कोई उपपुराण भीं अष्टादश कहते हैं। परन्तु वे अष्टादश से अधिक हैं। वैष्णव भागवत और देवी भागवत के भेद से भागवत दो हैं, दोनों की श्लोकसंख्या अठारह हजार रूप से तुल्य हैं, और दोनों में बारह २ स्कन्ध हैं, उनमें एक महापुराण और एक उपपुराण है, अतः दोनों प्रामाणिक हैं, पुराणों के समान उपपुराणों की रचना भी किसी व्यास ने की है, और किसी उपपुराण की रचना पराशरादि सर्वज्ञ मुनियों ने की है, अतः उपपुराणादि भी प्रमाण हैं। जो उपनिषदों का अर्थ है, सोई पुराण उपपुराणों का है। यह आगे कहना है ॥

## ॥ न्यायवैशेषिक सूत्रों का फल प्रदर्शन ॥

गौतम मुनिने पाँच अध्याय रूप न्याय सूत्र किये हैं, सो युक्ति प्रधान हैं। युक्ति के चिन्तन से बुद्धि तीव्र होती है, जिससे मनमें सामर्थ्य होता है, अतः मनन द्वारा ज्ञान ही उसका फल है। कणाद मुनि ने दशअध्याय रूप वैशेषिक सूत्रों को रचा है, उनका भी न्याय में अन्तर्भाव है ॥

## धर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा और संकर्षण का फल प्रदर्शन ॥

धर्ममीमांसा, ब्रह्ममीमांसा भेद से मीमांसा दो हैं, धर्म मीमांसा को पूर्वमीमांसा, और ब्रह्ममीमांसा को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं,

धर्ममीमांसा के द्वादश १२ अध्याय हैं। जेमिनि उसका कर्ता हुए हैं, उसमें कर्मानुष्ठान की रीति कही गई है, विधिपूर्वक कर्म प्रवृत्ति उसका फल है, कि जिससे अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक ज्ञान द्वारा मोक्ष भी पूर्वमीमांसा का फल होता है, और वारहो अध्यायों में अर्थों का भेद है, सो कठिन है अतः नहीं लिखा गया है। और पाँच अध्याय रूप संकर्षण काण्ड जैमिनी ने किया है, कि जिसमें उपासना का वर्णन है, उसका धर्म मीमांसा में अन्तर्भाव है। चार २ पादयुक्त चार अध्याय रूप उत्तरमीमांसा के व्यासजी कर्ता हुए हैं। तहाँ प्रथमाध्याय में प्रतिपादन किया गया है कि सब उपनिषद ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, अन्य का नहीं। उपनिषद वाक्य में प्रतीत होने वाले विरोधादि का द्वितीयाध्याय में निवारण किया गया है, तृतीयाध्याय में ज्ञान और उपासनाओं के साधनों का विचार किया गया है, ज्ञान और उपासनाओं के फलों का चतुर्थाध्याय में वर्णन है। यह ब्रह्ममीमांसा रूप शारीरिक शास्त्र ही सब शास्त्रों में प्रधान है। और मुमुक्षु के लिए उपादेय ( ग्राह्य ) है। उसके व्याख्यान यद्यपि अनेक हैं। तथापि श्री शङ्कराचार्य कृत भाष्य ही मुमुक्षु के लिए श्रोतव्य है। क्योंकि ज्ञान द्वारा उसका मोक्ष फल ही स्पष्ट हैं॥

## ॥ स्मृति ( धर्मशास्त्र ) के कर्ता आदि का वर्णन ॥

मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, यम, अङ्गिरा, वसिष्ठ, दक्ष, संवर्त, शातातप, पराशर, गौतम, शंख, लिखित, हारीत, आपस्तम्ब, शुक्र, बृहस्पति, व्यास, कात्यायन, देवल, नारद, आदि सर्वज्ञों ने वेदों के अनुसारस्मृति की रचना की है। सो स्मृति धर्म शास्त्र कहे जाते हैं। उनमें वर्ण और आश्रम के कायिकादि धर्म कहे गये हैं, जिनका अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान और मोक्ष ही फल होता है॥ व्यास जी कृत महाभारत और बाल्मीक मुनि कृत रामायण का धर्मशास्त्र

में ही अन्तर्भाव है, देवता आराधनार्थक मन्त्रशास्त्र का भी धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव हैं, और देवाराधन का अन्तःकरण की शुद्धि फल होता है। सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र, वैष्णवतन्त्र शैवतन्त्रादिक भी धर्मशास्त्र के अन्तर्गत हैं, क्योंकि इनमें भी मानस धर्म योग उपासना भक्ति आदि का निरूपण है ॥

## ॥ सांख्य शास्त्र का फल वर्णन ॥

छः अध्यायरूप सांख्य को कपिल जी ने रचा है, उसके प्रथम अध्याय में सांख्य के विषय का निरूपण किया है। द्वितीय अध्याय में महत्तत्त्व अहङ्कारादि प्रधान ( प्रकृति ) के कार्यों का निरूपण है। तृतीय में विषयों से वैराग्य कहा है। चतुर्थ में विरक्तों की आख्यायिका ( कथाविशेष ) कही है। पञ्चम में परपक्ष का खण्डन है। और छठे में सब अर्थ का संक्षिप्तरूप से संग्रह है। और प्रकृति पुरुष के विवेक द्वारा असङ्ग पुरुष का ज्ञान सांख्य का प्रयोजन ( फल ) है, अतः त्वंपद के लक्ष्यार्थ के शोधन द्वारा महावाक्यार्थ के ज्ञान में उपयोगी होने से मोक्ष ही सांख्य का फल है ॥

## ॥ योगशास्त्र के कर्ता आदि ॥

चार पादयुक्त योग शास्त्र का कर्ता पतञ्जलिऋषि हुए हैं। सो शेष का अवतार माने जाते हैं। सन्ध्योपासना करते हुए एक ऋषि के अञ्जलि में प्रकट हो कर भूमि में गिरे इससे उन्हें पतञ्जलि कहते हैं। उन्होंने शरीर के रोगादि रूप मलों को नष्ट करने के लिये चिकित्साग्रन्थ की, वाणी के अशुद्ध शब्दोच्चारण रूप मल के निवारण के लिये व्याकरण महाभाष्य की और अन्तःकरण के विक्षेपादि रूप दोषों की निवृत्ति के लिये योगसूत्रों की रचना की है। योगसूत्र के प्रथम पाद में चित्तवृत्ति के निरोधरूप समाधि का और उसके साधन रूप अभ्यासादि का वर्णन है। द्वितीय पाद में विक्षिप्त चित्त की

एकाग्रता के लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूप आठ योगाङ्ग का वर्णन है। तृतीय में योग की विभूतियों का वर्णन है। चतुर्थ में योग फल मोक्ष का वर्णन है। उक्तरीति से योगशास्त्र भी ज्ञान के साधन निदिध्यासन के द्वारा मोक्ष का हेतु है। शारीरक ( ब्रह्म ) सूत्र में जो सांख्यादि का खण्डन किया गया है, उसे उपनिषद् विरुद्ध व्याख्यानों का खण्डन समझना चाहिये, सूत्रों का नहीं ॥

## । नारदपाञ्चरात्रादि फल वर्णन ॥

श्रीनारदकृत पाञ्चरात्र में वासुदेव भगवान् में अन्तःकरण के स्थापन का विधान किया गया है, उसका भी अन्तःकरण की स्थिरता से ज्ञान द्वारा मोक्ष ही फल है। और सब वैष्णव ग्रन्थ पाञ्चरात्र के अन्तर्गत है, और पाञ्चरात्र धर्मशास्त्र के अन्तर्गत है। और पशुपति कृत पाशुपततन्त्र में पशुपति की आराधना कही गई है। उसका भी अन्तःकरण की निश्चलता द्वारा मोक्षार्थक ज्ञान फल है ॥

## ॥ शैवग्रन्थादि के फल और वाममार्ग का वर्णन ॥

शैव ग्रन्थ सब पाशुपत तन्त्र के अन्तर्गत हैं। और गणेश, सूर्य, देवी की उपासनाओं के बोधक ग्रन्थों का चित्त की एकाग्रता द्वारा ज्ञान फल है। और सबका धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव है। परन्तु देवी की उपासना बोधक ग्रन्थों के अनुसार दक्षिण और उत्तर दो सम्प्रदाय हैं। तहाँ उत्तर सम्प्रदाय को वाममार्ग कहते हैं। दक्षिण सम्प्रदाय की रीति से उपासना विधायक ग्रन्थ तो धर्मशास्त्र के अन्तगत हैं। किन्तु वाममार्ग के ग्रन्थ धर्मशास्त्र से विरुद्ध हैं, अतः अप्रमाण= अमान्य हैं। यद्यपि वामतन्त्र शिव रचित कहा जाता है, तथापि सब शास्त्र और वेदों से विरुद्ध होने के कारण, विष्णु के अवताररूप से मान्य बुद्ध रचित नास्तिक ग्रन्थों के समान अप्रामाणिक है। उस

में मलिन पदार्थों को उत्तम शब्दों से लोक वञ्चना के लिये कहा जाता है, जैसे कि मदिरा को तीर्थ, मांस को शुद्ध, मदिरा पात्र को पद्मा, प्याज को व्यास, लशुन को शुकदेव, मद्यकारी को दीक्षित, वेश्यासेवी आदि को प्रयागसेवी काशीसेवी आदि कहते हैं। और भैरवी चक्र में स्थिर चाण्डालादि को ब्राह्मण, व्यभिचारिणी को योगिनी और व्यभिचारी को योगी कहते हैं, पूजाकाल में दोषवती स्त्री को उत्तमशक्ति मानते हैं, रजस्वला आदि को देवी बुद्धि से पूजते हैं उसके उच्छिष्ट उद्वमित मदिरा का आचार्यादि सहित पान करते हैं, योनि में जिह्वा द्वारा मन्त्र जपते हैं, मदिरा १, मांस २, मैथुन ३, मुद्रा ४, और मन्त्र ५, इन पाँच मकारों का भोग और मोक्ष के लिये सेवन करते हैं। इस प्रकार के अनेक निषिद्ध, लोक वेद से विरुद्ध, गुप्त, भ्रष्ट कारक वाममार्ग के व्यवहार हैं। इस मार्ग को सेवन करनेवाले भी इन व्यवहारों को लोकादि से निन्दित समझ कर गुप्त रखते हैं, परन्तु योगी ब्राह्मणादि नामधारी भी इस मार्ग का सेवन करते हैं कि जिसे सुन कर म्लेच्छ को भी रोमाञ्च हो, अतः विशेष लिखा नहीं जा सकता है, यह सर्वथा त्याज्य है ॥

## ॥ वेदनिन्दक नास्तिक मत वर्णन ॥

नास्तिक मत भी त्यागने योग्य है, माध्यमिक १, योगाचार २, सौत्रान्तिक ३, वैभाषिक ४, चार्वाक ५, और दिगम्बर ६, ये छः वेद को नहीं माननेवाले नास्तिको के भेद हैं। जिनका परस्पर विलक्षण सिद्धान्त है, माध्यमिक सर्वशून्यवादी हैं। १, योगाचार के मत में सब पदार्थ क्षणिक विज्ञान स्वरूप हैं, विज्ञान ( बुद्धि ) ही तत्त्व ( वस्तु ) है। २, सौत्रान्तिक मत में वाह्य विषय के बिना विज्ञान का घटाद्याकार नहीं हो सकता हैं, अतः घटाद्याकार विज्ञान से वाह्य घटादि पदार्थ अनुमेय हैं, प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि विज्ञान से आच्छन्न

रहते हैं, सो क्षणिक रहते हैं, स्थिर नहीं, ३, वैभाषिक मत में क्षणिक प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय रूप बाह्य पदार्थ माने गये हैं, ४, ये चारो सुगत ( बुद्ध ) मत कहे जाते हैं। चार्वाक मत में पदार्थ क्षणिक नहीं है, किन्तु स्थूल देह ही आत्मा है, ५, और दिगम्बर ( जैन ) मत में देह परिमित देह से भिन्न आत्मा माना गया है, ६ ये सब नास्तिक मत है, विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं, इनका खण्डन वेदान्त दर्शनादि में वर्णित है। ये वैदिक अष्टादश प्रस्थान से बाह्य हैं ॥

### ॥ साहित्यादि के तात्पर्य पूर्वक सारग्राही निश्चय ॥

मम्मट आदि कृत साहित्य ग्रन्थों का काम शास्त्र में अन्तर्भाव है, और किसी काव्य का कामशास्त्र में किसी का धर्मशास्त्र में अन्त र्भाव है। इस प्रकार सब विद्या के प्रस्थान साक्षात् वा परम्परा से ज्ञान द्वारा मोक्ष के हेतु हैं। ऐसा निश्चय तर्क दृष्टि ने किया ॥

### ॥ तर्क दृष्टि का विद्वान से मिलन वर्णन ॥

॥ दोहा ॥

**सुनि प्रसिद्ध विद्वान् पुनि, मिल्यो आप तिहि जाय।**
**निश्चय अपनो ताहि तिहि, दीनो सकल सुनाय ॥२२॥**

**टीका**=गुरु से सुने हुए अर्थों में बुद्धि की दृढता स्थिरता के लिये शास्त्रों के अभिप्रायों को विचारने पर भी संशय हुआ कि मैंने जो शास्त्रों का अभिप्राय समझा है, सोई है, या अन्य है, क्योंकि तर्क दृष्टि को कनिष्ठ अधिकारी कहा गया है, अतः वार वार कुतर्क होना सम्भव है, इससे उस तर्क जन्य संशय की निवृत्ति के लिये अन्य विद्वान् के पास में गया, और अपने निश्चय को सुनाया ॥२२॥

तर्क दृष्टि के वैन सुनि, सो बोल्यो बुध सन्त ।
जो मोसूं तैं यह कह्यो, सोइ मुख्य सिद्धान्त ॥२३॥

संशय सकल नशाय यों, लख्यो ब्रह्म अपरोच्छ ।
जग जान्यो जिन सब असत, तैसे बन्धरु मोच्छ ॥४२॥

शेष रह्यो प्रारब्ध यों, इच्छा उपजी येह ।
चलि तत्काल हि देखिये, जननि जनक युत गेह ॥२५॥

**टीका**—ज्ञानी का सब व्यवहार अज्ञानी के समान प्रारब्ध से होता है । यह प्रथम कहा गया है, अतः इच्छा भी होती है ॥ और जो कहीं शास्त्र का कथन है कि ( ज्ञानी को इच्छा नहीं होती है ) । उस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि ( ज्ञानी का अन्तःकरण इच्छा रूप परिणामरूपता को नहीं प्राप्त होता है ) क्योंकि अन्तःकरण के इच्छा आदिक सहज ( स्वाभाविक ) धर्म हैं । यद्यपि अन्तःकरण को भूतों के सत्त्वगुण के कार्य कहा गया है । तथापि रजोगुण और तमोगुण सहित सत्त्वगुण का कार्य है, केवल का नहीं । यदि केवल सत्त्वगुण का कार्य हो, तो उसका चञ्चल स्वभाव नहीं होना चाहिये । और उसकी काम क्रोधादि राजसी वृत्ति तथा मोह आलस्यादि तामसी वृत्ति नहीं होनी चाहिये, अतः केवल सत्त्वगुण का कार्य अन्तःकरण नहीं है । किन्तु अप्रधान ( गौण ) रजोगुण तमोगुण युक्त प्रधान ( मुख्य ) सत्त्वगुण से अन्तःकरण उत्पन्न होता है, अतःकरण में तीनों गुण रहते हैं, सो भी सब प्राणी के अतःकरण में तुल्य ( एक ) रूप से नहीं रहते हैं, किन्तु न्यूनाधिक रूप से रहते हैं । अतः विलक्षण स्वभाव अन्तःकरण का रहता है । और अन्तःकरण के वर्तमान रहते इच्छा का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता है । अतः ज्ञानी को इच्छा नहीं होती है, इस कथन का यह तात्पर्य है कि अज्ञानी और ज्ञानी दोनों को इच्छा तो तुल्य ही होती है, परन्तु अज्ञानी इच्छा आदि

को आत्मा के धर्म समझता है, और ज्ञानी इच्छा आदि के रहते भी उनको आत्मा के धर्म नहीं समझता है, किन्तु काम, संकल्प, संशय, राग, द्वेष, श्रद्धा, भय, लज्जा इच्छा आदि अन्तःकरण के परिणामों को अन्तःकरण के धर्म समझता है, इस रीति से इच्छा आदि के रहते भी इच्छा आदिक आत्मा के धर्म रूप ज्ञानी को नहीं प्रतीत होते हैं, इसलिये ज्ञानी में इच्छा का अभाव कहा गया है। इसी प्रकार तन मन वचन से जो व्यवहार ज्ञानी करता है, उन सब व्यवहारों को आत्मा में नहीं समझता है, न वे व्यवहार उसको आत्मा में प्रतीत होते हैं, किन्तु सब व्यवहार तन मन आदिक में ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि असङ्ग आत्मा ज्ञानी को निश्चित-अनुभूत रहता है, अतः सब व्यवहारों का कर्ता भी ज्ञानी स्वरूप से अकर्ता रहता है, इसी से श्रुति आदि में कहा गया है कि (ज्ञान के वाद वर्तमान शरीर में किये गये शुभाशुभ कर्मों के फल पुण्य पाप का सम्बन्ध ज्ञानी को नहीं होता है।। परन्तु प्रारब्ध बल से अज्ञानी के समान व्यवहार और उनकी इच्छा आदि होते हैं।।

### ।। शुभ सन्तति के चिन्तादि वर्णन ।।

शुभ सन्तति नामक राजा को त्याग कर उसके तीनों पुत्र गृह से निकले, उनकी कथा कही गई, अब राजा के विचारों को कहा जाता है।।

**पुत्र गये लखि गेह ते, पितुचित उपज्यो खेद।**
**सुनो राज न तिनि तज्यो, नहिं यथार्थ निर्वेद।।२६।।**

**टीका**—यथार्थ निर्वेद=तीव्र वैराग्य नहीं होने के कारण पुत्रों के घर से निकल जाने पर राजा के मनमें वियोगज दुःख हुआ, और मन्द वैराग्य के हो जाने से विषय जन्य सुख भी नहीं रहा, और पुत्रों के चले जाने से शून्य राज्य को भी नहीं त्याग सका, इससे भी दुःख

हुआ, यदि तीव्र वैराग्य होता तो शून्य राज्य को भी त्याग देता, किन्तु मन्द वैराग्य था, इससे त्यागा नहीं, अतः सर्वथा दुःख ही हुआ ॥ २६ ॥

आगे मन्द वैराग्य के फल जिज्ञासा का वर्णन किया जाता है कि—

॥ चौपाई ॥

शुभसन्तति पितु सो वड़ भागा । भयो प्रथम तिहि मन्द विरागा ।
जिज्ञासा उपजी यह ताको । ध्येय देव को ध्याऊँ जाको ॥ १ ॥
पण्डित निर्णय करन बुलाये । यथायोग्य आसन बैठाये ॥
प्रश्न कियो यह सबके आगे । को अस देव न सोवै जागै ॥ २ ॥
पुरुषारथ हित जन जिहि जाचै । भक्तिमान के मन में राचै[1] ॥
सुनि यह पृथिवी पति की वानी । इक तिन में बोल्यो सुज्ञानी ॥३॥

विष्णुभक्त का उत्तर—

सुनु राजन तुहि कहूँ सुदेवा । शिव विरञ्चि लागे जिहि सेवा ॥
शंख चक्रधारी हित कारी । पद्म गदाधर पर उपकारी ॥ ४ ॥
मंगल मूरति विष्णु कृपालू । निज सेवक लखि करत निहालू ॥
शक्ति गणेश सूर शिव जे हैं । सब[2] आज्ञा ताकी मैं ते हैं ॥ ५ ॥
भारत[3] सकल ग्रन्थ यह भाखै । पद्म पुराण तापिनी[4] आखै ॥
विष्णु रूप ते उपजत सबही । परै भीर जाचैं तिहि तबही ॥ ६ ॥
विविध वेष को धरि अवतारा । सब देवन को देत सहारा ॥
याते ताकी कीजै पूजा । विष्णु समान सेव्य नहिं दूजा ॥ ७ ॥
विष्णु भक्त शिव उत्तम कहिए । तद्यपि सेव्य स्वरूपन लहिये ॥
रूप अमङ्गल शिव को शव[5]सम । ध्यान करै नहिं ताको यों हम ॥८॥

---

१ राचै=रुचिकर हो ॥ २ ते (वे) शक्ति आदि और मैं उस विष्णु की आज्ञा में रहने वाले हैं ॥ ३ महाभारत ॥ ४ नृसिंह तापिनी राम तापिनी गोपाल तापिनी आदि ५ ॥ मुर्दा तुल्य ॥

राख डमरु गजचर्म कपाला। धरै आप किहि करै निहाला॥
ताको पूत गणेशहु तैसो। रूप विलक्षण नर पशु जैसो॥ ९॥
शठ हठ ते ध्यावत जो देवी। तामस रूप धरत तिहि सेवी॥
तिय निन्दित अशुची न पवित्रा। अवगुण गिने न जात विचित्रा॥१०॥
कपट कूट को आकर कहिए। पराधीन निज तन्त्र[1] न लहिये॥
ऐसो रूप जु चहिये जाको। सो सेवहु नरखर[2] सम ताको॥११॥
भ्रमत फिरै निशि दिन यह भानू। रहत न निश्चल छन इक थानू॥
भ्रमतो फिरै उपासक ताको। तिहि समान सेवक जो जाको॥१२॥
आन देव याते सब त्यागै। सेवनीय इक हरि नित जागै॥
पूजन ध्यान करन विधि जो है। नारद पञ्चरात्र में सोहै॥ १३॥

**टीका**—विष्णु से अन्य चार देव की उपासना के निषेध से यहाँ स्मार्त उपासना का भी निषेध किया गया है, क्योंकि पाँच देव में सम-बुद्धि से पाँचो की उपासना को स्मार्त उपासना कहते हैं, तहाँ शिव आदि में विष्णु की समता के निषेध से स्मार्त का अर्थतः निषेध सिद्ध हो जाता है।

शिव सेवक मुनि सुनि तिहि वैना। क्रोध सहित बोल्यो चल नैना॥
सुनु राजन वानी इक मोरी। जामें वचन प्रमाण करोरी॥ १४॥
शिव हि समान आन को कहिये। माँगे देत जाहि जो चहिए॥
सब विभूति हरि को-दे माँगी। धरत विभूति आप नित त्यागी॥१५॥
चर्म कपाल हेतु इहि धारै। सम नहिं उत्तम अधम विचारै॥
नग्न रहत उसदेशत येही। नहिं विराग सम सुख ह्वै केही॥ १६॥

**टीका**—वैष्णव ने चर्म कपालादि निन्दित वस्तु का आक्षेप निन्दा किया था। उसका यह समाधान है कि शिव को सब पदार्थों में सम-

१ स्वतन्त्र नहीं॥ २ सो खर तुल्य मनुष्य उसको सेवे॥

बुद्धि रहती है, अतः वे सबको सम विचारते हैं। उत्तम मध्यम नहीं विचारते ( समझते ) हैं ॥ और—

सदावर्त[1] ऐसो दे भारी। काशी पुरी मरे नर नारी ॥
सो सायुज्य मुक्ति को पावै। गर्भ वास सङ्कट नहिं आवै ॥१७॥
शिव समान नर नारी ते सब। लहत सुदिव्य भोग सगरे[2] तब ॥
करत आप अद्वय उपदेशा। तजत[3] लिंग यों ब्रह्म प्रवेशा ॥ १८ ॥
ऊँच नीच रञ्चहु नहिं देखै। मुक्ति सबनको दै इक लेखै ॥
शिव समान राजन को दाता। भक्त अभक्त सबन को त्राता १९॥
विष्णु सुभाव सुन्यो हम ऐसो। जग में नर प्राकृत ह्वै तैसो ॥
त्राता भक्त अभक्त न त्राता। यह प्रसिद्ध सब जग में नाता॥२०॥
हरि सेवक हर सेव्य बखान्यो। रामचन्द्र रामेश्वर मान्यो ॥
स्कन्द पुराण व्यास बहु भाख्यो। हरि सेवक हर सेव्यहि राख्यो॥२१
कह्यो जु भारत पद्म पुराना। सब देवन ते हरि अधिकाना ॥
भारत तात्पर्य नहिं देख्यो। जो अप्पय दीक्षित बुध लेख्यो।२२॥

टीका—महा भारतादि में विष्णु सब देव का भी पूज्य कहे गये हैं, यह प्रथम वैष्णव का कथन है, सो ठीक नहीं है। क्योंकि महा भारत के तात्पर्य को देखने से शिव की ही प्रधानता प्रतीत होती है, यह अप्पयनामक विद्वान ने सब पुराण और इतिहास का तात्पर्य रूप लेख में लिखा है, वहाँ यह प्रसंग है कि—अश्वत्थामा ने नारायण और आग्नेय अस्त्र का युद्ध में प्रयोग किया, जिससे बहुत सेना का तो संहार हुवा, परन्तु पाँच पाण्डवों में कोई नहीं मरा तब रथ को त्याग कर, धनुर्वेद और आचार्य को धिक्कारता हुवा जंगल के तरफ चला,

१ सदा अखण्ड दान ऐसा भारी देते है ॥ २ सर्वत्र=सगरे ३ लिङ्ग ( सूक्ष्म देह ) को त्यागता है, इस प्रकार ब्रह्म में प्रवेश करता है ( लीन होता है ) ॥

फिर मार्ग में व्यास भगवान् उसको मिले, और बोले कि—हे ब्राह्मण तुम आचार्य और वेद को धिक्कार नहीं करो, क्योंकि ये कृष्ण और अर्जुन, नारायण और नर के अवतार हैं, सो शिव की बहुत पूजा किये हैं। अतः इनकी भक्ति आधीन त्रिशूली महादेव इनके रथ के आगे रहते हैं। सो इनके ऊपर प्रयुक्त अस्त्र शस्त्र के सामर्थ्य को नष्ट कर देते हैं,,। इस महाभारत के प्रसङ्ग ( कथा ) से नारायण रूप कृष्ण की विभूतियाँ, शिव की कृपा जन्य सिद्ध होती हैं। अतः विष्णु के चरित्रों के प्रतिपादक सब ग्रन्थ भी शिव की अधिकता ( महिमा ) का ही प्रतिपादन करते हैं क्योंकि उन ग्रन्थों में विष्णु को पूज्य कहा है, और सो विष्णु भारत के प्रसङ्ग से शिव का भक्त हैं। अतः जिस शिव की भक्ति से विष्णु पूज्य हुवे हैं। सो शिव ही वस्तुतः परम सेव्य है। इस रीति से सब वैष्णव ग्रन्थ का प्रतिपाद्य शिव को ही अप्पय दीक्षित ने कहा है ॥ २२ ॥

शिव सब को प्रतिपाद्य बखान्यो।
भक्तन में उत्तम हरि गान्यो ॥
ईश देव पद सबमें कहिये।
महत सहित इक शिव में लहिये ॥२३॥

**टीका**—महादेव महेश शिव को कहते है, अन्य को देव ईश मात्र कहते हैं ॥

शिव ते भिन्न अशिव जो कहिये।
तिहि तजि शिव कल्याण हि लहिये ॥
जलशायी जिहि नाम बखान्यो।
सो जागै यह मिथ्या गान्यो[1] ॥ २४ ॥

---

१ कहा है ॥

टीका=कल्याण को शिव कहते हैं। अतः उससे भिन्न अशिव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि शिव से भिन्न देव सब अशिव (अकल्याण) स्वरूप हैं, अतः उन्हें त्याग कर शिव स्वरूप को भजना चाहिये ॥

विष लखि जब सबको उपज्यो डर।
निर्भय किये सकल गर[1] धरि गर ॥
जाको पूत गणेश कहावै। विघ्न जाल तत्काल नशावै ॥२५॥
कारज में कारण गुण होवै। यों शिव विघ्न मूल ते खोवै ॥
जन्म मरण दुख विघ्न कहावै। तिहि समूल शिव ध्यान नशावै॥२६॥
सेवन योग्य सदा शिव एका। जागै सहित समाधि विवेका॥
तन्त्र पाशुपत रीति जु गावै। त्यों पूजन करि ध्यान लगावै ॥२७॥
नारद पञ्च रात्रमत झूठो। यह परिमल परसङ्ग अनूठो ॥
याते शिव सेवा चित लावै। पुरुषारथजु चहै सुपावै ॥२८॥

टीका=नारद पञ्चरात्र मत का ब्रह्मसूत्र और उसके शाङ्कर भाष्य में खण्डन किया है, और पञ्चरात्रमत के अनुसारी रामानुज आदि नवीन वैष्णव मत का खण्डन शांकर भाष्य की टीका भामती, की टीका कल्पतरु के व्याख्यान परिमल में किया है ॥

॥ गणेश भक्त की उक्ति का वर्णन ॥

शिव को पूत गणेश बतायो।
कारणगुण कारज में गायो॥
सुनि गणेश को पूजक बोल्यो।
अस किय कोप सिंहासन डोल्यो।॥२९॥

---

१ सब गर (बिष) को गर (गले-कण्ठ) में धर कर शिवजी ने सब को निर्भय किया ॥

राजन सुनु दोनों ये झूठे।
बचन सत्य सम कहत अनूठे॥
शिव को पूत गणेश बतावै।
पराधीनता तामें गावै॥३०॥
कहूं प्रसङ्ग सुनहु इक ऐसो।
लिख्यो व्यास भगवत मुनि जैसो॥
चढे त्रिपुर मारन को सारे।
हरि हर सहित देव अधिकारे॥३१॥
नहिं गणेश को पूजन कीनो।
त्रिपुर न रह्यहु तिनते छीनो॥
पुनि पछताय मनाय गणेशा।
त्रिपुर विनाश्यो रह्यो न लेशा॥३२॥
भये समर्थ किये जिहि पूजा।
सेवन योग्य सुइक नहिं दूजा॥
राम पूत दशरथ को जैसे।
विघ्न हरन शिव को सुत तैसे॥३३॥
व्यास गणेश पुराण बनायो।
सबको हेतु गणेश बतायो॥
हरिहर विधि रवि शक्ति समेता[1]।
तुण्डी[1] ते उपजत सब तेता॥३४॥
करत ध्यान जिहि छन जन मन में।
नाशत विघ्न प्रधान गनन में॥
विघ्न हरन यों जागत निशिदिन।
भक्ति सहित सेवहु तिहि अनुछिन[2]॥३५॥

---

१ तुण्ड वाले गणेश से॥ २ निरन्त=सदा सेवो॥

॥ देवी भक्त का उत्तर ॥

हेतु गणेश शक्ति को सुनि कै।
भगत भागवत[1] उचर्‌यो गुनि कै॥
सुनु राजन बानी ममसाँची।
तीनो सकल कहत ये काँची[2] ॥३६॥
सूने देव शक्ति बिनु सारे।
मृतक देह सम लख हत्यारे॥

शक्ति हीन असमर्थ कहावै। सो कैसे कारज उपजावै ॥३७॥
जिन बहु शक्ति उपासन धारी। तोते भये सकल अधिकारी॥
हरि हर सूर गणेश प्रधाना। तिन में शक्ति देखियत नाना ॥३८॥
शक्ति लोक में भाखत जाको। रूप भगवती को लखि ताको॥
लाख करोरि मातृका गन पुनि। तन्त्रग्रन्थ लखि अंश सकल गुनि।३९।

टीका=सामान्य और विशेष भेद से भगवती के दो स्वरूप हैं। सब पदार्थों में जो निज कार्य करने की सामर्थ्य रूप शक्ति है, सो भगवती का सामान्य (व्यापक) स्वरूप है, और आठभुजा आदि सहित मूर्ति विशेष स्वरूप है, सामान्य स्वरूप शक्ति के संख्या रहित अनन्त अंश हैं, जिसमें शक्ति का न्यून अंश रहता है, वह अल्प शक्तिवाला होता है, असमर्थ कहा जाता है, विष्णु, शिवादि में शक्ति के अधिक अंश रहते हैं, अतः वे अधिक समर्थ कहे जाते हैं, इस रीति से भगवती के सामान्यांश की अधिकता से विष्णु, शिव गणेश, सूर्य की महिमा प्रसिद्ध है। और शक्ति शून्य रहित होने से प्राण रहित अमंगल रूप देह के समान मानो सब देव हत्यारे ( अमंगल स्वरूप ) हो जायँ, अतः शक्ति की अधिकता से देवों की महिमा की प्रसिद्धि से वह महिमा शक्ति की है, उन देवों की नहीं, विष्णु शिवादिकों ने

१ भगवती का भक्त ॥ २ मिथ्या=असत्य ॥

सामान्यशक्ति की अधिक उपासना की है, अतः उनमें शक्ति का अंश अधिक है, यह भगवती भक्त का तात्पर्य है ॥३६॥

जैसे निराकार स्वरूप भगवती के अनन्त अंश हैं, तैसे साकार के भी अनन्त अंश हैं, उन अंशों में काली प्रधान है, और माहेश्वरी, वैष्णवी, सौरी, गाणेशी आदि भी प्रधान अंश हैं। भगवती की उपासना से विष्णु को जैसे वैष्णवी नामक शक्ति के अंश का लाभ हुवा। तैसे ही अन्य देव को भी शक्ति की उपासना से ही अपने अपने माहेश्वरी आदि शक्ति के अंश का लाभ हुआ है। उन देवों में शिव और विष्णु भगवती के प्रधान भक्त हैं, क्योंकि ध्याता को ध्येय रूपता की प्राप्ति उपासना की परम अवधि है, और शिव विष्णु को ध्येय रूपता की प्राप्ति हुई है। अतः प्रधान उपासक हैं, सो चौपाई से अगे कहते हैं कि—

**काली ताको अंश प्रधाना। माहेश्वरि आदि लखि नाना॥**
**हरि हर ब्रह्म सकल तिहि ध्यावैं। निज२ अंशकृपा तिहि पावै ४०**
**ध्येय रूप ध्याता ह्वै जबही। सिद्ध उपासन लखिये तबही॥**
**अस उपासना हरि अरु हर की। नारी मूर्ति धरी तजि नरकी ४१**

**अमृत मथन प्रसंग में, हरि मोहिनी स्वरूप।**
**अर्ध अङ्ग शिव को लसै, देवी रूप अनूप॥ २७॥**

**टीक**==जब समुद्र के मथन से अमृत को प्रकट किया, तब सुर (देव) और असुरों के विवाद को मेटने में विष्णु असमर्थ हुए। फिर अपने उपास्य भगवती का ऐसा ध्यान किया कि जिससे ध्येय रूपता को प्राप्त हो गये, उस स्वरूप के माहात्म्य से असुर उनके अनुकूल हो गये। तैसे ही शिव ने भगवती का ऐसा ध्यान किया कि जिससे शिव का अर्ध विग्रह (आधा शरीर) उपास्य रूप हो गया। (सम्भव है कि ध्यान में विक्षेप से सम्पूर्ण शरीर उपास्य रूप नहीं हुवा) उक्त

रीति से सब देव भगवती के उपासक हैं। सो उपासना दो प्रकार से होती है, एक दक्षिण अम्नाय से और दूसरी उत्तर आम्नाय से होती है, तहाँ दक्षिण आम्नाय की कथा कही गई है, आगे उत्तर अम्नाय वाली उपासना कही जाती है कि—

भक्त भगवती के हर हरि हैं। इन मम कौन उपासना करिहैं॥

तदपि महा माया जो ध्यावै।
तुरत सकल पुरुषारथ पावै॥४२॥
नहि साधन जगमें अस औरा।
उपजै भोग मोक्ष इक ठौरा॥
भक्त भगवती को जो जग में।
भोगै भोग न आवत भग[1] में॥४३॥
शिव कृत तन्त्र रीति यह गाई।
भक्ति भगवती अति सुख दाई॥
पञ्च मकार न तजिये कबहूं।
जिनहि सनातन सेवत सबहूं॥४४॥
कृष्ण देव बलदेव सुज्ञानी।
प्रथमा[2] पिवत सदा ज्यूं पानी॥
और प्रधान पुरातन जेते।
सेवत सकल मकारहि तेते॥४५॥
तिन सेवन की जो विधि सारी।
शिव निज मुख भाखी उपकारी॥
शिव को वचन धरै जो मन में।
लहै सुभोग मोक्ष इक तन में॥४६॥

---

१ गर्भादि रूप कष्ट के स्थान में।

ग्रन्थ भागवत व्यास बनायो ।
उप पुरान काली समुझायो ॥
भक्ति भगवती की इक गाई ।
पूजा विधि सगरी समुझाई ॥४७॥
ध्याता सकल भगवती के हैं ।
हरिहर सूर गणेश जिते हैं ॥
सकल पिये प्रथमा[1] मतिवारे ।
पूजत शक्ति मग्न मन सारे ॥४८॥
जग जननी जागै इक देवी ।
परमानन्द लहै तिहि सेवी ॥

॥ सूर्य भक्तोत्तरवर्णन ॥

सूर्य भक्त भगवती को यश सुनि ।
क्रोध सहित बोल्यो इक मुनि पुनि ॥४९॥
सुनु राजनवानी इक मोरी ।
भाखूं झूठ न सपथ करोरी ॥
अतिपापिष्ठ नीच मत याको ।
श्रवण सनेह सुन्यो तैं जाको ॥५०॥
अवगुन जिते बखानत जग में ।
ते गिनियत गुनगन या मग में ॥
मद्य मलीन हि तीरथ राखत ।
शुद्ध नाम आमिष को आखत[2] ॥५१॥
कहत और यों सब विपरीता ।
शम्भु तन्त्र सेवी मति रीता[3] ॥

---

१ मदिरा=मद्य । २ कहता है । ३ मति ( भावी हित बुद्धि ज्ञान ) से रीता ( शून्य ) निष्प्रमाणिक है ॥

दक्षिण संप्रदाय जो दूजी ।
यद्यपि श्रेष्ठ अनेक न पूजी ॥५२॥
तद्यपि बिनु भानु सब अन्धे ।
इन सबके मन जिनमें बन्धे ॥
करत भानु सगरो उजियारो ।
ता बिनु होत तुरत अँधियारो ॥५३॥
और प्रकाशक जग में जे हैं ।
अंश सबै सूरज के ते हैं ॥
भानु समान कौन हितकारी ।
भ्रमत आप परहित मतिधारी ॥५४॥
काल अधीन होत सब कारज ।
ताहि त्रिविध भाखत आचारज ॥
वर्तमान भावी अरु भूता ।
सूरज क्रिया करत यह सूता[1] ॥५५॥
या विधि सकल भानु ते उपजै ।
भस्म होत सब जब वह कुपिजै ॥
भानु रूप द्वै भाँति पिछानहुँ ।
निराकार साकार हि जानहुँ ॥५६॥
निराकार परकाश जु कहिये ।
नाम रूप से व्यापक लहिये ॥
अधिष्ठान सबको सो एका ।
जग विवर्त है जिहि अविवेका ॥५७॥
अहं भानु, अस वृत्ति उदै जब ।
तामें प्रकटि विनाशत तम सब ॥

---

[1] सूर्य की क्रिया ( गति ) यह सूत ( कार्य ) करती है, वर्तमानादि काल भेद को सूत ( उत्पन्न ) करती है ॥

**टीका**—साकार और निराकार प्रकाश भेद से सूर्य के दो स्वरूप हैं, उनमें निराकार प्रकाश सब नाम रूप में व्यापक है, उसी को वेदान्ती भाति शब्द से व्यवहार करते (कहते) हैं। वहीं निराकार सूर्य का सामान्य स्वरूप सब जगत् का अधिष्ठान है। उसके अज्ञान से जगत् रूप विवर्त उत्पन्न होता है। और वही निराकार अन्तःकरण की वृत्ति प्रतिबिम्ब सहित ज्ञान कहा जाता है। और (अहं भानु) ऐसी अन्तःकरण की वृत्ति प्रकाश के प्रतिबिम्ब सहित जब होती है, तब अज्ञान की निवृत्ति द्वारा जगत की निवृत्ति होती है ॥

सुनु साकार रूप यह ताको।
होय चान्दना दिन[1] में जाको ॥५८॥
ताके अंश और बहु तेरे।
चन्द तारका दीप घनेरे ॥
याते द्वै विध भानु बताओ।
ज्ञेय ध्येय को भेद जनायो ॥ ५९ ॥
वेद सकल याही को भाखत।
रूप प्रकाश सत्य तिहि आखत ॥

**टीका**—निराकार साकार भेद से भानु के दो रूप हैं, उनमें निराकार ज्ञेय है, साकार ध्येय है। इसी को वेदान्त में निर्गुण सगुण भेद से दो प्रकार के ब्रह्म कहते हैं ॥

जामें लेश न तम को कबही।
लखि तिहि जग जन जागत सबही ॥६०॥
कबहु न सोवै सो यों जागै। ध्यान करत ताको तम भागै ॥
औरहि जागत भाखत सगरे। राजन जानि झूठ ते झगरे ॥६१॥

---

१ प्रकाश ॥

## ॥ उक्तमतों के अनुवाद पूर्वक स्मार्तमत ॥

**ऐसे पांच उपासक बोले । निजगुण अवगुण पर के खोले ॥**
**पण्डित और अनेक जुआये । भिन्न-भिन्न निज मत समुझाये ।६२।**

**टीका**=जैसे पाँच उपासक परस्पर विरुद्ध वचन बोले, तैसे अन्य अनेक पण्डित भी अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार विरुद्ध ही बोले । क्योंकि जैसे वैष्णवादि के परस्पर विरुद्ध मत हैं, तैसे पञ्चदेव को समबुद्धि से उपासक स्मार्त पण्डितों का मत भी इन पांचो से विरुद्ध ही है, तहाँ वैष्णव का मत है कि विष्णु के समान अन्य देव नहीं हैं, सब देव विष्णु के भक्त हैं, विष्णु के जो राम, कृष्ण, नारायणादि नाम हैं, उनके समान जो अनदेव के नामों को जानता है, सो नामापराधी[1] है, उसको रामादि नामों के उच्चारण का यथार्थ फल नहीं होता है । तैसे शैव मत में शिव समान अन्यदेव नहीं हैं, और

---

१ सन्निन्दाऽसति नामवैभवकथा श्रीशेशयो र्भेदधीः, अश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः । नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहित त्यागो हि धर्मान्तरैः, साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरे र्नामापराधा दश ॥१॥

सत्पुरुषों की निन्दा १, असत् पुरुष ( श्रद्धा आदि रहित ) के प्रति नाम विभूति की ( महिमा ) का कथन २, भगवान् विष्णु और शिवजी में भेद बुद्धि ३, श्रुति ( वेद ) वचन में अश्रद्धा ४, सत् शास्त्र वचन में अश्रद्धा ५, गुरुवचन में अश्रद्धा ६, नाम की महिमा में अर्थवाद ( स्तुति ) मात्रता का भ्रम ७, नाम है, इस बल पर निषिद्ध कर्माचरण ८, और नाम बल के भरोसे ही गुरुभक्ति आदिविहित कर्मों का त्याग ९ और शिव तथा हरि के नाम जप में धर्मान्तर से तुल्यता सर्वधर्म से उत्कृष्टता की बुद्धि का अभाव १० ये दश नामाऽपराध होते हैं, उन अपराधों को करने वाला नामापराधी होता है ॥

शिव नामोच्चारण का फल विष्णु नामोच्चारण से नहीं होता है। इसरीति से सबके मत में अपने-अपने उपास्य देव के समान अन्यदेव नहीं हैं, और स्मार्तमत में सब देव सम हैं, अतः स्मार्तमत भी उन पाँचो से विरुद्ध है ॥६२॥

॥ षट् शास्त्रों की परस्पर विरुद्धता ॥

सांख्य आदि दर्शन शास्त्रों का भी परस्पर विरुद्ध मत है। क्योंकि सांख्य में ईश्वर का अङ्गीकार नहीं है, योग द्वारा निरपेक्ष प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान से मोक्ष माना है ॥१॥ पातञ्जल शास्त्र में ईश्वर का अङ्गीकार है, समाधि से मोक्ष माना है, यह विरोध है ॥२॥

न्याय मत में चार प्रमाण, और वैशेषिक में दो प्रमाण मानते हैं, यह विरोध है, तैसे न्याय वैशेषिक का और भी आपस में बहुत विरोध है, सो जिज्ञासु के लिये अनुपयोगी है, अतः नहीं लिखा गया है ॥४॥ पूर्व मीमांसा में ईश्वर और मोक्ष रूप नित्य सुख का अङ्गीकार नहीं है, किन्तु कर्म जन्य विषय सुख ही पुरुषार्थ माना गया है ॥५॥ उत्तर मीमांसा में ईश्वर का और मोक्ष का अङ्गीकार है, विषय सुख पुरुषार्थ नहीं है, सो इस ग्रन्थ में स्पष्ट ही है, सब शास्त्र का मत इस उत्तर मीमांसा से विरुद्ध है, क्योंकि अन्य में भेद वाद है, और इसमें भेद का खण्डन और अभेद का प्रतिपादन है। अतः सब दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध हैं ॥

बचन विरुद्ध सुने जब राजा।
यह संशय उपज्यो तिहि ताजा[1] ॥
इनमें कौन सत्य बुध भाखत।
युक्ति प्रमाण सकल सम आखत ॥६३॥
संशय शोक दुखित यों जिय में।
को उपास्य यह लख्यो न हिय[2] में ॥

१ ताजा=नवीन ॥ २ हृदय=मन में ॥

चिन्ता हृदय भई वह जाको ।
निज संदेह सुनाऊँ काको ॥६४॥
शास्त्र निपुण पण्डित जग जेते ।
सुने विरुद्ध वकत यह तेते ॥
यों चिन्तत बहु काल भयो जब ।
तर्क दृष्टि तिहि आय मिल्यो तब ॥६५॥
मिले परस्पर ते उभै, पुत्र पिता जिहि रीति ।
करि प्रणाम आशिष दुहुँ, आसन[1] लहे सप्रीति ॥२८॥

॥ तर्क दृष्टि का पिता के प्रति उपदेश ॥

निज पितु चिन्ता सहित लखि, सुत बोल्यो यह बात ।
का चिन्ता चित रावरे[2] । मुख प्रसन्न नहिं तात ॥२६॥
शुभ सन्तति सुनि सुत की बानी । तिहि भाखी निज सकल कहानी॥
चित चिन्ता को हेतु सुनायो । को उपास्य यह तत्त्व न पायो ॥६६॥
तर्क दृष्टि सुनि पितु के बैना । बोल्यो शुभ सन्तति सुख दैना ॥
कारण रूप उपास्य पिछानहु । ताके नाम अनन्त हि जानहु ॥६७॥
कारज रूप तुच्छ लखि तजिये । यह सिद्धान्त वेद को भजिये ॥
रचे व्यास इतिहास पुराना । तिन में यही मतो नहिं नाना ॥६८॥
मन में मर्म न लखत जु पण्डित । करत परस्पर मत ते खण्डित ॥
नील कण्ठ पण्डित बुध नीको । कियोग्रन्थ भारत को टीको ॥६९॥
तिन यह प्रथम हि लिख्यो प्रसङ्गा । श्रुति सिद्धान्त कह्यो जो[3] चङ्गा॥

टीका=यद्यपि शंका होती है कि—सब पुराण का कर्ता एक व्यास हुए हैं, सो स्कन्द पुराण में शिव के स्वतन्त्रता आदि रूप ईश्वर

---

१ पुत्र प्रणाम किया, पिता आशीर्वाद दिया, फिर दोनों अपने आसन पर प्रेमयुक्त बैठे ॥ २ रावरे=आप के चित्त में ॥ ३ चङ्गा=सुन्दर=सत्य ॥

धर्म कहे हैं। और देवों की सत्वविभूति को शिव की कृपा के अधीन कहे हैं। अतः अन्य देवों में जीव धर्म ( जीवत्व ) कहा है। और विष्णुपुराण पद्म पुराण में विष्णु की ईश्वरता कही है, और उप पुराणों में विष्णु शिव से भिन्न गणेशादि की ईश्वरता कही गई है। इसरीति से व्यास वाक्यों में विरोध प्रतीत होता है ॥

तथापि उक्त शंका का समाधान यह करते हैं कि--विष्णु आदि सब ईश्वर हैं। किन्तु जिस प्रकरण में अन्य की निन्दा है, तहाँ निन्दा द्वारा अन्य की उपासना के त्याग में व्यास का तात्पर्य नहीं है, परन्तु वैष्णव पुराण में शिवादि की निन्दा. विष्णु की स्तुति द्वारा विष्णु की उपासना में प्रवृत्ति का हेतु है। तैसे ही शिव पुराण में विष्णु आदि की निन्दा भी उनकी उपासनाओं के त्याग के लिये नहीं है, किन्तु उनकी निन्दा शिव की उपासना में प्रवृत्ति के लिये है। यदि एक प्रकरण में अन्य की निन्दा उनके त्याग के लिये हो, तो सब की उपासनाओं का त्याग होगा, अतः अन्य की निन्दा एक की स्तुति के लिये है, त्याग के लिये नहीं ॥

दृष्टान्त—वेद में अग्नि होत्र के सूर्योदय से प्रथम और सूर्योदय के अनन्तर ये दो काल कहे गये हैं। तहाँ उदय काल के प्रसङ्ग में अनुदय काल की निन्दा वर्णित है, और अनुदय काल के प्रसङ्ग में उदय काल की निन्दा वर्णित है, तहाँ यदि निन्दा का त्याग में तात्पर्य हो, तो दोनों काल के अग्नि होत्र का त्याग होगा, और नित्यविहित कर्म का त्याग हो नहीं सकता है, अतः उदय काल की स्तुति के लिये अनुदय काल की निन्दा है। और अनुदय काल की स्तुति के लिये उदयकाल की निन्दा है, तैसे एक देव की उपासना के प्रसङ्ग में अन्य की निन्दा एक की स्तुति के अभिप्राय से है, अन्य की निन्दा के तात्पर्य से नहीं ॥

## ।। पञ्चदेवोपासकों की ब्रह्मलोकप्राप्ति ।।

जैसे शाखा भेद से कोई सूर्योदय काल में होम करता है, कोई अनुदय काल में करता है, परन्तु फल दोनों को तुल्य होता है, तैसे ही इच्छा भेद से पञ्च देव में चाहे किसी की उपासना करे, सब उपासना की पूर्ति से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, तहाँ भोग के बाद ज्ञान से मोक्ष होता है। यद्यपि विष्णु आदि की उपासनाओं से वैकुण्ठादि में प्राप्ति रूप फल पुराणों में कहा है, ब्रह्म लोक मे नहीं। तथापि विदेह मुक्ति के अधिकारी सब उत्तम उपासक देवयान मार्ग से ब्रह्म लोक में ही जाते है, परन्तु एक ही ब्रह्मलोक वैष्णव उपासक को वैकुण्ठ प्रतीत होता है। और वहाँ के निवासी सब चतुर्भुज पार्षद रूप प्रतीत होते हैं। और आप स्वयं भी अपने को चतुर्भुज मूर्ति वाला समझता हैं। और शैव उपासक को ब्रह्मलोक ही शिव लोक प्रतीत होता है, और अपने सहित सब लोकवासी त्रिनेत्र मूर्तिं वाले प्रतीत होते हैं। इस रीति से सब उपासक को एक ब्रह्मलोक ही अपने अपने उपास्य का लोक प्रतीत होता है, क्योंकि यह गियम है कि देवयान मार्ग के बिना अन्यमार्ग से परलोक में जाने वाले फिर इस संसार में आते हैं, और ब्रह्मलोक का ही एक देवयान[1] मार्ग है, अतः विदेह मोक्ष के योग्य सब उपासक ब्रह्मलोक में जाते हैं। और उस लोक की अद्भुत महिमा से उपासक की इच्छा के अनुसार सब भोगादि की सामग्री सहित वह ब्रह्मलोक ही प्रतीत होता है ।।

---

१ ब्रह्मलोक में प्राप्ति के लिये अर्चि आदि क्रम से एक मार्ग है, उसको देव यान मार्ग, उत्तरायण मार्ग कहते हैं, ऊर्ध्व गति के लिये दूसरा दक्षिणायन धूमादि मार्ग है, जिससे चन्द्रलोक तक कर्मी जाते हैं ।।

**।। उक्तरीति से पञ्चदेव उपासकों को समफल प्राप्त होता है, और एक परमात्मा में नाना नाम रूप का सम्भव है ।।**

यहाँ यह शंका होती है कि पाँच देव के नाम रूप भिन्न भिन्न कहे जाते हैं, और ईश्वर एक है, उसमें नाना रूप का सम्भव नहीं है। इसका समाधान है कि परमार्थ स्वरूप में सत्य नाम रूप नहीं हैं, तथापि नाम रूप रहित परमात्मा में, मन्दबुद्धि वालों के उपासनाओं के लिये मायिक नाम रूप का वर्णन किया जाता है। अतः एक परमात्मा में मायिक नाना नाम रूप कल्पित सिद्ध होता है कि जिससे पुराण वाक्यों का विरोध निवृत्त हो जाता है।

वस्तुतः पुराण वाक्यों में विरोध शंका का मुख्य समाधान यह है कि विष्णु, गणेश, शिव, सूर्यादि ये सब शब्द, कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म दोनों के नाम हैं, जैसे माया विशिष्ट कारण को ब्रह्म कहते हैं, और हिरण्य गर्भ रूप कार्य को भी ब्रह्म कहते हैं, तैसे ही विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य, देवी ये पाँचों पद कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म दोनों के बोधक होते हैं, और इन पाँचों पदों के पर्याय ( समानार्थक ) जो नारायण, नीलकण्ठ, विघ्नेश, भानु, शक्ति, आदि पद हैं, सो भी कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म दोनों के बोधक हैं, परन्तु प्रसङ्ग के अनुसार कहीं कारण ब्रह्म के बोधक होते हैं, और कहीं कार्य ब्रह्म के बोधक होते हैं, जैसे सैंधव पद अश्व और लवण दोनों के वाचक होते भी भोजन के प्रसङ्ग में लवण का और गमन के प्रसङ्ग में अश्व का बोधक होता है, तैसे वैष्णव पुराणों में विष्णु नारायणादि पद कारण ब्रह्म के बोधक हैं, और शिव, गणेश, सूर्यादि पद कार्य ब्रह्म के बोधक हैं, अतः वैष्णव ग्रन्थों में विष्णु की स्तुति और शिवादि की निन्दा से व्यास का अभिप्राय प्रतीत होता है कि कारण ब्रह्म उपास्य है, कार्य ब्रह्म नहीं ।। १ ।। तैसे ही शैवग्रन्थों में शिवादि पद कारण ब्रह्म के

बोधक हैं, और विष्णु गणेशादि पद कार्य ब्रह्म के बोधक हैं। अतः कारण ब्रह्म की स्तुति है, और कार्य ब्रह्म की निन्दा है ॥ २ ॥ और गणेश पुराण में गणेशपद कारण ब्रह्म का बोधक है, विष्णु शिवादि पद कार्य ब्रह्म का बोधक है। अतः कारण की स्तुति और कार्य की निन्दा है। इसी प्रकार सौरादि सब पुराण का तात्पर्य है, अतः कार्य कारण की संज्ञा रूप संकेत का तो भेद है, किन्तु उपादेय, हेय अर्थ में भेद नहीं है। क्योंकि सर्वत्र कारण ब्रह्म की उपासना उपादेय (ग्राह्य) है। और कार्य की उपासना हेय ( त्याज्य ) है। अतः सब पुराण कारण ब्रह्म की उपासना के बोधक हैं, इससे उनमें विरोध नहीं है ॥

## ॥ मूर्ति प्रतिपादन का अभिप्राय वर्णन ॥

यद्यपि चतुर्भुज, त्रिनेत्र, सतुण्ड, अष्टभुज, आदि जो मायिक चेतन के विवर्त रूप कार्यात्मक मूर्तियाँ हैं, उनकी उपासना भी कही गई है, कारण ब्रह्म की ही नहीं। तथापि उन मूर्तियों का जो मायी ईश्वर कारण है, उसमें विचार से भेद नहीं है, अतः उन मूर्तियों को बाधित करके उनके द्वारा कारण की उपासना में ही तात्पर्य है। क्योंकि कार्य होने से आकार ( मूर्ति ) तुच्छ है, और कारण सत्य है। परन्तु जिस की मन्द बुद्धि आकार में ही स्थिर हो, सो शास्त्रोक्त आकार की उपासना करे कि जिससे बुद्धि की स्थिरता द्वारा फिर कारण ब्रह्म की उपासना में स्थिति होती है ॥

कारण ब्रह्म की उपासना इस रीति से कही गई है कि ब्रह्म सर्वज्ञ, सत्यकाम, सत्य संकल्प, सर्व प्रेरक, जगत् कर्ता, स्वतन्त्र और परम कृपालु है, इस प्रकार चिन्तन करे, मूर्तिचिन्तन में शास्त्र का तात्पर्य नहीं है, शास्त्र में अनेक मूर्तियों का वर्णन, उपासना=चिन्तना के लिये नहीं है, किन्तु कारण ब्रह्म की उपलक्षणा के लिये है, जो वस्तु जिसके एक देश में कदाचित् हो, और उसको अन्य से व्यावर्तक

( भेदक ) हो, उसको उपलक्षण कहते हैं। जैसे काकवाला देवदत्त का घर है" इस वाक्य में देवदत्त के घर का काक उपलक्षण है, क्योंकि घर के एक देश में कदाचित् रहता है, सदा नहीं। और अन्य घर ( गृह ) से देवदत्त के घर का व्यावर्तक होता है। तैसे ही जगत का कारण ब्रह्म है, उसके एक देश में कदाचित् चतुर्भुजादि मूर्तियाँ होती हैं, अतः व्यावर्तक होने में उपलक्षण होती हैं, और विशेष्य का ज्ञान कराना उपलक्षण का फल ( प्रयोजन ) होता है, जैसे काक द्वारा देवदत्त के घर का ज्ञान ही फल होता है अन्य नहीं, तैसे चतुर्भुजादि मूर्ति द्वारा निराकार ब्रह्म का ज्ञान कराना ही उपासनार्थक मूर्ति प्रतिपादन का फल है, अन्य नहीं।' और मन्दबुद्धि वाले इस शास्त्र के अभिप्राय को समझे बिना मूर्ति में आग्रह से खेद पाते हैं, क्योंकि श्याल सारमेय न्याय से परस्पर कलह करते हैं ( स्त्री के भाई को श्याल कहते हैं, और कुत्ते को सारमेय कहते हैं, और दृष्टान्त को न्याय कहते हैं ) किसी के साले का उत्फालक नाम था, और साले के शत्रु का धावक नाथ था। और उसके कुत्ते का भी धावक नाम था, दूसरे के कुत्ते का उत्फालक नाम था, तहाँ उन कुत्तों के लड़ने पर वह पुरुष उत्फालक कुत्ते को गाली देता था और अपने धावक कुत्ते की प्रशंसा करता था, तो उसके घर में प्रथम आई हुई स्त्री अपने भाई की गाली, और भाई के शत्रु की प्रशंसा ( स्तुति ) समझकर कलह करती थी।

जैसे तात्पर्य को समझने के विना तुल्य नाममात्र से भ्रम वश वह झगड़ा करती थी, तैसे ही वैष्णव ग्रन्थ में कार्य ब्रह्म की निन्दा की गई है, तहाँ शिवादि नाम की तुल्यता से शैव दुःखी होते हैं। और शैव ग्रन्थ में विष्णु आदि नाम द्वारा कार्य ब्रह्म की निन्दा की गई उसके अभिप्राय को समझने के विना वैष्णव दुःखी होते हैं। और वस्तुतः कारण ब्रह्म की उपास्यता, तथा कार्य ब्रह्म की त्याज्यता में सब पुराण का तात्पर्य है। और मायी (मायाविशिष्ट) चेतन कारण ब्रह्म है, मायाजन्य

कार्य विशिष्ट चेतन कार्य ब्रह्म है, यह अर्थ महाभारत की टीका के आरम्भ में लिखा है। और यही सब वेदान्त का सिद्धान्त है ॥

## ॥ उत्तरमीमांसा की प्रमाणता वर्णन ॥

**शुभसन्तति सुनि सुत के बैना। उपज्यो जिय में किञ्चित् चैना।६०।**
**पुनि तिन प्रश्न कियो निज पूतहि।**
**शास्त्र परस्पर कहत असूतहि ॥**

**टीका** = पुराणों के विरोध की शंका की निवृत्ति से किञ्चित् चैन (सुख) शुभसन्तन्ति को हुआ, पूर्ण सुख नहीं हुआ, क्योंकि शास्त्र भी परस्पर असूत (विरुद्ध) ही कहते हैं, अतः पुत्र के प्रति प्रश्न किया कि—

**तिन में सत्य कौन सो कहिये। जाको अर्थ बुद्धि में लहिये ॥६१॥**
**तर्क दृष्टि सुनि निज पितु वानी। बोल्यो वचन सु परम प्रमानी ॥**
**उत्तर मीमांसा उपदेशा। वेद विरुद्ध न जामें लेशा ॥६२॥**
**शास्त्र पञ्चते वेद विरुद्धम्। याते जानहु तिन हि अशुद्धम् ॥**
**किञ्चित् अंश वेद अनुसारी। लखि बहु गहत मन्द अधिकारी।६३।**

यद्यपि षट् शास्त्र के कर्ता सर्वज्ञ कहे जाते है, सांख्य के कर्ता कपिल १, योग शास्त्र के कर्ता शेषावतार पतञ्जलि २, न्याय के कर्ता गौतम ३, वैशेषिक के कर्ता कणाद ४, पूर्वमीमांसा के कर्ता जैमिनी, और उत्तर मीमांसा के कर्ता व्यास मुनि हुए हैं, और इन सबका माहात्म्य प्रसिद्ध है, अतः इनके वचन रूप सब शास्त्र भी तुल्य प्रमाण रूप मानने योग्य हैं, तथापि सब वाक्यों में प्रबल प्रमाण रूप वेद वाक्य है, क्योंकि वेद का कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर है, उसमें भ्रमसंशय विप्रलिप्सा (वञ्चकता) प्रमादादि दोषों का सम्भव नहीं है, और जीव स्वरूप शास्त्र कर्ताओं में भ्रमादि का सम्भव है। यद्यपि सब शास्त्र कर्ता सर्वज्ञ कहे जाते हैं। तथापि उनकी सर्वज्ञता योगमहात्म्य

जन्य थी। अतः शास्त्र कर्ता सब युञ्जान योगी थे, और ईश्वर की सर्वज्ञता स्वभाव सिद्ध होने के कारण ईश्वर युक्त योगी है। और ( युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ) चिन्तन करने से जिसको पदार्थ का ज्ञान हो, सो युञ्जान योगी कहा जाता है। और जिसको सदा सब पदार्थ का एकरस अपरोक्ष ज्ञान हो, सो युक्त योगी कहा जाता है, ऐसा ईश्वर ही है। अतः युक्त योगी ईश्वर कृत वेद प्रबल प्रमाण है। और युञ्जान कृत शास्त्र वचन दुर्बल हैं। और वेदानुसारी शास्त्र भी प्रमाण है, वेद विरुद्ध शास्त्र अप्रमाण है। और पाँच शास्त्र जैसे वेद विरुद्ध हैं, सो रीति शारीरक ( ब्रह्मसूत्र ) आदि ग्रन्थों में स्पष्ट है। और उत्तर मीमांसा किसी अंश में वेद विरुद्ध नहीं है, अतः प्रमाण है। अन्य शास्त्रो को किसी अंश में वेद अविरोधी देखकर मन्द बुद्धि वाले उनमें विश्वास करते हैं, परन्तु बहुत अंश में वेद विरुद्ध होने से त्याज्य हैं। यदि किसी अंश में वेदानुसारी होने से उपादेय ( ग्राह्य ) हों, तो जैन शास्त्र भी अहिंसा अंश में वेदानुसारी है, अतः उपादेय होना चाहिये, और वैदिकों से त्याज्य है, उपादेय नहीं। यद्यपि सुगत ( बुद्ध ) ईश्वर का अवतार हुए हैं, उनके वचन को वेद तुल्य प्रमाण मानना चाहिये। तथापि विप्रलिप्सा ( असुरो की वञ्चना ) के लिये बुद्धावतार हुवा है. अतः उनका वचन अप्रमाण ही है। और सर्वांश में वेदानुसारी उत्तर मीमांसा मुमुक्षु के लिये सर्वथा प्रमाण है, तथा उपादेय है। यद्यपि उत्तर मीमांसा व्यासजी कृत सूत्र रूप है, और उसका व्याख्यान भी अनेक महापुरुषों ने अनेक रीति से किया है। तथापि पूज्य चरणशंकर कृत व्याख्यान ही वेदानुसारी है, अन्य नहीं। यह अर्थ पञ्चमतरङ्ग में कहा गया है। अतः अन्य पाँच शास्त्र अप्रमाण हैं॥

॥ अन्यशास्त्र की त्याज्यता में दृष्टान्त और हेतु ॥

उक्त रीति से अन्य शास्त्र के अप्रमाण होते भी जो इस सप्तम तरङ्ग

में ही प्रथम सब शास्त्र को मोक्षोपयोगी कहा गया है, सो तर्क दृष्टि के सारग्राही दृष्टि से कहा गया है। जैसे किसी का शत्रु उसको तरवार से मारे, और तरवार के दैवयोग से रोग के स्थान में लगने से, वहाँ के रुधिर के निकल जाने से रोग निवृत्त हो जाय, तो वह सारग्राही पुरुष तरवार से मारने वाले का उपकार मान ले, तैसे अन्यशास्त्र की रीति से भी ध्यान विचारादि के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि निश्चलता द्वारा विवेकादि के होने पर वेद के अनुसार आत्मनिश्चय अनुभव करे, तो मोक्ष अवश्य होता है। परन्तु कोई अदृष्ट कुवासना कुसङ्गादि वश उनमें ही सर्वथा आग्रह करले तो अन्धगोलाङ्गूल न्याय से अनर्थ को प्राप्त होता है, अतः सबशास्त्रों को त्यागकर अद्वैत व्याख्यान रीति से उत्तर मीमांसा उपादेय है ॥

## ॥ अन्धगोलाङ्गूल न्याय प्रदर्शन ॥

किसी धनी के भूषणयुक्त पुत्र को चोर ले जायँ, और बन में उसके भूषणों को लेकर, तथा उसके नेत्रों को फोड़ कर, उस बालक को बन में ही छोड़कर चोर चले जायँ, फिर रोते हुए उस बालक को कोई निर्दय क्रूर वञ्चक मनुष्य, उन्मत्त बली साँढ़ के लाङ्गूल ( पूंछ ) को पकड़ा दे, और कह दे कि "तूं इसके पूंछ को नहीं छोड़ना, यही तुझे तेरे ग्राम में पहुँचा देगा" तहाँ वह दुःखी अबोध बालक उस वञ्चक के वचन में विश्वास करके अत्यन्त दुःखी और नष्ट होता है। तैसे ही विषय रूप चोर, विवेक रूप नेत्र को फोड़ कर संसार बन में अज्ञ जीव को फेकते हैं, छोड़ देते हैं, तहाँ भेदवादी ( रागद्वेषादि युक्त ) निर्दय वञ्चक, अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों में आग्रह कराते हैं। और कहते हैं कि "हमारा उपदेश ही तेरे परम सुख को प्राप्ति का हेतु होगा, इस उपदेश को कभी छोड़ना नहीं" फिर उनके वाक्य में विश्वास करके अविवेकी मनुष्य पुरुषार्थ सुख से रहित रहता है, और

फिर जन्म मरणादि रूप महा दुःखों को भोगता है, अतः अन्य शास्त्र त्याज्य हैं ॥

तर्क दृष्टि के वचन सुनि, शुभ सन्तति तिहि तात ।
संशय शोक नश्यो सकल, लह्यो हिए कुशलात ॥ ३० ॥
कारण ब्रह्म उपासना, करी बहुत चितलाय ।
तर्क दृष्टि निज लखि गुरू, राज समाज चढ़ाय ॥ ३१ ॥

**टीका**—तर्क दृष्टि के बचन सुनने से उसके तात ( पिता ) के सब संशय और शोक नष्ट हो गये, हृदय में कुशलता ( शान्ति, मिली ) यद्यपि तर्क दृष्टि पुत्र था, तथापि वह उत्तम उपदेश किया, अतः गुरु पदवी प्राप्त हुवा,[1] यह ब्रह्म-विद्या का महात्म्य है । और शुभ सन्तति ने बहुत मन लगा कर कारण ब्रह्म की उपासना की, और तर्क दृष्टि को अपना गुरु समझ कर राज समाज को भेट पूजा रूप में दे दिया ॥३१॥

कछुक व्यतीत्यो काल तब, तजि राजा निज प्राण ।
ब्रह्म लोक में सो गयो, मुनि जहँ जात सध्यान ॥ ३२ ॥

**टीका**—राजा के मरण के देश कालादि नहीं कहे गये हैं, उस का यह अभिप्राय है कि ब्रह्मोपासक के मरण में देश काल की अपेक्षा नहीं होती है । वह दिन में, या रात्रि में, दक्षिणायन में या उत्तरायण में, पवित्र भूमि वा अपवित्र भूमि में मरे, उपासना के बल से सर्वथा देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है । अदृष्टि के प्रसंग में जो प्रथम ( पहले ) देश काल की अपेक्षा कही गई है, सो योग सहित उपासक की बात कही गई है । केवल ईश्वर शरणागत उपासक को देश कालादि की अपेक्षा नहीं होती है, इस अर्थ का ब्रह्म सूत्रकार और भाष्यकार ने प्रतिपादन किया है ॥ ३२ ॥

---

१ एष वाव पिता यो मन्त्र कृदिति । ताण्ड्य ब्रा० १३। ३। २४ ॥

राज काज सब तब कियो, तर्क दृष्टि हुसियार ।
लग्यो न रञ्जक रङ्ग तिहि, लह्यो ब्रह्म निर्धार ।। ३३।।
अन्त भयो प्रारब्ध को, पायो निश्चल गेह ।
आतम परमातम मिल्यो, देह खेह में छेह ।। ३४ ।।

टीका=देह का खेह ( राख ) में छेह ( अन्त=नाश ) हुआ। और आत्मा ( कूटस्थ=जीव साक्षी ) का परमात्मा से अभेद हो गया। यद्यपि साक्षी का परमात्मा के साथ सदा अभेद रहता है, तथापि उपाधि कृत भेद रहता है, उपाधि के विलय से उसका भी अभाव होता है, परमात्मा से अभेद कहा है, उसका यह अभिप्राय है कि विदेह मुक्ति में ईश्वर के साथ अभेद होता है, शुद्ध ब्रह्म के साथ नहीं, यह अर्थ शारीरक भाष्य के चतुर्थ अध्याय में कहा गया है। तहाँ यह प्रसङ्ग है कि विदेह मुक्ति में जैमिनि के मतानुसार सत्य संकल्पादि की प्राप्ति होती है। और औडुलोमि के मतानुसार सत्य संकल्पादि की प्राप्ति नहीं होती है। और स्वसिद्धान्त के अनुसार सत्य संकल्पादि के भाव अभाव दोनों कहे गये हैं। उसका अभिप्राय है कि मुक्त का ईश्वर के साथ अभेद होता है। और ईश्वर के सत्य संकल्पादि का अन्य जीवों से मुक्तात्मा में व्यवहार ( कथन ) किया जाता है। और वह ईश्वर परमार्थ दृष्टि से शुद्ध ( निर्गुण ) है, उसमें कोई गुण ( काम-मोहादि ) नहीं है, अतः निर्गुण होने से सत्य संकल्पादि का ईश्वर के स्वरूप में वस्तुतः अभाव है। यद्यपि जीव भी संसार दशा में भी परमार्थ स्वरूप से निर्गुण और शुद्ध है, तथापि जीव को संसार दशा में अविद्या से स्व-स्वरूप में कर्तृत्व भोक्तृत्वादि की प्रतीति होती है, और ईश्वर को कभी भी निजात्मा वा अन्यात्मा में सत्य संसार की प्रतीति नहीं होती है, अतः ईश्वर सदा असङ्ग निर्गुण शुद्ध ही रहता है, अतः ईश्वर से जीव का विदेह मुक्ति में अभेद होता है, सो शुद्ध से ही अभेद होता है। और यदि ईश्वर से अभेद को शुद्ध ब्रह्म से अभेद नहीं माना जांय

तो, ईश्वर को कभी शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति होती नहीं है, क्योंकि जीव के समान ईश्वर को उपदेश जन्य ज्ञान और विदेह मोक्ष कभी होता नहीं हैं। और सदा प्राप्त उसका स्वरूप यदि शुद्ध नहीं हो, तो जीवों से भी हीन=न्यून सदा बद्ध ईश्वर है। यह सिद्ध होगा। अतः यह मानना योग्य है कि—ईश्वर को कभी अज्ञान जन्य आवरण नहीं रहता है। अतः उपदेश जन्य ज्ञान की अपेक्षा ( आवश्यकता ) नहीं रहती है। और आवरण के अभाव से भ्रान्ति नहीं होने के कारण ईश्वर नित्य-मुक्त सदा सर्वज्ञ रहता है। माया और उसके कार्य ईश्वर को आत्मा में नहीं प्रतीत होता है, अतः असङ्ग रहने से नित्य शुद्ध रहता है। इस रीति से ईश्वर से अभेद ही शुद्ध से अभेद है। और दृष्टान्त से भी ईश्वर से ही अभेद सिद्ध होता है, जैसे मठ में घट का अभाव ( ध्वंस ) हो तो मठाकाश में घटाकाश का लय होता है, महाकाश में नहीं, तैसे विद्वान् का शरीर ईश्वर कृत ब्रह्माण्ड में नष्ट होता है। और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर के शरीर रूप माया के अन्तर्गत है। और विद्वान् का आत्मा विदेह मोक्ष में ब्रह्माण्ड से बाहर गमन नहीं करता है, अतः ईश्वर से अभेद होता है। परन्तु जिस मठाकाश से घटाकाश का अभेद होता है, सो मठाकाश महाकाश रूप ही है, तैसे जिस ईश्वर से मुक्त को अभेद होता है, सो ईश्वर शुद्ध ब्रह्म ही है, अतः शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति होती है ॥ ३३-३४ ॥

यह विचार सागर रच्यो, जामें रत्न[1] अनेक।
गोप्य वेद सिद्धान्त तैं, प्रगट लहत सविवेक ॥ ३५ ॥

---

१ यद्यपि स्वयं प्रकाश ब्रह्मात्मा एक ही रत्न इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है, तथापि औपाधिक भेद से कूटस्थ, जीव, ईश्वर, हिरण्यगर्भादि रत्नों का तथा साधन युक्त प्रत्यक्ष परोक्ष ज्ञानादि अनेक रत्नों का प्रतिपादन समझना चाहिये। सो सब विवेकी से प्राप्त करने योग्य हैं ॥ ३५ ॥

सांख्य न्याय में श्रम कियो, पढ़ि व्याकरण अशेष ।
पढ़े ग्रन्थ अद्वैत के, रह्यो न एकहुं शेष ॥ ३६ ॥

कठिन जु और निबन्ध हैं, जिन में मत के भेद ।
श्रम करि अवगाहन किये, निश्चल दास सवेद ॥ ३७ ॥

तिन यह भाषा ग्रन्थ किय, रञ्च न उपजी लाज ।
तामें यह इक हेतु है, दया[1] धर्म शिर ताज ॥ ३८ ॥

बिनु व्याकरण न पढ़ि सकै, ग्रन्थ संस्कृत मन्द ।
पढ़ै याहि अनयास ही, लहै सुपरमानन्द ॥ ३९ ॥

दिल्ली ते पश्चिम दिशा, कोश अठारह गाम ।
तामें यह पूरो भयो, किहडौली तिहि नाम ॥ ४० ॥

ज्ञानी[2] मुक्ति विदेह में, जासों होय अभेद ।
दादू आदू रूप सो, जाहि बखानत वेद ॥ ४१ ॥

---

१ दया सब धर्मों में श्रेष्ठ है, और पर दुःख निवारण की इच्छा प्रवृत्ति आदि को दया कहते हैं, तहाँ कठिन दुरूह संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययनादि में असमर्थ जिज्ञासु जन को श्रवणादि में कठिनाई थी, तज्जन्य दुःख था, उसकी निवृत्ति के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया है, इस से दया रूप धर्म के आचरण में कोई लाज का अवसर नहीं है, व्याकरण के बिना मन्द ( असंस्कृतज्ञ ) होने से जो संस्कृत में वर्तमान वेदान्त ग्रन्थ को नहीं पढ़ सकते हैं, सो भी इसको अनायास पढ़ेंगे, और परमानन्द पायगें, इस प्रकार यह दया सफल होगी ॥

२ विदेह मुक्ति अवस्था में ज्ञानी जिस ब्रह्म से अभिन्न होते हैं, उसी सर्वादि स्वरूप परम गुरु दादू सर्वदा वर्तमान हैं, जिसको वेद सर्वादि सत्य स्वरूप कहता है ॥

नाम रूप व्यभिचारि में, अनुगत एक अनूप ।
दादूं पद को लक्ष्य है, अस्ति भाति प्रिय रूप ॥ ४२ ॥

इति श्री विचारसागरे जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति वर्णनं नाम सप्तमस्तरङ्गः समाप्तः ॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

---

---

व्यभिचारी ( देश काल से परिच्छिन्न ) एक देशी अनित्य सब नाम रूप में अस्ति भाति प्रिय रूप से अनुगत ( व्यापक ) जो ब्रह्म है, सो दादू पद का लक्ष्य अर्थ है, और उक्त सर्वादि वाच्य अर्थ है। अतः अन्त में सगुण निर्गुण गुरु रूप से पर ब्रह्म का चिन्तन रूप मङ्गलाचरण पूर्वक मंगलमय ग्रन्थ समाप्त हुआ ॥